हिन्दी नाटक-साहित्य में संवाद-शिल्प का विकास

(आरम्भ से अब तक)

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डि० फिल् उपाधि हेतु प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

डॉ० रुद्रदेव

रीडर ~~प्रवक्ता~~, हिन्दी विभाग

प्रस्तुतकर्त्री

कु० अलका चतुर्वेदी

हिन्दी-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

१९९०-९३

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय 'हिन्दी नाटक-साहित्य में संवाद-शिल्प का विकास' है ।

हिन्दी नाटक साहित्य में शिल्प को लेकर निम्नलिखित प्रबंध प्राप्त होते हैं - । हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास - डॉ. सोमनाथ गुप्त, 2. हिंदी नाटक . उद्भव और विकास - डॉ. दशरथ ओझा, 3. हिंदी नाटक . साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन - डॉ वेदपाल खन्ना 'विमल', 4. हिन्दी नाटक साहित्य का विकासात्मक अध्ययन - डा. शांतिगोपाल पुरोहित, 5. आधुनिक हिंदी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन - डॉ. गणेशदत्त गौड़, 6. आधुनिक हिन्दी नाटक - डॉ. गिरीश रस्तोगी (संगीत के सन्दर्भ में विशेष अध्ययन), 7. नया हिन्दी नाटक - डॉ. सावित्री स्वरूप, 8. हिन्दी नाटकों की शिल्प-विधि - डॉ. गिरिजा सिंह ।

इनके अलावा नाट्य सिद्धान्त को लेकर तथा नाटक के विशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार वर्गीकरण करके भी कुछ प्रबन्ध लिखे गए हैं - 1. हिन्दी के पौराणिक नाटक - डॉ. देवर्षि सनाढ्य, 2. हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक - डॉ. दशरथ सिंह, 3. हिन्दी के समस्या नाटक - डॉ. मान्धाता ओझा, डॉ. विनय कुमार, 4. हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और विवेचन - डॉ. गिरीश रस्तोगी, 5. भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य - गोपीनाथ तिवारी, प्रसादयुगीन हिन्दी नाटक - डॉ. भगवती प्रसाद शुक्ल, 6. प्रसादोत्तर नाटक साहित्य - डॉ. विजय बापट, 7. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : विकास और शिल्प (शोध प्रबन्ध) - डॉ. विदुलागुप्ते । उपर्युक्त प्रबंधों में हिन्दी नाटकों का आरंभ से अन्त तक नाट्य साहित्य का सरसरी निगाह से विवेचन किया गया है ।

हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी माध्यमों में संवाद विषय पर कुछ न कुछ कार्य अवश्य हुआ है । परन्तु नाटक के सन्दर्भ में, विशेषकर हिन्दी नाटकों में संवाद-शिल्प के विकास का सूक्ष्म एवं विस्तृत दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में विनम्र प्रयत्न किया गया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध छः अध्यायों में विभाजित है -

प्रथम अध्याय में शिल्प की अवधारणा, शब्द की व्याख्या, शिल्प के तत्त्व, शिल्प और संवाद का संबंध, हिन्दी नाटकों की उत्पत्ति व विकास की परंपरा, नाटक के तत्त्व, संवाद के प्रकार, उद्देश्य, भेद आदि का विश्लेषण किया गया है । साहित्यकार के मन् में घटित होने वाली साहित्य-सृजन की प्रक्रिया के आलोक में जब शिल्पविधि की व्याख्या की जाती है तब इससे वे सभी विधियां व तरीके अभिप्रेत हैं जिनकी सहायता से साहित्यकार अपने भाव और विचार जगत का सम्पूर्ण एवं संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करता है । ये विधियां ही नाटक शिल्प अथवा कला के नाम से पुकारे जाते हैं । नाटक शिल्प के तत्त्वों के अन्तर्गत ही संवाद आते हैं जो शिल्प के अभिव्यक्ति का माध्यम है । संवादों के द्वारा ही कथानक का विकास, पात्रों को पाठक के नैकट्य का अनुभव कराने में सहायक होते हैं ।

दूसरे अध्याय में भारतेन्दु काल के नाटकों मे संवादों का सूक्ष्म रूप से अध्ययन किया गया है । पूर्व भारतेन्दुकाल का आरंभ 16वीं शताब्दी में होता है और यह 19वीं [illegible] तक चलता है । इस काल के नाटकों म सवाद का [illegible] के रूप में जनता के सामने प्रस्तुत किये गये हैं । सर्वप्रथम सवाद शैली में रचना स. 1670 के आस-पास मिलती है । पूर्व भारतेन्दु काल में मौलिक और अनुदित नाटकों की संख्या अधिक है । इस काल में प्रेम नाटक, आध्यात्मिक नाटक तथा लक्षण व लीलाओं से सम्बन्धित [illegible]कों पर जोर दिया गया है ।

तीसरे अध्याय - भारतेन्दुकालीन हिन्दी नाट्य-साहित्य में संवाद-शिल्प का विस्तृत अध्ययन किया गया है । इस अध्याय में तत्कालीन परिस्थितियां, [illegible] युग के नाटकों की परंपरा तथा युगीन नाटकों के संवादों पर दृष्टि डाली गयी है । इस युग का नाटककार हमारे नये सामाजिक और सांस्कृतिक जागरण का परिणाम है । इनकी मूल धारा राष्ट्रीय और जनवादी है । इसके पूर्वयुग के नाटकों में पद्यों की ही तूती बोलती थी लेकिन भारतेन्दु व उनके युगीन नाटककारों ने युग की नब्ज पहचानी और नाटक को जीवन से संबंधित कर दिया । सर्वप्रथम बाबू हरिश्चन्द्र ने नाटक में जीवन और जीवन में नाटक तलाशने की चेष्टा की । इस युग में तीन वर्ग के नाटक लिखे गये - मौलिक, अनुदित व रूपान्तरित । नाटककारों ने अपने नाटकों के संवादों का माध्यम पौराणिक, एतिहासिक, राजनीतिक, प्रहसन आदि को बनाया है । अधिकांश नाटकों का अन्त मृत्यु, दुःख, शोक और प्रायश्चित के वातावरण में हुआ है । इस काल का निर्धारण 1850 ई. से 1900 ई. तक किया गया है । 1900 से 1910 ई. तक का समय नाटकों का ह्रासकाल माना गया है क्योंकि नाटकों

की अपेक्षा उपन्यासों की पूछ ज्यादा थी जबकि इस समय तक काव्य में प्रयुक्त संवादों के पद्य पक्ष का स्थान गद्य ने बड़ी ही निर्भीकता से ग्रहण कर लिया था ।

चौथा अध्याय - प्रसाद-युग (1910-1933 ई.) से सम्बन्धित नाटकों के संवादों से संबंधित है । प्रसाद-युग सब प्रकार से जनजागृति का युग था । इस युग के लेखकों पर पश्चिमी नाटकों की अभिनय कला अपनी नवीन मोहनी शक्ति का जादू डाल रही थी अर्थात् नाटककारों ने भी विभिन्न भाषाओं के नाटकों का अनुवाद करके हिन्दी नाट्य साहित्य में शक्ति का संचार किया । नव-युग-प्रवर्तक भारतेन्दु जी का प्राचीनता के प्रतिनिधि रूप मे अभी भी वर्चस्व था । ऐसे संधिकाल में प्रसाद जी ने समन्वयात्मक शैली का अनुगमन करके साहित्य सृजन का कार्य प्रारंभ किया । इस युग के नाटककारों ने प्रसाद जी का पूर्णत अनुकरण अपनी लेखनी में किया । नवीन नाट्य शैली, नूतन-संवाद योजना, वैयक्तिक गुण सम्पन्न चरित्र सृष्टि, सांस्कृतिक उत्थान की प्रखर भावना आदि उनके स्वतंत्र विचारणा एवं [illegible]नना के परिचायक हैं । प्रसाद-युग का समय सन् 1910 से 1933 तक माना गया है । इस युग में भी ऐतिहासिक, पौराणिक, कल्पनाश्रित (प्रहसन, सामाजिक) और अनुदित नाटक लिखे गये । प्रसाद-युगीन नाटकों में कथानक संवाद पर आधारित रहता है । क्रिया-व्यापार ओर नाटक की गत्यात्मकता का आधार भी संवाद ही है । इस युगीन नाटकों में चरित्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं को संवाद द्वारा ही उद्घाटित किया जा सकता है । प्रसाद के नाटकों को दो कालों में बांटा गया है - प्रयोगकाल व प्रौढ़काल । प्रसाद जी की प्रारंभिक संवाद-योजना और उत्तरार्द्ध के नाटकों की संवाद-योजना में बहुत अन्तर है । प्रसाद के प्रयोगकालीन नाटकों में अन्य नाटकीय तत्त्वों की भांति संवाद भी अव्यावहारिक और कृत्रिम है । प्रसाद ने संस्कृति की रूढ़िवादी संवाद-योजना का अनुकरण किया है, किन्तु उत्तरार्द्ध के नाटकों के संवादों में परिपक्वता आ गई है । 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' नाटकों के कथा के विकास में संवाद-योजना का वैभव परिलक्षित है । इस युग के नाटककारों में भी संवाद-योजना की दृष्टि से विकास होता गया है । नाटकों के संवादों में भावात्मकता, कल्पना और कवित्व अधिक है । इस युग के संवादों में एक गरिमा है । वे शास्त्रीय नाटकों के संवादों से हटकर हैं, उनमें स्वाभाविकता है । नाटकीय संवादों में मानव जीवन की चरित्रगत अनुभूतियां आवेष्टित हैं जो मनुष्य के सामान्य और सहज जीवन से जुड़ी हैं ।

पांचवां अध्याय प्रसादोत्तरकाल के नाटकों के संवादों पर आधारित है । इस अध्याय

में काल-निर्णय (1933-1977 तक), तत्कालीन परिस्थितियां, इस युग के नाटकों के संवाद आदि पर सूक्ष्म विवेचन है । स्वतंत्रता के बाद आधुनिक भारत की सस्कृति के निर्माण में राष्ट्रीय भावना वस्तुतः धुरी का काम करती रही है । सांस्कृतिक जागरण स्वयं राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति है । आधुनिक भारत के निर्माण में चार शक्तियां कार्य कर रही थीं - विज्ञान, औद्योगिक और आर्थिक व्यवस्था, राष्ट्रीयता तथा जनतंत्रीय भावना । प्रसादोत्तर काल में भी ऐतिहासिक, पौराणिक व कल्पनाश्रित नाटक लिखे गए । इस युग में रोमेंटिक प्रभाव का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया तथा यथार्थवादी जीवनदृष्टि का अधिकाधिक विस्तार हुआ । यथार्थवादी नाटककारों का प्रभाव बड़ा सपाट और सतही था - कारण वह यहां की जमीन से बड़ा कटा-कटा था । वैसे इस युग में अधिकांश नाटकों की मूल प्रवृत्ति समस्या नाटकों की है क्योंकि समस्या नाटक का सृजन नवीन यथार्थवाद से प्रेरित बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि सापेक्ष होने के कारण इसका अनुवर्ती परिणाम यह होता है कि नाटक विधान में तर्क-वितर्कमूलक संवाद के माध्यम से विषय की व्याख्या करने की प्रवृत्ति अधिक आ जाती है । प्रसाद के समय में नाटक और रंगमंच के बीच एक खाई का निर्माण हो रहा था जिसे प्रसादोत्तर काल के नाटककारों ने पाटने का कार्य किया । आधुनिक नाटकों के संवादों से वर्तमान परिस्थितियों का चित्रण परिलक्षित होता है । हिन्दी नाटक ने अपनी निरर्थकता और कलाहीनता के घेरे को तोड़कर उल्लेखनीय सर्जनात्मक स्तर प्राप्त करने की दिशा में कदम बढ़ाया है । नये लेखकों ने आगे चलकर नया नाटक लिखकर पुरानी परम्पराओं का निर्वाह न कर नूतन परम्पराओं का प्रवर्तन किया है जो सामाजिक सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित, व्यक्तिवादी चेतना से अनुप्राणित और राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित है । 'नया नाटक' के अनुष्ठान में नाटककार अपने कथ्य का बोध कराने के लिए सांकेतिक भाषा, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक समसामयिक घटना का सहारा लेता है । नये नाटकों में संवादों की भाषा का परिमार्जित होना बहुत जरूरी है जिससे वे अधिक प्रभावशाली बन सकते हैं ।

शोध का छठवाँ अध्याय एकांकी नाटकों में संवाद पर आधारित है । हिन्दी का एकांकी साहित्य पाश्चात्य परम्परा के सानिध्य में विकसित हुआ है । इसका जन्म बीसवीं शताब्दी माना जाता है । 'बादल की मृत्यु' डॉ. रामकुमार वर्मा कृत हिन्दी का प्रथम एकांकी माना जाता है । एकांकी के भी विभिन्न रूप पाये जाते हैं - धार्मिक तथा सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, प्रचारात्मक इत्यादि । एकांकी नाटकों में नाटककार संवादों की भाषा-शैली के प्रति बहुत जागरूक है । इनके संवादों की भाषा वातावरण एवं पात्रों के अनुरूप है । इन नाटकों के संवादों को अभिनेता सरलता से बोल सकता है, संवादों में

छोटे-छोटे वाक्य है, जिनमें पर्याप्त गति है, प्रवाह है ।भावावेश के क्षणों के संवादों में एक विचित्र काव्यात्मक तरलता और लयपूर्णता है । एकांकी नाटकों को भी काल के अनुसार बांटा गया है । इसी अध्याय में एकांकी का ही एक नया रूप रेडियो नाटक है जिसका आधार ध्वनि है, बस इसी के माध्यम से चरित्रों का उन्मीलन तथा प्रभाव की अन्विति सम्पन्न होती है । वैसे रेडियो नाटक के व्यापक उपकरण - भाषा, ध्वनि प्रभाव तथा संगीत है । भाषा का प्रयोग संवाद में होता है और किसी व्यक्ति द्वारा वर्णनात्मक अंशों के लिए भी । जो बातें संवादों द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती उनको वर्णन से पूरा कर लिया जाता है । 25 वर्षों में ही बहुत बड़ी संख्या में रेडियो नाटक लिखे गए हैं ।

अन्त में सभी अध्यायों का विश्लेषण उपसंहार में किया गया है । जब-जब समाज में विकृतियां हुई हैं तब-तब साहित्यकारों ने अपनी कलम का सदुपयोग किया है । साहित्य हमारे सांस्कृतिक जीवन की रक्षा का एक साधन है । उसी के द्वारा युग-प्रवृत्तियों की मांग और उनकी पूर्ति की सर्वांगीण रक्षा होती है । साहित्य के अन्य अंगों की भांति 'नाटक' की भी अपनी विशेषताए हैं । आदर्श नाटकों में वस्तु, पात्र और रस इन सभी कलात्मक लक्षणों का होना अतिआवश्यक है । भारतेन्दु जी के पूर्व हिन्दी नाटकों के संवादों में मुख्यतः भक्तियुग की लोकनाट्य परंपराएं - स्वांग, रासलीला, रामलीला - वर्तमान थीं । भारतेन्दुकालीन नाटककारों ने अपने नाटकों में उस संवाद शैली को अपनाया जो देश काल के अनुसार परिवर्तन और परिवर्द्धन की शक्ति और क्षमता रखती है । प्रसाद युग के नाटकों पर तत्कालीन युग का अमिट प्रभाव है । उनके नाटकों के संवादों में उदात्त ध्येयवाद दृष्टिगोचर होता है तथा प्रेम-मनोविज्ञान के कई मनोज्ञ चित्र अंकित हुए हैं । प्रसादोत्तर हिन्दी नाटकों में भाव से विचार और विचार से सूक्ष्म संवेदनाओं के स्तर पर खोज हुई है । नये नाटकों में नाटककार अपने कथ्य का बोध कराने के लिए पात्रों के माध्यम से सांकेतिक भाषा, सामाजिक धार्मिक राजनैतिक संवादों का सहारा लेता है और संवादों में नये दृष्टिकोण का अनुमोदन किया गया है । पाश्चात्य नाट्य शिल्प के प्रभाव से संक्षिप्त और दीर्घ दोनों प्रकार के संलाप एकांकी नाटकों में लिखे गये हैं । हिन्दी नाटक में संवाद का सर्वाधिक महत्व है इसीलिये नाटककार संवादों का विशेष रूप से ध्यान रखते हैं । नाटककार मानव जीवन का शाश्वत साथी है जो अपने भावों की अभिव्यक्ति संवादों द्वारा नाटक में करता है ।

प्रस्तुत प्रबंध में अध्यायों का विभाजन काल-क्रम के आधार पर किया गया है तथा

प्रमुख नाटककारों के नाटकों का संवाद लिया गया है फिर भी विस्तारभय से एक ही प्रवृत्ति के अनेक नाटकों के संवाद प्रायः छोड़ दिये गए हैं । उनका केवल सन्दर्भ यथास्थान दे दिया गया है ।

सन् 1990 में स्वीकृत इस प्रबन्ध के लेखन में पद्मभूषण एकांकी नाटककार श्रद्धेय डॉ. रामकुमार वर्मा जी मेरे निर्देशक रहे हैं । लेकिन यह मेरा दुर्भाग्य था कि समय से पहले ही वह हमलोगों को सदा के लिये छोड़कर चले गये । उनका 5.10.1990 को स्वर्गवास हो गया । डॉ. वर्मा जी ने मुझे नाटक में जीवन और जीवन में नाटक तलाशने की प्रेरणा दी । सन् 1991 ई. से प्रस्तुत शोध-निबंध डॉ. रूददेव के निर्देशन में लिखा गया है । उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करती हूं, जिनके सत्प्रयास, सविधि निदेर्शन एवं सतत् प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप ही यह महान कार्य पूर्ण हो सका है । उनके प्रति कृतज्ञता किन शब्दों में प्रकट करूं, मैं असमर्थ हूं । विभागाध्यक्ष के साथ-साथ मैं विभाग के अन्य सभी गुरूजनों की आभारी हूं जिन्होंने मुझे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से यह कार्य सम्पन्न करने का बल प्रदान किया । प्रबंध लेखन में डॉ. माताबदल जायसवाल, डॉ. आशा गुप्ता, डा. दूधनाथ सिंह आदि साहित्यकारों ने अनेकविध सहायता प्रदान की थी । इन सभी के प्रति मैं श्रद्धावनत हूं । प्रबंध की सामग्री संकलित करने में इलाहाबाद विश्वविद्यालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, शुकदेवानन्द डिग्री कॉलेज, शाहजहांपुर, के पुस्तकालयों से सहायता प्राप्त हुई है । मैं इन समस्त पुस्तकालयों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों की अनुगृहीत हूं, जिन्होंने अनेक दुर्लभ ग्रंथ सुलभ कराये । इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग की प्रो. डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा का स्नेहपूर्ण प्रोत्साहन सदा ही मिलता रहा है - उनके प्रति प्रणति निवेदित है । परिवार में पूजनीया माता जी श्रीमती राका चतुर्वेदी जिनकी प्रेरणा से शोध-प्रबन्ध लिखने की इच्छा हुई, अत्यन्त नतमस्तक हूं । श्री उ[illegible]न्द्र साह जिन्होंने इस शोध का टंकण किया उनको भी धन्यवाद देती हूं । स्वामी चिन्मयानन्द सरस्वती (सांसद) जिनके स्नेह, सहानुभूति, सहयोग और सहायता के बिना शायद यह कार्य इस रूप में पूरा न हो पाता - उनके प्रति मैं हार्दिक श्रद्धा व्यक्त करती हूं, उनकी आभारी तो सदा रहूंगी ही ।

(सुश्री अलका चतुर्वेदी)

विषय - सूची

अध्याय -प्रथम

शिल्प की अवधारणा

साहित्य का मूल्यांकन सदा इसके स्वरूप और लक्ष्य को ध्यान में रखकर किया जाता है । साहित्य का स्वरूप बाहरी आकार-प्रकार से सम्बन्ध रखता है जबकि इसके लक्ष्य का सम्बन्ध इसके आधार, इसके अभिप्रेत एवं आन्तरिक प्रकृति से है । इस प्रकार स्वरूप और लक्ष्य अथवा आकृति और प्रकृति -- ये ही दो पहलू हैं जिनके अध्ययन से किसी भी साहित्यिक रचना का मूल्यांकन किया जाता है । किन्तु यहां उल्लेखनीय है कि साहित्य का बाह्य और आन्तरिक दृष्टिकोण से किया गया यह विभाजन, मुख्यतः साहित्य के मूल्यांकन की सुविधा के लिए किया जाता है । शिल्प-विधि की दृष्टि से यह विभाजन कृत्रिम है क्योंकि यह दोनों पहलू साहित्य की शिल्प विधि में अपना पार्थक्य खोकर एक रूप हो जाते हैं । साहित्य की शिल्प विधि इसकी बाहरी रूप-योजना और भीतरी लक्ष्य साधना से संबंध रखती है, इसलिए जब हम साहित्य की शिल्प विधि पर विचार करने लगते हैं तो स्वरूप और लक्ष्य; आकृति तथा प्रकृति का भेद बनाये रखना अनुचित है ।

शिल्प शब्द की व्याख्या या तर्क :- शिल्प विधि का शाब्दिक अर्थ है किसी चीज के बनाने या रचने का ढंग अथवा तरीका । किसी वस्तु को रचने की जो-जो विधियां अथवा प्रक्रियायें होती हैं उनके समुच्चय को शिल्पविधि के नाम से पुकारा जाता है । सरल भाषा में यदि कहा जाय तो शिल्प से अभिप्राय हाथ से कोई वस्तु तैयार करने अथवा दस्तकारी या कारीगरी से है।[1] साहित्य अथवा कला के सन्दर्भ में प्रयुक्त होने से शिल्प-विधि का अर्थ हो जाता है साहित्यिक कृति अथवा कलात्मक वस्तु के रचने का तरीका या ढंग । कला की रचना में जिन तरीकों, रीतियों और विधियों का उपयोग किया जाता है, वे ही उस कला की शिल्प विधि के नाम से पुकारी जाती है । अपनी मनोग्रस्त भावनाओं को रूपायित करने के लिए कलाकार जो विधि, ढंग या तरीका अपनाता है, वही रूपायन-विधि उस कला की शिल्प-विधि के नाम से प्रख्यात हो जाती है ।

शिल्प विधि की शब्द व्याख्या जितनी सरल प्रतीत होती है, उतनी उसके वास्तविक स्वरूप की व्याख्या सरल नहीं है । शिल्प-विधि की शाब्दिक व्याख्या के अन्तर्गत इसके अलग-अलग शब्दों का अर्थ देने से काम चल जाता है । जब इन शब्दों क यथार्थ अभिप्रेत एवं पारस्परिक संबंध को ध्यान में रखकर शिल्पविधि का वास्तविक स्वरूप स्थिर करना पड़ता है, तब कठिनाई उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती । शिल्प विधि की स्वरूप व्याख्या संबंधी उपर्युक्त कठिनाई का पता हमें तभी चल जाता है जब हम साहित्य के विषय और स्वरूप के बारे में विचार करने लगते हैं । साहित्य के विषय और स्वरूप की परस्पर निर्भरता तथा दोनों की आपसी संबंध इतना गहरा है कि इस विषय पर विचार किये बिना हम विषय को आकार अथवा स्वरूप प्रदान करने के तरीके अर्थात् शिल्पविधि के बारे में विचार नहीं कर सकते । साहित्य के शिल्पविधि की स्वरूप-व्याख्या के पहले, साहित्य के आन्तरिक व बाह्य, दोनों रूपों की जानकारी प्राप्त करना परमावश्यक है ।

---

1. बृहत् हिन्दी कोश (ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस) पृष्ठ-1239, 1334 .

साहित्य :-

कला की परिभाषा करते हुए टालस्टाय ने कहा है--"**कला वह प्रक्रिया है जिसकी सहायता से कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति एवं मनोभाव दूसरों तक पहुंचाता है ।**"[1] इस प्रकार उन्होंने कला अथवा साहित्य की परिभाषा में मनोभावों को आधार बनाकर इन्हें दूसरों तक पहुंचाने में कलाकार अथवा साहित्यकार की सिद्धि देखी है । इस अर्थ में कला अथवा साहित्य भाव-प्रेषण का साधन मात्र है, जबकि साध्य है मनोभावों को दूसरों तक पहुंचाना । मानव अपनी तरह-तरह की मनोभावों को अभिव्यक्त करने और उन्हें दूसरों तक पहुंचाने का जब प्रयास करता है, तब वह कलाकार बन जाता है । कला अथवा साहित्य का आधार मनोभाव होने के कारण कला एवं साहित्य का भण्डार अक्षय माना गया है । मार्गरेट केरी ने कहा है--"**सबसे पहली बात तो यही है कि कला की सामग्री अक्षय है, क्योंकि कला की सामग्री की कोई भौतिक पदार्थ न होकर मनोभाव एवं अनुभूतियां हैं । कलाकार भौतिक पदार्थ का सृजनकर, प्रतीकों के सहारे अनुभूतियों और मनोभावनाओं को जगाता है ।** "[2] प्रत्येक कला चाहे वह मूर्तिकला हो या चित्रकला, संगीत हो या नृत्य अथवा काव्य हो या नाटक, अपने-अपने ढंग और अपने-अपने माध्यम से कलाकार की अनुभूति और मनोभावों को अभिव्यवत करने तथा इन्हें दूसरों तक पहुंचाने का प्रयत्न करती है ।

साहित्य का स्वरूप :-

साहित्य के क्षेत्र में मनोभावों की जो व्यापकता और लोकप्रियता रही है उसके प्रभाव एवं प्रचार-प्रसार का स्वरूप भी बहुत विस्तृत रहा है । भारतीय साहित्यकारों व कलाकारों ने अपनी कृतियों में समान रूप से उसके अस्तित्व को स्वीकार किया । वैसे भी कला की कहानी मानव, जीवन के इतिहास के साथ ही आरम्भ हुई । मनुष्य की उदयवेला के साथ ही उसका भी उदय हुआ और जैसे-जैसे मनुष्य ने अपना विकास किया वैसे-वैसे कला का क्षेत्र भी बढ़ा ।मनुष्य ने धीरे-धीरे सभ्यता के क्षेत्र में जो प्रगति की कला के ये अवशेष उसी के साक्षी हैं । वस्तुतः साहित्य के विकास की यह कहानी प्रकारान्तर से मनुष्य के विकास की कहानी है ।

मानव की अनुभूतियां, भाव एवं आदर्श, प्रत्येक युगानुसार बदलते रहते हैं, इस कारण कला को भी नया क्षेत्र, नयी सामग्री और नये विषय मिलते रहते हैं । तभी तो साहित्य और कला के भण्डार को निःसीय तथा अक्षय कहा गया है । किसी भी साहित्यकार की रचना का बाहरी रूप अथवा भाषागत परिधान जितना सुन्दर होगा उसमें मनोभावों को दूसरों तक पहुंचाने के लिए की उतनी ही अधिक क्षमता उत्पन्न हो जाएगी क्योंकि रचना का मूलाधार मनोभाव है और उन्हें दूसरों तक पहुंचाने के लिए साहित्यकार के पास भाषा ही एकमेव साधन है । टालस्टाय ने कला अथवा साहित्य के बाहरी रूप अथवा कलेवर को बहुत महत्व दिया है । उन्होंने कलाकृति की उत्कृष्टता की कसौटी निर्धारित करते हुए कला के बाहरी रूप को इसका आधार तक बना डाला

1- Art is an activity by means of which one man Living experienced a felling intentionally transmits it to others - Count Leotolstoy -- what is Art Oxford University Press P. 61

2- Margaret willy Joyce Cary Literature and Life :- P. 35.

है । उनका कहना है--"**जब तक कला का रूप उपयुक्त न होगा, तब तक कोई भी कहानी, गीत, लय, चित, मूर्ति, नृत्य, नाटक अथवा आभूषण और इमारत अपने रचयिता के मनोभावों को दर्शकों तक पहुंचाने में असमर्थ रहेगी । किसी वस्तु की कलात्मकता उसके बाहरी रूप पर ही निर्भर है ।**[1] " साहित्य का बाहरी रूप इसी अन्तरात्मा को प्रतिबिम्बित करने के लिए रचा जाता है । साहित्य के बाहृय रूप को महत्वपूर्ण बताते हुए श्री विलियम वानओ कानर निराकार को साकार करने की बात कहने लगते हैं । विचार एवं मनोभाव अपनी सूक्ष्मता छोड़कर मूर्तरूप तभी धारण करते हैं, जब इनका बाहृय कलेवर निर्मित किया जाता है । प्रश्न यह उठता है कि साहित्य का निर्धारण, अंततः साहित्य के विषय के अनुसार तो नहीं होता ?-- अर्थात् साहित्य का रूप साहित्य के विषय पर निर्भर है या नहीं ? इस पर थोड़ा विचार करते ही यह बात ध्यान में आ जाएंगी कि साहित्य का रूप, साहित्य के विषय का अनुगामी है । यहां पर बान-ओ-कानर की यह उक्ति उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा कि "**रूप तो विचार का बाहरी परिधान है, इसलिए प्रकट है कि यह रूप जितना ही विचारानुकुल होगा, उतना ही यह उत्कृष्ट भी होगा ।**[2] "साहित्य के विषय पर साहित्य के बाहरी रूप भी उपर्युक्त निर्भरता का और विश्लेषण करते हुए श्री मैकेजी ने कहा है--"**रूप कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे विषय के साथ बलात् जोड़ा जा सके । यह तो उसका अभिन्न अंग है जो विषय की पूरी जानकारी देने के अतिरिक्त, इसके गुढ़तम अर्थ को भी प्रकट करता है । विषय को किसी अन्य रूप में प्रस्तुत करने का अर्थ है, इसे छिपाना अथवा कोई सर्वथा भिन्न चीज दिखाना ।**[3] " अर्थात् जीवन की जितनी छवियां, पक्ष-प्रतिपक्ष, परिप्रेक्ष्य और परिपार्श्व है या हो सकते हैं उनकी उतनी ही व्याख्याएं हैं । अमूर्त को मूर्त, मूक को सवाक् और निराकार को साकार बनाने का काम शिल्पविधि का है । शिल्प विधि के इस दायित्व की दृष्टि से श्री वान-ओ-कानर ने शिल्पविधि की व्याख्या करते हुऐ कहा भी है--"**कोरी अनुभूति और रूपायित अनुभूति अथवा कला में जो अन्तर है वह शिल्पविधि के कारण ही है ।**" [4]

1. Unless the form be adequate no story, no song or tune or picture or statue, or dance or play, ornament or building can convey its creator's feelings to its audience or spectators whether a thing is a work of art or not depends upon its form - Count Leo Tolstoy - What is Art - P. 101
2. Form is the objective of idea and its excellence it would seem depends upon its appropriateness to the idea William Van O Connor - Forms of Fiction Confort university press - 1948 - P. 7 /
3. Form is not an arbitrary addition to content but an important and inseparable part of its that gives the temporal, spatial and causal relations which effect the concurrent factors of the content, and which may include some of its performdest signi- - ficance. To present the content in some other form show is not to present it at all but to something different. Agnesmure machenzie. The process of literature [George Allen Unwin Ltd - 1929] - P. 144.

साहित्य की व्याख्या :-

कला के अपने कुछ आधारभूत लक्षण हैं । जैसे जीवन के अपरिभाषित होने पर भी उसकी अपनी एक मौलिक पहचान है, इसी तरह से कला की पहचान भी सर्वमान्य है । **"कला शब्द अस्पष्ट, व्यापक या सूक्ष्म है, इसलिए उससे अधिक ठोस, स्पष्ट, व्याख्या सापेक्ष्य शब्द-शिल्प की इसी आधार पर उपयोगिता है जिसकी शिल्पविधि समझी जा सकती है ।**[1] " जब जीवन के कुछ सन्दर्भ पुराने पड़ जाते हैं तो नये सन्दर्भों की तलाश बदले हुए जीवन में से की जाती है । अतः यह कहना ठीक ही है कि **"जिजीविषा ही कला की एकमात्र कसौटी है ।**[2] "

मात्र आकार रूप रचना की दृष्टि से ही साहित्य का श्रेष्ठत्व सिद्ध नहीं हो सकता है । " सुगठित पुस्तक में विषय तथा रूप एकाकार तथा अभिन्न हो जाते हैं ।[3] " अर्थात् शिल्प शब्द अस्पष्ट है । जिस प्रकार पवन सर्वत्र व्याप्त होता है किन्तु उसका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता, उसी प्रकार इसका भी प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता है । दर्शन, चिन्तन तथा विषय वस्तु शिल्प के माध्यम से ही व्यक्त होते हैं । हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री जैनेन्द्र कुमार ने शिल्पविधि और कलाकृति की रचना के नियमों को समानार्थक मानकर शिल्प-विधि की व्याख्या की है । उनका कथन है--**"टेकनीक उस ढांचे के नियमों का नाम है । पर ढांचे की जानकारी की उपयोगिता इसी में है कि** वह **सजीव मनुष्य के जीवन में काम आए । वैसे ही 'टेकनीक' साहित्य-सृजन में योग देने के लिए है ।**[4] " इस व्याख्या से शिल्पविधि का रचना-विधि से जोड़ने के अतिरिक्त, इसके अन्य पहलुओं का उद्घाटन नहीं होता । यही बात श्री कैम्पवेल उबलडे की व्याख्या से भी प्रकट होती है । उन्होंने शिल्प-विधि की व्याख्या इन शब्दों में की है--**"अच्छे टेकनीक का अर्थ है सही बात, सही ढंग से, उपयुक्त समय पर करना । वही विषय चुनो जो तुम्हे रूचे और तब ऐसी शैली एवं टेकनीक चुनो जिसके सहारे वह विषय पाठकों तक मार्मिक ढंग से पहुंचाया जा सके ।"**[5]

Content or art is the technique - Van'O Conner 'Forms of Fiction - P. 9 /

1- The craft of the Fiction (Percy Lubbock, Preface - P. V. /

2. हृषीकेश- दे. नयी कहानी सन्दर्भ और प्रकृति (सं. डॉ. देवीशंकर अवस्थी, पृ. 79)

3. The well made book is the book in which the subject and the form coincide and are indistinguishable.— पर्सी लुब्बाक : दी क्राफ्ट ऑफ फिक्शन ' 1960, लंदन पुन: मुद्रित तथा प्रकाशित।

4- जैनेन्द्र कुमार - 'साहित्य का श्रेय और प्रेम - पृ. 370 /

5- The whole intricate question of method in the craft of fiction. I take to be governed by the question of the point of view, the question Lubbock - The craft of fiction - eleven Gower street London - 1921) - P. 251/

सारांश यह है कि उन्होंने भी शिल्पविधि की ऊपरी एवं साधारण व्याख्या की है ।

साहित्यकार के मन में घटित होने वाली साहित्य-सृजन की प्रक्रिया के आलोक में जब शिल्पविधि की व्याख्या की जाती है तब इससे वे सभी विधियां एवं तरीके अभिप्रेत है जिनकी सहायता से साहित्यकार अपने भाव और विचार-जगत का सम्पूर्ण एवं संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करता है । साहित्यकार के मन में घटित होने वाली इस आन्तरिक प्रक्रिया को महत्व देते हुए श्री वान ओ कानर ने शिल्पविधि की व्याख्या इन शब्दों में की है--" **टेकनीक ही वह माध्यम है जिसके कारण साहित्यकार की अनुभूति, जो साहित्य का विषय है, उसे इसकी और ध्यान देने के लिए मजबूर करती है । उसके पास टेकनीक ही, ऐसा साधन** है **जिसकी सहायता से वह अपने विषय की खोज, जांच-पड़ताल और विकास कर सकता है तथा इसका अर्थ समझाते हुए इसका मूल्यांकन कर** सकता है ।[1] "

श्री वान-ओ-कानर उपर्युक्त दृष्टि से शिल्प की व्याख्या करके संतोष नहीं कर लेते, अपितु वे इसी व्याख्या के आधार पर साहित्य की उत्कृष्टता की कसौटी निर्धारित करते हुए कहते हैं--
" **जो साहित्यकार अपने विषय की अत्यधिक शिल्पिक जांच-पड़ताल करने की क्षमता रखता है वही ऐसे समृद्ध साहित्य को जन्म दे सकेगा जिसका विषय अत्यधिक संतोषजनक** होगा **और जिसमें भरपूर अर्थगाम्भीर्य होगा** ।[2] " श्री वान ओ कानर की व्याख्या प्रचलित धारणा से अधिक आगे बढ़कर मनन एव विश्लेषण द्वारा नयी-नयी सामग्री की खोज करने की ओर भी संकेत करती है । इस दृष्टि से शिल्पविधि, उपलब्ध सामग्री की खोज करने की ओर भी प्रवृत्त होती है । शिल्पविधि के आन्तरिक रूप की सहायता से जहां साहित्यकार मनन और विश्लेषण द्वारा अपने भाव-जगत का कोना-कोना खोजकर रचना सामग्री इकट्ठा करता है, वहां इसके बाह्य रूप की सहायता से वह इस रचना-सामग्री को रूपायित करता है । साहित्यकार की शिल्पविधि की सफलता उसके द्वारा निर्मित शब्दचित्र की स्पष्टता व सजीवता पर निर्भर है, इसलिए अपने मनोभावों और अनुभूतियों को चित्रित करने में उसे बहुत सतर्कता बरतनी पड़ती है । अतएव जो साहित्यकार अपनी रचना को रोचक एवं

---

1. For technique is the means by which the writers experience, which is the subject mater, compels him to attend to it. Techniq is the only means he has of discovering, exploring, developing his subject of conveying its meaning and finally of evaluati it: — Forms of Fiction - P. 9 /

2. The writer capable of the most exacting techinigal scrutiny of his subject matter will produce works with

आकर्षक बनाना चाहता है वह सर्वप्रथम अपने चित्र का धुंधलापन दूर इसमें अधिकाधिक सजीवता लाने का प्रयास करता है । शिल्पविधि के इस लक्ष्य को अधिक स्पष्ट करते हुए श्री लुबक ने कहा भी है--" **पुस्तक कोरे तथ्यों का संग्रह नहीं, यह तो सम्पूर्ण चित्र है । इन तथ्यों का महत्व तभी है जब इनकी सहायता से कोई चित्र खींचा जाय ।**[1] " इस प्रकार उन्होंने भी शिल्पविधि द्वारा साहित्यिक सामग्री के सही उपयोग पर बल दिया है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि शिल्पविधि ही एक ऐसा माध्यम है जिसके सहारे साहित्यकार आत्माभिव्यक्ति कर सकता है । साहित्यकार अपनी रचना के सृजन की प्रारंभिक अवस्था तक जिन नाना प्रकार की विधियों, रीतियों एवं प्रक्रियाओं को काम में लाता है, वह सभी विधियां और रीतियां शिल्पविधि के नाम से पुकारी जाती है । शिल्पविधि साहित्यकार को आत्माभिव्यक्ति के नैसर्गिक तरीके सुलभ कराती है । शिल्पविधि साधनमात्र है, साध्य तो है साहित्यकार के भाव जगत की अभिव्यक्ति, उसकी अनुभूतियों का रूपायन । अतएव इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए साहित्यकार जिन तरह-तरह की विधियों को प्रयोग में लाता है, उनके समुच्चय को हम शिल्पविधि कह सकते हैं ।

शिल्प के तत्त्व

साहित्य के अन्य रूपों की भांति ही **नाटक के** लिए **भी आकार,** रूप **तथा** रचना **की आवश्यकता होती है** । मात्र आकार, रूप रचना की दृष्टि से ही नाटक का श्रेष्ठत्व सिद्ध नहीं हो सकता बल्कि विषय वस्तु तथा शिल्प दोनों का ही समान महत्व होता है । नाटककार का दर्शन, चिन्तन तथा विषय-वस्तु शिल्प के माध्यम से ही व्यक्त होते हैं । साधारणतः नाटक में शिल्प को प्रधानता दी जाती है । पर, जब केवल शिल्प को, विधान को, नियमों को प्रधानता दी जाने लगती है, तब उसका मूल्य कम हो जाता है । एरिक बेन्टली इस समय अमेरिका में महान नाट्य-कृतियों के अभाव का कारण यही बतलाते हैं कि वहां नाट्य लेखन को केवल शिल्प समझा जाने लगा है । जिस प्रकार कथा-साहित्य शिल्प है, उसी प्रकार नाटक भी, पर यह उससे परे भी कुछ है ।[2] लेकिन शिल्प कुशलता है, जिसके द्वारा किसी वस्तु या कृति में सौन्दर्य सृष्टि होती है । शिल्पी लोहे, लकड़ी, पत्थर आदि की सुन्दर वस्तुएं निर्मित करता है ।

पृष्ठ-7 पर जारी

The most satis-, fying content works with thickness and resonance works which reverberate works with maximum meaning
— 'Form of Fiction' - P. 91

1- The 'books is not a raw of facts it is single image the facts have no realitity in themselves, they are nothing until they have been used." Percy Lubbock' — The craft of fiction - P. 62.

2- What is theater? by Eric Bently. P.P. 255-56/

हिन्दी में शिल्प शब्द का अर्थ है कारीगरी अर्थात् प्रस्तुत करना । अतः शिल्प के अन्तर्गत वे समस्त तत्त्व आ जाते हैं जो नाटक रूप का निर्माण करते हैं । वे तत्त्व क्या हैं ? लेथरोप ने शिल्प के निम्नलिखि तत्त्व बतलाये हैं--1. कथानक 2. चरित्र 3. कथोपकथन 4. परिप्रेक्ष्य 5. (क) शैली (ख) भाषा-शैली ।

एक अन्य तत्त्व भी है जो प्रत्यक्षतः शिल्प का अंग नहीं है किन्तु नाटक शिल्प को सर्वाधिक प्रभावित करता है । वह है लेखक का दर्शन अथवा दृष्टिकोण । मानव जीवन में नियति का स्थान महत्वपूर्ण है । नियति दृश्य तथा अदृश्य रूप में मानव से अनेक कृत्य करवाती है, वह अनेक घटनाओं की विधायिका होती है । नियति की भाँति ही नाटकों में दृष्टिकोण की स्थिति है ।

कालिंग वुड ने शिल्प की स्वरूप-व्याख्या पर प्रकाश डाला है--(1) शिल्प में साधन और साध्य में विभेद होता है--दोनों एक दूसरे से संबंधित होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं । जिन मशीनों का औजारों से कोई वस्तु बनती है, वे उस वस्तु से पृथक होते हैं । यदि काव्य का ही उदाहरण लें, तो इसमें साधन और साध्य क्या है ? कागज, कलम आदि को लेखन का साधन कह सकते हैं, काव्य का नहीं । कविता तो केवल मन में भी रची जाती है । जिस श्रम से किसी वस्तु का बनना सम्भव नहीं, लोहार, बढ़ई आदि केवल श्रम से कोई भी वस्तु नहीं बना सकते । तात्पर्य यह है कि शिल्प में उपस्थित साधन और साध्य का भेद होता है । (2) शिल्प में योजना और उसकी कार्यान्विति की बात रहती है । शिल्पी किसी वस्तु के निर्माण के पहले अपने मन में उसकी निश्चित रूप-रेखा बना लेता है, फिर उसे कार्य में परिणित करता है । कलाकार कभी-कभी भले ही किसी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार काम करता हो, पर सामान्यतः निर्माण की प्रक्रिया में ही रचना की रूप-रेखा निश्चित होती जाती है । (3) पूर्व निश्चित योजना के अनुसार काम करने में कृति का रूप पहले से ही निश्चित रहता है । (4) शिल्प में रूप और वस्तु का भेद होता है । वस्तु का तात्पर्य है कच्चा माल, जिससे कोई वस्तु एक निश्चित रूप ग्रहण करती है । कच्चे माल का कोई रूप अवश्य रहता है, पर यहां तैयार माल के रूप में उसका परिवर्तन होता है । यदि अनुभूति को कच्चा माल कहें, तो कोई शिल्पी केवल इच्छा से ही किसी वस्तु की रचना नहीं कर सकता, उसे किसी ठोस साधन की भी अपेक्षा होती है ।

शिल्प के तत्त्वों की व्याख्या कुछ साहित्यकार दो दृष्टिकोणों से करते हैं--आन्तरिक और बाह्य । आंतरिक से अर्थ है रचना संबंधी वे प्रक्रियाएं जो साहित्यकार के मन में घटित होती हैं, और बाह्य से तात्पर्य भाषा और शब्द योजना के उन तरीकों और विधियों से है जिनकी सहायता से साहित्यकार अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करता है । अतः इन दोनों दृष्टिकोणों का संबंध साहित्य-सृजन की उन अदृश्य प्रक्रियाओं से है जो साहित्यकार के मन में घटित होती है । इनमें से पहली प्रक्रिया प्रकट है और दूसरी अप्रकट ।

शिल्प के अप्रकट स्वरूप की व्याख्या :-

साहित्यकार के मन में घटित होने वाली साहित्य सृजन की प्रक्रिया मे आलोक में जब शिल्प के स्वरूप की व्याख्या की जाती है तब इससे वे सभी विधियां व तरीके अभिप्रेत हैं जिनकी सहायता से साहित्यकार अपने भाव और विचारजगत का सम्पूर्ण एवं संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करता है । शिल्प का यह अप्रकट रूप यद्यपि हमारी दृष्टि से ओझल रहता है तो भी इसका हम सहज में अनुमान लगा सकते हैं । श्री वान ओ कानर उपर्युक्त दृष्टि से शिल्प के स्वरूप की व्याख्या साहित्य की उत्कृष्टता की कसौटी निर्धारित करते हुए कहते हैं--**"जो साहित्यकार अपने विषय की अत्यधिक शिल्पिक जांच-पड़ताल करने की क्षमता रखता है वही ऐसे समृद्ध साहित्य को जन्म दे सकेगा जिसका विषय अत्यधिक संतोषजनक होगा और जिसमें भरपूर अर्थगाम्भीर्य होगा ।[1] "** इस प्रकार उन्होंने शिल्प के आन्तरिक स्वरूप की व्याख्या में शिल्पिक खोज, मनन एवं विश्लेषण को प्रमुखता देकर साहित्य-सृजन की अप्रकट एवं अनुमानगम्य विधियों को प्रकट करने का यत्न किया है । शिल्प के अप्रकट स्वरूप की व्याख्या इस कारण भी महत्वपूर्ण है क्योंकि शिल्प विधि से बहुधा साहित्य की रचना-सामग्री को इकट्ठा करने एवं इसे सुगठित रूप में प्रस्तुत करने का ही अभिप्राय निकाला जाता है । शिल्प उपलब्ध सामग्री की खोज करने की ओर भी प्रवृत्त होती है । पुरानी धारणाओं का अतिक्रमण करके, इसने शिल्प का क्षेत्र विस्तृत करने में पर्याप्त योग दिया है ।

शिल्प के प्रकट स्वरूप की व्याख्या :-

शिल्प के अप्रकट स्वरूप की व्याख्या का जितना अलक्ष्य एवं अनुमानगम्य है, उतना ही उसका प्रकट स्वरूप लक्ष्य एवं दृश्य है । इसका कारण यही है कि शिल्प विधि जब भाषा का परिधान धारण कर और लिपिबद्ध होकर हमारे सामने आती है तब यह अमूल्य का अलक्ष्य न रहकर सर्वथा मूर्त एवं साकार हो उठती है । शिल्प के अप्रकट रूप की सहायता से जहां साहित्यकार, मनन और विश्लेषण द्वारा अपने भाव-जगत का कोना-कोना खोजकर रचना सामग्री इकट्ठा करता है, वहां इसके प्रकट रूप की सहायता से वह रचना-सामग्री को रूपायित करता है । यदि देखा जाय तो, मनोभावों को रूपायित करना ही शिल्प का मुख्य लक्ष्य है । साहित्यकार की शिल्प की सफलता उसके द्वारा निर्मित शब्द चित्र की स्पष्टता व सजीवता पर निर्भर है, इसलिए अपने मनोभावों और अनुभूतियों को चित्रित करने में उसे बहुत सतर्कता बरतनी पड़ती है । श्री लुबक ने कहा भी है--**" पुस्तक कोई तथ्यों का संग्रह नहीं, यह तो सम्पूर्ण चित्र है । इन तथ्यों का महत्व भी है जबकि इनकी सहायता से कोई चित्र खींचा जाय ।[2] "**

---

1. The writer capable of the most exacting technical scrutiny of his subject matter will produce works with the most satisfying content works with thickness and resonance, works which reverberate works with maximum meaning - Forms of Fiction. - p. 9.

शिल्प के अप्रकट व प्रकट स्वरूपों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि शिल्प ही एक ऐसा माध्यम है जिसके सहारे साहित्यकार आत्माभिव्यक्ति कर सकता है । मनन एवं विश्लेषण द्वारा अपने भाव जगत का कोना-कोना झांककर जहां वह एक ओर साहित्यिक सामग्री की खोज और मूल्यांकन करता है, वहीं दूसरी ओर चयन एवं क्रम-निर्धारण द्वारा वह इस सामग्री को कलात्मक रूप देकर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है । शिल्प साहित्यकार को आत्माभिव्यक्ति के नैसर्गिक तरीके सुलभ कराती है । शिल्प साधनमात्र है, साध्य तो है साहित्यकार के भाव जगत की अभिव्यक्ति, उसकी अनुभूतियों का रूपायन । अतएव इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए साहित्यकार जिन तरह-तरह की विधियों को प्रयोग में लाता है उसके समुच्चय को ही हम शिल्प के तत्त्व कहते हैं ।

कोई भी कलात्मक रचना जहां एक ओर कलाकार की अनुभूति की गहराई व सच्चाई पर निर्भर है, वहां दूसरी ओर इस अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति, और फलस्वरूप कुशल शिल्प पर निर्भर है । शिल्पविहीन प्रतिभा उत्कृष्ट रचना का सृजन करने में असमर्थ है । ऐसी प्रतिभा उस कुशल कारीगर के समान है जो औजार न होने के कारण अपनी कारीगरी दिखाने में असमर्थ हैं । वस्तुतः शिल्प के इस तत्त्व के कारण ही प्रत्येक साहित्यकार अपनी कृति में उत्कृष्टता लाने के लिए अपने शिल्प को अधिकाधिक विकसित करने की ओर प्रवृत्त होता है ।

शिल्प के विकास की जब बात कही जाती है तब इस कथन में ऐसा प्रतीत होता है कि मानो शिल्प कोई ऐसी चीज है जिसे अभ्यास द्वारा सिद्ध किया जा सकता है । प्राचीन साहित्याचार्य मम्मट ने काव्य रचना के कौशल को अभ्यास-साध्य माना है, और इसकी प्राप्ति के उपाय भी सुझाये हैं । उनका कथन है--

शक्ति निर्पुणता लोक काव्य शास्त्राध्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञ शिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुभवे ।। ×

अर्थात् अध्ययन, शिक्षा और अभ्यास को आचार्य मम्मट ने काव्य रचना का कौशल प्राप्त करने का साधन बतलाया है । उदाहरण के लिए उपर्युक्त भाव व्यक्त करते हुए अल्बर्ट नोस्ट्रेंड ने कहा है--" **जो चाहे टेकनीक सीख सकता है, बशर्ते वह उसकी कीमत अर्थात् उचित अध्ययन और अभ्यास देने को तैयार हो ।**[2] "

1- आचार्य मम्मट - 'काव्य प्रकाश - 1/3 (निर्णय सागर प्रेस, सन 1901)
2- Techinique however can be had for the asking. Any man can acquire it if he will but pay the price. The needful study and experiment, Albert. D Van Nostrand; 'Literary criticism in American - P. 297 /

आत्म-नियंत्रण व शिल्प का परस्पर अभिन्न संबंध है । अभ्यास एवं प्रशिक्षण का यही लक्ष्य होता है कि कलाकार अपने आप पर और अपने साधनों पर पूरा-पूरा नियंत्रण कर लें ताकि वह जो भाव व्यक्त करना चाहता हो, वही भाव ठीक तरह व्यक्त कर सके । आत्म-नियंत्रण का यह तत्त्व ही वस्तुतः कला का वह शिल्पिक तत्त्व है जिसे प्राप्त करने के लिए बार-बार अभ्यास करने का आग्रह किया जाता है । इस आत्म -नियंत्रण अथवा आत्मानुशासन की नींव पर प्रत्येक कला का शिल्प टिका रहता है । आत्म-नियंत्रण की महत्ता का दिग्दर्शन कराते हुए श्री कालिंग वुड ने कहा है--" **शिल्प की नींव में आत्मानुशासन की आवश्यकता निहित है । यह आवश्यकता तभी महसूस होती है जब कलाकृति के सृजनमात्र से संतुष्ट न होकर कलाकार अपने अन्दर किसी खास कलाकृति का सृजन करने की क्षमता उत्पन्न करना चाहता है ।**[1] " साहित्य की उत्कृष्टता आंकने वाली कसौटियों के विश्लेषण से भी आत्म-नियंत्रण और शिल्प के उपर्युक्त अभिन्न संबंध की पुष्टि हो जाती है । उदाहरण के लिए एजरा पाउण्ड ने नियंत्रण को आधार बनाकर उत्कृष्ट रचना की कसौटी इन शब्दों में निर्धारित की है--" **अच्छी रचना वही है जो पूर्णतः नियंत्रित हो । ऐसी रचना का रचयिता वही बात कहता है जो वह चाहता है और इसे बहुत स्पष्टतया एवं सरलता से** कहता हैं ।[2] " मनोभावों की सजीवता के कारण इनका विश्लेषण कर इन्हें अभिव्यक्त कर सकने में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती है, इसलिए, उन्होंने नियंत्रण के ऊपर जोर दिया है ।

शिल्प की गत्यात्मकता एवं परिवर्तनशीलता भी इसका प्रधान तत्त्व है, अतएव जब-जब शिल्प के विकास की बात कही गयी है तब इससे इसकी गत्यात्मकता एवं परिवर्तनशीलता की ओर संकेत हुआ है । साहित्य की प्रतिबिम्बात्मकता इसकी परिवर्तनशीलता का कारण बन गयी है । दार्शनिक परिवर्तन का साहित्य सृजन पर अनिवार्य प्रभाव पड़ता है । युग अथवा समाज में होने

Technique is based on the realization by rudimentary art of its needs for self-discipline which depends on a growing dissatis-faction with bare creation and a desire to develop the power of creating this thing rather than that thing. 'R. G. Collingwood - ' outline of a philosophy of Arts. (Oxford University press—1925 - P. 69/

Good writing is writing that is perfectly contolled the writers says just what he means, He says it with complete clerity and simpicity. — 'Literary Essay Ezrabound.' — Edited by - T. S. Eliot (Eubar and Faber Ltd. 1953, - P. 50/

वाले को आत्मसात् करने के लिए शिल्पविधि को नयी-नयी विधियों एवं रीतियों का सहारा लेना पड़ता है, और फलस्वरूप पुरानी साहित्यिक रूढ़ियों की जकड़ तोड़कर शिल्प भी गत्यात्मक हो उठती है ।

मानव जीवन की अभिव्यक्ति के लक्ष्य को पूरा करने के लिए, नाटककार कुछ निश्चित विधियों व तरीकों का सहारा लेता है और इनकी सहायता से अपनी रचना में मानव जीवन का सजीव चित्र खड़ा करता है । ये विधियां और तरीके ही नाट्य-शिल्प अथवा नाटक-कला के नाम से पुकारे जाते हैं । यदि हम नाटककार की कला का और विश्लेषण करें तो हमें पता चलेगा कि इसके अन्तर्गत ये पांच तत्त्व आते हैं--कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, देशकाल, भाषा, कथोपकथन और उद्देश्य । ये पांचों तत्त्व अलग-अलग अथवा एक दूसरे से सर्वथा अछूते हैं । इन तत्त्वों का पृथक-पृथक वर्गीकरण करना अथवा इन्हें सीमाबद्ध करना सम्भव नहीं है, इन तत्त्वों की सीमायें एक दूसरे का अतिक्रमण करती रहती हैं और इनमें से हरेक का कुछ न कुछ अंश अन्य तत्त्वों का अंश बन गया है । इन पांच तत्त्वों को यदि हम एक ही चीज को देखने के पांच दृष्टिकोण कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी ।

हिन्दी-नाटक

नाटक क्या है ?

प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के कला और शास्त्रनामी दो रूप या पटल होते हैं । नाटक इन दोनों ही से संबंध रखता है । हमारे विषय के उस रूप को जिसका संबंध कला से है, नाट्य कहते हैं । भरत के अनुसार--नाटक, पाठ्य, गीत, अभिनय और रस की अभिव्यंजना है जिसका लक्ष्य सामाजिकों के मनोरंजन के साथ-साथ " क्रीडनीयकमिच्छामो " आनन्ददशा को प्राप्त कराना है । नाटक भाव की अनुकृति है उसका उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम का यथोचित प्रभाव डालना, अज्ञानियों को बोधवान बनाना, दुखियों को स्थिरता प्रदान करना, लोकवृत्तों का अनुकरण करना आदि है । नाटक के संश्लिष्ट रूप के व्यापक दृष्टिकोण का संकेत हमको आदि आचार्य के निम्नलिखित श्लोकमें ही मिल जाता है और यही भारतीय चिन्तन की विशेषता है :-

"नाना भावोसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मक्
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ।।"[1]

नाटक विषयक सबसे अधिक स्पष्टीकरण धनंजय का 'दशरूपक' में है :-

"अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते ।
रूपकं तत्समारोपात्, दशधैव रसाश्रयम् ।।"

---

1. नाट्यशास्त्र-1, पृ.-11.

अर्थात् अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं । यही नाट्यरूप भी कहलाता है, वही नाट्यरूप रूपक कहलाता है, रस के आश्रय पर ही इसके दस भेद होते हैं । पश्चिम और पूर्व में अनुकृति-सिद्धान्त के विषय के आधार पर सिसरो ने कहा था--" **नाटक जीवन की प्रतिलिपि है, वह रीतियों और रिवाजों का दर्पण है, सत्य का परिवर्तन है ।"**

यथार्थ की अनुकृति को स्पष्ट करके सारसे ने कहा है--"**यदि सत्य को रंगमंच पर उपस्थित किया जाएगा तो दर्शकों को वह बड़ा भयंकर प्रतीत होगा ।.....नाट्यकला वह साधन है जिसके द्वारा रंगमंच पर हम जीवन को अभिव्यक्त करते हैं और एकत्रित दर्शकों के लिए सत्य की छाया प्रदर्शित करते हैं ।"**[1] नाटक दर्शकों के सामने प्रस्तुत की गई एक जीवन कथा है । नाटक को मनुष्य की अनुकरण करने वाली प्रवृत्ति ने ही जन्म दिया है ।

भारतीय नाटक की उत्पत्ति :-

मनुष्य एक अनुकरणशील प्राणी है । उसके स्वभाव में दूसरों का अनुकरण करने का गुण प्राकृतिक रूप से विद्यमान रहता है । 'अनुकरण' का रूप हमारे सम्मुख इस कारण प्रमुख रूप से आता है कि आज नाटक अपने पूर्ण विकसित स्वरूप में अनुकरण के अधिक निकट है, जिसका व्यापक अर्थ प्रदर्शन के रूप में लेना चाहिए । किसी भी अच्छे भाव को दूसरों पर प्रकट करने के मुख्य साधन दो हैं, पहली 'वाणी' और दूसरा 'इशारा' । मनुष्य की इन्हीं दो प्रवृत्तियों से नाटक की उत्पत्ति हुई है । नाटक की उत्पत्ति मानव-जीवन की क्रीडात्मक प्रवृत्ति से संबंधित है और यह क्रीडात्मकता शारीरिक और मानसिक दोनों रूपों में समझी जा सकती है । नाटक शब्द 'नट्' धातु से ही बना है, जिसका अर्थ है 'नाचना' या नाट्य करना । नाटक पर विचार करते समय प्राच्य और पाश्चात्य सभी विद्वानों ने संगीत और नृत्य का उल्लेख कथोपकथन के साथ किया है ।वास्तव में नाटक के मूल में नृत्य और संगीत ही है, कथोपकथन बाद की वस्तु है ।

1. भारतेतर देशों में :-

संसार में प्रायः सभी विद्वान एक स्वर में कहते हैं कि नाटकों का उदय धार्मिक उत्सवों अथवा अन्य धार्मिक कर्मकाण्डों के अवसरों पर ही हुआ । इटली में नाटक के उद्भव और विकास की चर्चा करते हुए श्री निकल इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि--"**यूनान की समस्त सम्पत्ति और रोम मे उसके अनुकरण के उपरान्त दशवीं शताब्दी में वहां एक नाट्य का श्रीगणेश किया गया । इसका रूप था चार पंक्तियों का एक छोटा रूपक, जिसको ईस्टर की सर्विस में स्थान दे दिया जाता था ।"**

फ्रांस में भी आदि नाटक धार्मिक ही थे । अंग्रेजी के **'लिटर्जी प्लेज'** भी धार्मिकता के ही द्योतक हैं । अतः भारतेतर देशों में नाटकों की उत्पत्ति धार्मिक वातावरण के कारण हुई, यह सही है ।

---

1. A Theory of th theatre. P.31 |

2. भारत में भी नाटकों का प्रचलन उत्सवों और धार्मिक कृत्यों से घनिष्ठ संबंध रखता है । सिन्धु घाटी में मिली शिव की मूर्ति का नाटक की उत्पत्ति से से घनिष्ठ संबंध है । 'नटराज', 'नरेश', 'महानट' आदि शब्दों का प्रयोग इसका उदाहरण है । मंगलाचरण में 'नान्दीपाठ' शब्द का 'नान्दी' भी उन्हीं के वाहन को ध्यान में रखकर प्रयुक्त हुआ है । शक्ति की पूजा प्रत्येक नर-नारी के हृदय स्थित आह्लाद का उन्मेष है, अपने जीवनदाता के प्रति आनन्द-निवेदन है । अवश्य ही इस उल्लास की अभिव्यंजना का श्रीगणेश 'नृत्य' से हुआ होगा । कालान्तर में विकसित होकर इसमें 'नृत' और 'नाट्य' का समावेश हुआ । परिणामस्वरूप नाट्याभिनय के तीनों तत्त्वों--ताल-लय संयुक्त अंग-विक्षेप (नृत्त), हाव-भाव तथा विभिन्न मुद्रा युक्त नर्तन (नृ) तथा नृत्यगीत साहित्य, वाचिक, आहार्य एवं सात्विक अभिनय का विकास हुआ और ये तीनों नाटक के अभिन्न अंग बने । अर्थात् प्रारंभिक प्रवृत्तियों के आधार पर भौतिक जगत के सम्पर्क से मानवीय आदि मनोभावों की अभिव्यक्ति में नाद का जन्म हुआ । नाद-ध्वनि के आधार पर संगीत और पद्य का विकास हुआ । प्रारंभिक नाटकों में पद्य भाग ही अधिक है । नृत्य द्वारा भाव-प्रदर्शन के साथ पद्य द्वारा वर्णित कथावस्तु का समन्वय होकर नाटक का पूरा स्वरूप हमारे सम्मुख आ जाता है । भारतीय नाटकों के विषय में भी यही विचार अधिक मान्य है । डॉक्टर रिजवे का मत है कि नाटक का उदय मृत वीरों की पूजा से हुआ । उनके अनुसार प्रारंभिक काल में मृत आत्माओं की प्रसन्नता के लिए गीत, नाटक आदि का आयोजन हुआ । डॉ. गुलाबराय ने भी इन सब मतों की उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए लिखा है--**"ये सब कल्पनाशील विद्वान इस बात को भूल जात हैं कि भारतवर्ष में धार्मिक, सामाकि और लौकिक कृत्यों में ऐसा भेद नहीं है, जैसा कि लोग समझते हैं । भारतवर्ष में धर्म मानव** जीवन का अंग है । इस देश का **दुकानदार** भी **तो** अपनी **गोलक को महादेव बाबा की गोलक बताता है ।"** अतः लौकिक या धार्मिक कृत्यों के वाद-विवाद में उलझना अनावश्यक है ।

नाटक के जातीय तत्त्व

प्राण अभिव्यक्ति **पाने के लिए** रूप की **कामना रखता है, रूप जीवित रहने के लिए प्राण की प्रतिक्षा करता है** । केवल रूप से ही चित्र नहीं बनता, केवल प्राण से भी चित्र नहीं होता । अगर केवल रूप कहा जाय तो गलत होगा, केवल प्राण कहना भी गलत होता है । इसलिए चीनी पडंगकार ने विटेलिटी या प्राण के साथ राइथम अर्थात् छन्द या आकृति को भी जोड़कर दोनों पक्षों को कायम रखा है, और हमारे पडंगकार केवल रूप कहकर चुप नहीं रहे,' रूप भेदा कहा । यानी वस्तु और रूप की अन्विति ही कला-कृति है । प्रत्येक रचना की अपनी समस्या होती है, अपना विषय होता है, जिसके फलस्वरूप उसमें उसकी अपनी विशेषताएं आती हैं । तात्पर्य यह है कि नाटक में एक विशिष्ट कथा होनी चाहिए, जिसमें कुछ पात्रों की आंगिक, वाचिक तथा सात्विक क्रियाएं हों, जिनके आधार पर नट या अभिनेता उन पात्रों का अनुकरण करके आंगिक, वाचिक,

सात्विक तथा आहार्य अभिनय करे और उसका अभिनय रंगमंच पर दिखाया जा सके । इससे स्पष्ट होता है कि वाचिक अभिनय के लिए संवाद होना आवश्यक है और आंगिक, सात्विक तथा आहार्य अभिनय के लिए और दृश्य-विधान के लिए रंग-निर्देश होना चाहिए ।

भारतीय आचार्यों द्वारा वर्णित नाटक के तत्त्व :-

प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रेषणीयता के माध्यम के भेद से काव्य दो प्रकार के माने गए---(1) दृश्य काव्य (2) श्रव्य काव्य ।

भरत मुनि कके नाट्य शास्त्र में सर्वप्रथम दृश्य काव्य का शास्त्रीय विवेचन मिलता है । इसके बाद धनंजय के 'दशरूपक' में दशवीं शताब्दी में हुआ । हिन्दी में प्रथम बार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक शीर्षक निबन्ध में इस विषय की चर्चा की । बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'रूपक रहस्य' में किया । दृश्य काव्य के दो भेद होते हैं--(1) रूपक और (2) उपरूपक । रूपक के दश भेद हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं--नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथि प्रहसन आदि । नाटक में पांच या दश तक अंक होने चाहिए और शृंगार, वीर तथा करूण इन तीन रसों में एक की प्रधानता होनी चाहिए । प्रहसन नाटक में भी तीन भेद होते हैं--शुद्ध, विकृत, शंकर । उपरूपक के 18 भेद होते हैं --नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मलिका, प्रकरणिका, हलीस, भाणिका आदि ।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने नाटक के चार तत्त्व स्वीकार किए हैं--संवाद, गान, नाट्य और रस । परवर्ती आचार्यों ने नाटक में तीन ही तत्त्वों को निहित माना--1. वस्तु अर्थात् कथा, 2. नायक अर्थात् पात्र और 3. रस । कुछ आचार्यों ने अभिनय और वृत्ति को भी नाटक का तत्त्व माना ।

1. वस्तु के अन्तर्गत तीन बातें आती हैं--(क) पूर्वरंग (ख) घटना वस्तु (ग) भरत वाक्य । पूर्वरंग के भी तीन उपभाग हैं --नान्दी, प्ररोचना, प्रस्तावना । घटना वस्तु के भी दो उपभाग हैं--आधिकारिक और प्रासंगिक । वैसे अवस्था की दृष्टि से घटना वस्तु (कार्य या कथानक) के पांच भेद किए गए हैं --आरम्भ, प्रयत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति, फलागम ।

आरम्भ :- जिसमें किसी फल की प्राप्ति के लिए नायक में औत्सुक्य दिखलाया जाय ।

प्रयत्न :- जब नायक उस फल की प्राप्ति के लिए उद्योग करे ।

प्रात्याशा :- जब सफलता की संभावना तो हो जाए लेकिन विफलता की आशंका भी साथ-साथ बनी रहे ।

नियताप्ति :- जब नायिका की सफलता निश्चित हो जाये ।

फलागम :- नायक को जब सभी वांछित फलों की प्राप्ति हो जाए । जब नायक अपने

कार्य व्यापार की दृष्टि से कथानक की पांच अर्थ प्रकृतियां और इनके योग से बनी पांच सन्धियां होती हैं । कथा वस्तु को प्रधान फल की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कारपूर्ण अंशों को अर्थ प्रकृति कहते हैं । ये पांच हैं-बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य । बीज, बिन्दु और कार्य का संबंध मुख्य या आधिकारिक कथा से है, पता का और प्रकरी का मुख्य या, आधिकारिक कथा से है । संधियां इस प्रकार है--मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्ष और निर्वहन । वैसे कथावस्तु को तीन प्रकार का माना गया है--प्रख्यात (इतिहास व पुराण पर आश्रित), उत्पाद्य (काल्पनिक), व मिश्र (इतिहास व कल्पना का समन्वय) । जो कथावस्तु नाटक में आदि से अंत तक चलती है वह आधिकारिक और जो गौण पाठों से संबंद्ध होती है वह प्रासंगिक कहलाती है । संधियों का कार्य-व्यापार की अवस्थाओं और अर्थ प्रकृतियों से क्या संबंध है, यह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाएगा :-

कार्य अवस्थाएं		अर्थ प्रकृतियां		संधियां
आरम्भ	+	बीज	=	मुख
प्रयत्न	+	बिन्दू	=	प्रतिमुख
प्राप्त्याशा	+	पताका	=	गर्भ
नियताप्ति	+	प्रकरी	=	विमर्श
फलागम	+	कार्य	=	निर्वहण

पात्रों के कथनोपथन की दृष्टि से वस्तु के तीन और भेद हैं--श्राव्य, अश्राव्य, नियत श्राव्य ।

1. श्राव्य-प्रकट या प्रकाश, जिसे सभी पात्र सुनें ।

2. अश्राव्य-अश्राव्य या स्वागत, जिसे रंगमंच पर उपस्थित अन्य पात्र नहीं सुनें; वस्तुतः ऐसा केवल मान लिया जाता है कि बोलने वाले तथा दर्शक तो उसे सुनाते हैं, लेकिन रंगमंच पर उपस्थित अन्य पात्र नहीं सुनते;

3. नियत श्राव्य- जिसे कुछ नियत पात्र ही सुनें, दूसरे नहीं ।

रंगमंच की दृष्टि से वस्तु के दो विभाग किए जा सकते हैं--1. दृश्य, 2. सूच्य । लम्बी यात्रा, वध, मृत्यु, युद्ध वर्जित है । अतएव ये व्यापार दृश्य नहीं, सूच्य हैं ।

2. पात्र :-

नाटक की घटनाओं की समाप्ति के उपरान्त कोई पात्र सूत्रधार के प्रतिनिधि की हैसियत से आकार, ईश्वर का स्मरण तथा सभासदों (दर्शकों) को धन्यवाद, आशीर्वाद प्रदान करता है । इसे

भरत वाक्य कहते हैं । जैसे नाटकों में ख्यात वृत्त आवश्यक है, उसी तरह नायक भी त्यागी, विनीत, युवा, बुद्धिमान, उत्साही, शास्त्रचक्षु, धार्मिक, उच्चकुलोत्पन्न, शुर और तेजस्वी होना चाहिए । स्वभाव भेद से नायक के चार प्रकार हो सकते हैं--धीर ललित (दृश्यन्त), धीर प्रशान्त (बुद्ध), धीरोदात्त (राम, चन्द्रगुप्त), धीरोद्धत (लक्ष्मण, परशुराम) । नायिका के प्रति दृष्टिकोण के विचार से नायक चार प्रकार के होते हैं--अनुकुल, दक्षिण, शठ, धृष्ट (धृष्ट नायक तीन प्रकार के होते हैं-दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य) ।

संस्कृत आचार्यों के अनुसार नायक नाटक की वस्तु का नेता (उसे आगे बढ़ाने वाला) होता है । नायक के फल-प्राप्ति के कार्यों में बाधा डालने वाला प्रतिनायक (पीठमर्द) या खलनायक कहलाता है । संस्कृत नाटकों में विदूषक का होना अनिवार्य माना जाता था । पात्रों के चरित्र-चित्रण के मुख्यतः तीन साधन माने गए हैं-- संवाद, स्वगत कथन व कार्य कलाप । नाटकों में नायिका के तीन भेद मिलते हैं--स्वकीया, परकीया और सामान्या ।

3. रस :-

भारतीय नाट्यशास्त्र में रस तत्त्व को सर्वोपरि माना है । इनके नाट्यशास्त्र में ही रस-सिद्धान्त का प्राचीनतम सुशृंखल उल्लेख मिलता है, भरत मुनि ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के स्थायी भाव से संयोग द्वारा रस की निष्पत्ति मानी है । जब नटों के दक्ष अभिनय से सहृदयों के भीतर भी वही भाव उत्पन्न हो जाते हैं, तब साधारणीकरण की यह अवस्था रस की सृष्टि करती है । यद्यपि राजशेखर ने नन्दिकेश्वर को रससिद्धान्त का प्रवर्तक माना है ।

प्राचीनों ने रस नौ माने हैं--शृंगार, वीर, शान्त, करूण, हास्य, अद्भुत, रौद्र, भयानक और वीभत्स । प्रत्येक रस के निम्नलिखित अवयव होते हैं जिनके द्वारा रस की व्यंजना होती है--

1. स्थायी भाव } अन्तःपक्ष कार्य ।
2. संचारी भाव }
3. विभाव - आलंबन, उद्दीपन } बाह्य पक्ष-कारण ।
4. अनुभाव - परिणाम - कार्य की परिचायक चेष्टाएं ।
5. आश्रय- आधार-क्षेत्र ।

4. अभिनय :-

इसके द्वारा अभिनेता नाटक का रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण करते हैं । भरत मुनि ने अभिनय चार प्रकार का माना है - आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक ।

5. वृत्ति :-

नाटक की मूल प्रकृति को वृत्ति कहा जाता है । आचार्यों ने वृत्तियों के चार प्रकार बताये हैं - कैशिकी वृत्ति, सात्वती वृत्ति, आरभटी वृत्ति और भारती वृत्ति ।

पाश्चात्य दृष्टि से नाटक के तत्त्व :-

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार आधुनिक विद्वान नाटक के पांच तत्त्व मानते हैं । अर्थात् - 1. वस्तु (कथा वस्तु), 2. पात्र (चरित्र-चित्रण), 3. नायक, 4. नाटकत्व, 5. कवित्व और 6. भाषा, छन्द, रस, अलंकार । पाश्चात्य दृष्टि से कथा वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य और भाषा शैली । पाश्चात्य दृष्टि से नाटक में रस का महत्व नहीं । वहां नाटक को रसात्मक काव्य-साहित्य से पृथक माना गया तथा उसका उद्देश्य मानव जीवन की विविध परिस्थितियों - समस्याओं, मानव-मन के भावों - अभिलाषाओं की रागात्मक (रसात्मक) व्यंजना नहीं, वरन उनका विश्लेषण-विवेचन करना रहा है । अतएव यहां पाश्चात्य दृष्टि से नाटक के विविध तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

1. कथा वस्तु (प्लॉट) :-

नाटक की कथा वस्तु के लिए उपयुक्त क्षेत्र मानव-जीवन है । जीवन जितना विशद और वैचित्र्यपूर्ण है उतनी ही नाटक की कथा वस्तु हो सकती है । नाटक रचना करते समय सबसे पहले हमें कथा वस्तु (कहानी) की योजना करनी पड़ती है । एक नाटककार को नाटक का विस्तार मनमाना बढ़ाने की स्वतंत्रता नहीं है । वह अपने कथा भाग को उतना ही बढ़ा सकता है जितने का अभिनय पांच या छः घण्टे में सम्पूर्ण हो जाय, जिसे दर्शक लोग बिना उकताय एक बैठक पर देख सके । सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, काल्पनिक - अनेक प्रकार की कथावस्तु नाटकों में सम्भव है । जिस क्षेत्र की कथावस्तु हो, उसकी जवाबदेही भी उसी क्षेत्र की होनी चाहिए । वस्तु का विन्यास सुशृंखल और संतुलित होनी चाहिए । परिचमी नाटकों में घटना-विकास विरोधमूलक होता है । आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम इस क्रम से घटना-विकास नहीं होता वरन् घटनाओं की प्रगति का क्रम इस प्रकार होता है -- **आरंभ-विरोध-चरमसीमा-निर्गति-समाप्ति** । अअर्थात् घटनाओं का विकास स्वाभाविक ढंग से हो और उसमें गति हो ।

2. पात्र (चरित्र-चित्रण) :-

नाटक के अन्तर्गत कथा के संगठन पर जितना ध्यान देने की आवश्यकता है, उससे भी अधिक ध्यान उसमें पात्रों पर देना आवश्यक है । आधुनिक नाटकों में चरित्र-चित्रण ही प्रधान हाता है । यदि किसी नाटक में केवल घटनाएं ही घटनाएं हों एवं उपयुक्त चरित्र-चित्रण का अभाव हो, तो वह कदापि उत्कृष्ट नाटक साहित्य में नहीं रखा जा सकता । घटनाएं चरित्रों की व्याख्या के लिए नियोजित होती हैं । वास्तव में चरित्र-चित्रण ही नाटक का सौन्दर्य होता है । नाटककार चरित्र-चित्रण के माध्यम से प्रकृति के अन्तर्रहस्य का और सृष्टि-सौन्दर्य के सूक्ष्म तत्त्व का अध्ययन करके अपने नाटकों में बहिर्जगत् और बहिर्जगत् के कपाटों को खोल कर रख दिया है । चरित्र की प्रधानता नाटक में होने के कारण इसका संबंध मनुष्य के अन्तर्जगत से बहुत अधिक रहता है । एक प्रसिद्ध लेखक के शब्दों में - **"सुख और दुख की बाधा और शक्ति चरित्र और बहिर्घटना के संघर्षण से ही नाटक का जन्म है ।"** चरित्र-चित्रण का प्रधान साधन उसके लिए कथोपकथन या पाठों का परस्पर वार्तालाप ही है । इस प्रकार के चरित्र-चित्रण को अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण कहते हैं । कहीं-कहीं घटनाओं या संकेतों द्वारा चारित्रिक विशेषताओं को व्यंजित किया जाता है । जिन नाटकों में पहली श्रेणी का पात्रों का चयन हो वह सुखान्त-नाटक तथा जिनमें दूसरी प्रकार का हो उन्हें दुखान्त नाटक कहते हैं ।

3. कथोपकथन :-

यह अभिनय का आधार है, वस्तु की घटनात्मक योजना और पात्रों के चारित्रिक विकास के बाद हमारे सम्मुख रचना का दूसरा स्तर आता है जिसका संबंध अभिव्यक्ति से है । वार्तालाप ही तो नाटक की जान है ।कथोपकथन की सफलता ही प्रायः नाटक की सफलता है । घटनाओं की सूचना भी अधिकांशतः कथोपकथन द्वारा ही मिलती है । अभिव्यक्ति के उपकरणों में लेखक के पास भाषा अपनी सजीव शक्ति के साथ है । नाटक में भाषा की यह अभिव्यक्ति कथोपकथन के विभिन्न रूपों में ही प्रस्तुत होती है । कथोपकथन अत्यंत आकर्षक, संयत, चमत्कारपूर्ण, अभिनयात्मक, स्वाभाविक और सोद्देश्य होने चाहिए । कथोपकथन पात्रोचित होना चाहिए । लेखक को सीमा के अन्दर घटनाओं और चरित्रों का व्यापक ही नहीं, वरन् प्रभावोत्पादक स्वरूप उपस्थित करना होता है । निकॉल का मत है - **"नाटककार के अधिकार में कुछ क्षणमात्र है, और इस कारण उसको अपने शब्दों के प्रयोग में सचेष्ट रहना पड़ता है और समन्वय से काम लेना होता है । दूसरी ओर, यद्यपि इस अर्थ में यह नहीं भूल जाना चाहिए कि नाटकीय कथोपकथन सर्वदा ही कलात्मक है और कलाकार की कल्पना का निश्चित स्वरूप है, एक ही अस्वाभाविक उल्लेख समस्त दृश्य का नाश कर देगा ।"** कथोपकथन में जीवन की स्वाभाविकता का भी ध्यान रखना होता है । **जैसे**

कथोपकथन ऐसा होना चाहिए जिसमें बोलने वाले का व्यक्तित्व-वैचित्र्य साफ झलक जाय । स्वाभाविकता की रक्षा आधुनिक कला में सर्वत्र प्रयोजनीय है, स्वगत कथन की अस्वाभाविकता भी आधुनिक नाटकों में बर्दाश्त नहीं की जाती । कथोपकथन की स्वाभाविकता को जीवन के अनुरूप रखकर भी उसके द्वारा अभिव्यक्ति का व्यंजक स्वरूप उपस्थित करना सरल नहीं है ।

4. देशकाल :-

नाटक में दृश्य-योजना, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, भाषा-शैली आदि के सिलसिले में सर्वत्र देश और काल का ध्यान रखना आवश्यक है । नाटक में जिस देश और जिस काल की कथावस्तु है उसकी विशेषताओं का पूरा-पूरा ज्ञान लेखक को होना चाहिए । नाटक में कोई ऐसी बात न आ जाय जो उस भूमिभाग या उस विशिष्ट युग के वातावरण के प्रतिकुल हो, और जिससे नाटक में अस्वाभाविकता आ जाए । प्राचीन भारतीय कथावस्तु में आधुनिक यूरोपीय दृश्यों अथवा परिस्थितियों का समावेश असंगत होगा । ऐतिहासिक नाटकों में इसका ध्यान विशेष रूप से चाहिए । मौर्यकालीन कथानक को लेकर चलने वाले नाटक में हुक्के, साइकिल, रिक्शे, आधुनिक ढंग से धोती-कुरते आदि का जिक्र भी ले आना कला के प्रति घोर अन्याय होगा ।

5. उद्देश्य :-

कलाकार जीवन के जिस चरम सत्य का साक्षात् करता है, उसकी व्यंजना के लिए ही वह अनेक पात्रों और घटनाओं का सहारा लेता है । यह चरम सन्देश कलाकार का यह सम्पूर्ण स्वप्न समाप्त नाटक के अवयवों में अन्तर्व्याप्त रहता है । पात्रों, घटनाओं, कथोपकथनों, दृश्यों आदि की योजना इसी चरम सन्देश के आलोक में होनी चाहिए । आधुनिक युग की परिस्थितियों के साथ कला का यह रूप (अनुभवों को फिर से प्रस्तुत करना) हमको स्वीकार करना होगा । रही उद्देश्य की बात, वह तो प्राचीन और आधुनिक दोनों भावनाओं के साथ ही सम्बद्ध है । आदर्शवादी कलाकार कला के उद्देश्य में सत्य का उल्लेख करता है ।रचना का उद्देश्य प्रभाव की प्रेरणा शक्ति के रूप में ही होना चाहिए, उसके व्यापक दृष्टिकोण के रूप में नहीं । अगस्त थामस के इस कथन में अधिक सत्यता है - **"...रंगमंच तभी जीवित मानते हैं, यदि वह क्षण विशेष पर जनता के मस्तिष्क पर कोई विचार सजीव कर दे ।" आधुनिक कलात्मक-रचना के विषय का अधिकांश** सत्य प्रो. रिचर्ड वर्टन के कथन में प्रतिध्वनित है - **"तार्किक** आनन्द **किसी भी रचना में जो रंगशालाओं में भी अभिनीत होती है, उसी अनुपात से होती है जिससे उसमें विचार रहता है, जीवन की आलोचना प्रस्तुत होती है : उद्देश्य** की अन्विति के रूप में जो **क्रमशः प्रकट** हो **तथा जिसमें**

उसकी अभिव्यक्ति करने की योग्यता हो । " पाश्चात्य नाटकों के सम्पूर्ण प्रभाव में उद्‌दश्य निहित रहता है ।

6. भाषा-शैली :-

आज के नाटककार की प्रतिभा इसी गद्य की एकाग्र और समन्वयशील भाषा-शैली के प्रयोग में प्रकट होती है । नाटकों की भाषा-शैली में सबसे पहले अनिवार्य तत्त्व मनोरंजकता और आकर्षण का होना जरूरी है । भाषा सरल, चमत्कारपूर्ण और आकर्षक हो, जिसमें पाठकों का कौतूहल बना रहे और उनका मन न उबने पाए । भाषा का बोधगम्य होना जरूरी है । अलंकार से बोझिल या प्रतीकात्मक भाषा अपेक्षित नहीं । जहां अत्यंत गम्भीर भावनाओं की व्यंजना अपेक्षित होता है, वहां भाषा-शैली में सरलता बनाये रखना बहुत बड़े कौशल का परिचायक है । प्रत्येक नाटककार की भाषा की निजी विशेषताएं होती हैं जो उसके व्यक्तित्व की देन है । भाषा में व्यक्तित्व की छाप जितनी गहरी होगी, शैली उतनी ही अच्छी समझी जाएगी ।

हिन्दी नाट्य साहित्य

आरम्भ :-

प्राचीन आचार्यों के अनुसार नाटक में तीन अवयव प्रधान माने गए हैं - वस्तु, पात्र और रस । इसी प्रकार 'अभिनय' के उपयुक्त तत्त्वों की छानबीन भी उन्होंने पर्याप्त मात्रा में की है । आदर्श नाटक वही है जो इन सभी कलात्मक लक्षणों में समाविष्ट है और ऐसे ही नाटकों से युक्त साहित्य वास्तव में 'नाटक-साहित्य' की संज्ञा से पुकारे जाने का अधिकारी है । यद्यपि मूल में हमारे हिन्दी साहित्य की समस्त प्रेरणाएं संस्कृत की अनुगामिनी है विकासवाद की दृष्टि से नई मान्यताओं से छुआछुत का व्यवहार करना उचित भी नहीं होता । हिन्दी के नाटक-साहित्य पर इस प्रकार के प्रभाव स्वतः लक्षित हैं और यथास्थान उनका उल्लेख स्वयं ही हो गया है । वर्तमान हिन्दी साहित्य में परिचमी दृष्टिकोण को काम में लाने की प्रथा भी खूब चल निकली है । आलोच्यकाल में लिखे गए हिन्दी नाटकों के दो रूप इस समय मिलते हैं - साहित्यिक और रंगमंचीय । साहित्यिक नाटक अधिकांश काव्यत्व से भरिपूर्ण है । रंगमंचीय नाटकों में इसकी आवश्यकताओं की पूर्ति पर ध्यान दिया गया । हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास वास्तव में इन्हीं दो धाराओं का इतिहास है ।

नाटक-साहित्य का प्रारंभ नाटकीय काव्य से हुआ । हनुमन्नाटक तथा समयसार नाटक आदि

इसी कोटि के हैं ।[1] परन्तु कलात्मक दृष्टि से हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक' है । यह नाटक सांकेतिक और अन्योक्ति शैली की रचना है ।

दूसरा नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' है यह सर्वप्रथम मौलिक नाटक है । इसके लेखक रीवा नरेश महाराज विश्वनाथ सिंहजू थे । इनका लिखा हुआ एक 'गीता रघुनन्दन' नामक नाटक है । हिन्दी की नाटक परम्परा (निर्माण की दृष्टि से) दो रूपों में चली - अनुवादित एवं मौलिक । आगे चलकर लक्ष्मण सिंह ने शकुन्तला और भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र ने नहुष लिखा ।

अनुवादित नाटकों में सिद्धान्तों के प्रतिपादन अथवा अभिव्यंजना का प्रश्न ही नहीं क्योंकि वे तो मूल का अन्य भाषा में रूपान्तर मात्र होते हैं । हिन्दी के विकास की प्रेरणा का मूल उद्गम संस्कृत और उसके स्वाभाविक परिष्कृत रूप है । मौलिक नाटकों में संस्कृत-नाट्य प्रणाली का अनुकरण है । हनुमन्नाटक, समयसार, करूण्यभरण, शकुन्तला-उपाख्यान, सभासार नाटक वास्तव में एक प्रकार के प्रबन्ध काव्य है, अथवा अधिक-से-अधिक नाटकीय काव्य हैं । **डब्ल्यू आर्चर** के अनु-सार -- **"नाटक के मूल तत्त्व दो हैं - अनुकरण और वासना । समस्त नाटक-साहित्य के पर्यावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका विकास वासना के भावोद्रेक से और पूर्णतया अनुकरण के यथार्थ सामाजिक चित्रण से हुई है । "**

हिन्दी नाटक विकास :-

विकास के विविध सोपानों से होता हुआ हिन्दी नाटक आज जिस विकसित और परिष्कृत स्वरूप को प्राप्त हुआ है, उसके लिए वह भारतीय और पाश्चात्य नाट्य विषयक मान्यताओं का ऋणी है । पूर्व भारतेन्दु काल में चार धाराएं नाटकीय साहित्य की उत्पन्न हुईं

1. नाटकीय कविता
2. अनुवादित नाटक
3. मौलिक नाटक
4. रंगमंचीय नाटक

मौलिक नाटकों की इस परम्परा को भारतेन्दु ने पुनर्जीवित किया । उनके आठ मौलिक नाटक प्राप्त हैं - 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (प्रहसन), 'विषस्य विषमौधम', 'प्रेमयोगिनी' (अपूर्व), 'चन्द्रावली' (भक्ति-रोमांस), नीलदेवी (ऐतिहासिक), 'भारतदुर्दशा' (राजनैतिक), 'अंधेर नगरी' (प्रहसन), 'सती प्रताप' (पौराणिक) ।

भारतेन्दु के कुछ समसामयिकों ने नाटकों की परम्परा स्थापित करने में महत्वपूर्ण योग दिया ।

---

1. डॉ. सोमनाथ गुप्त . पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य ।

आदर्शवादी नाटकों की पौराणिक धारा में महत्वपूर्ण रचनाएं अधिक नहीं मिलती । 'उषाहरण' (चन्द्र शर्मा), 'प्रह्लाद चरित्र' (श्री निवासदास), 'दमयन्ती स्वयंवर' (बालकृष्ण भट्ट), 'अभिमन्यु' (शालिग्राम वैश्य), इस श्रेणी की कुछ महत्वपूर्ण रचनाएं हैं । ऐतिहासिक धारा की कुछ रचनाएं इस प्रकार हैं - 'संयोगिता स्वयंवर' (श्रीनिवासदास), 'अमरसिंह राठौर' (राधाचरण गोस्वामी), 'महाराणा प्रताप सिंह' (राधाकृष्णदास) । राष्ट्रीय नाटकों की परम्परा खूब चली । 'गौ-संकट' (अम्बिका प्रसाद व्यास), 'भारत सौभाग्य' (अम्बिका प्रसाद), 'भारत दुर्दिन' (जगत नारायण शर्मा), 'वर्तमान दशा' (पं. दुर्गादत्त), 'देश-दशा' (गोपालराम गहमरी) आदि । प्रहसनों की संख्या सबसे अधिक है । प्रहसन नाटकों में नाटककार ने किसी भी अंग को अछुता नहीं छोड़ा है । स्वच्छन्दतावादी नाटकों की परम्परा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की चन्द्रावली नाटिका से चली । इस प्रकार के नाटकों में शृंगार रस को ही प्रधानता मिली । 'रणधीर प्रेम मोहिनी' (श्रीनिवास), 'ललिता' (अम्बिकादत्त व्यास), 'तत्त्वा संवरण' (श्रीनिवासदास), 'मयंक-मंजरी' (किशोरी लाल गोस्वामी), 'लावण्यवती सुदर्शन' (शालिग्राम वैश्य), सभी इसी धारा के नाटक हैं । इस काल के नाटकों में 'नान्दीपाठ', 'मंगलाचरण', 'भरत वाक्य', 'प्रस्तावना' आदि मिलते हैं । गद्य की भाषा खड़ी बोली और पद्य की ब्रजभाषा दिखाई पड़ती है ।

1910-11 ई. तक परिस्थिति लगभग वही रही जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में थी । भारतेन्दु युग के पश्चात् और प्रसाद युग के पूर्व तक का युग संक्रान्ति-युग कहा जाता है । इस युग में अनुवादित नाटक अत्यधिक लिखे गए । इस काल के नाटक साहित्यिक और रंगमंचीय दोनों प्रकार के थे । 1906 ई. में बंगभंग आन्दोलन के कारण राष्ट्रीयता का विकास बड़ी तीव्रता से हुआ और अनेक ऐतिहासिक वीर पुरूष नाटकों के नायक बने । इन दस वर्षों के नाटकों में प्रमुख थे - 'बुद्धदेव चरित्र' (महेन्द्रनाथ, 1902), 'वीरजयमल' (गंगा प्रसाद गुप्त, 1903), 'राजसिंह' (हरि प्रसाद जिंजल), पौराणिक नाटकों में 'प्रभास मिलन' (बलदेव प्रसाद मिश्र), 'चन्द्रकला भानुकुमार' (देवी प्रसाद राय, 1904), 'कृष्णलीला' (रूप नारायण पाण्डेय, 1906), 'कृष्ण सुदामा' (नन्दन सहाय, 1907), भक्ति प्रधान नाटकों में 'उद्धव' (ब्रजनन्दन सहाय, 1909) नाटक लिखे गये । रंगमंच नाटककारों में पं. राधेश्याम कथावाचक का नाम उल्लेखनीय है । इस काल के नाटकों में गम्भीरता का मात्रा अधिक हुई ।

जयशंकर प्रसाद युग के नाटकों में नाट्यकला का प्रौढ़ और परिष्कृतस्वरूप प्रकट हुआ है । इस युग में भी विषयगत प्रवृत्तियों की दृष्टि से नाटकों को चार वर्गों में विभाजित किया है - ऐतिहासिक, पौराणिक, काल्पनिक व अनुदित । डॉ.जयनाथ 'नलिन' के शब्दों में **"नाटक को स्वस्थ, साहित्यिक, कलापूर्ण, स्वाभाविक, मौलिक और स्वाधीनरूप देने का सर्वप्रथम श्रेय प्रसाद की प्रतिभा**

को ही है ।" ऐतिहासिक नाटकां की धारा में सर्वप्रथम जयशंकर प्रसाद कृत 'सज्जन' (1910), 'कल्याणी परिणय' (1912), 'करूणालय' (1913), 'प्रायश्चित' (1914), 'अजातशत्रु' (1922), 'जनमेजय का नागयज्ञ' (1926), 'स्कन्द गुप्त' (1928), 'एकघुंट' (1929), 'ध्रुवस्वामिनी' (1933), आदि है । इस युग के अन्य नाटक 'चन्द्रगुप्त' (बद्रीनाथ भट्ट, 1915), दुर्गावती (1926), कबीला (मुन्शी प्रेमचन्द, 1924), पांडेय बेचन शर्मा का महात्मा ईसा (1922), प्रताप-प्रतिज्ञा (1928, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द), चन्द्रराज भण्डारी का 'सम्राट अशोक' आदि उल्लेखनीय है ।

पौराणिक नाटकों में गंगा प्रसाद कृत रामाभिषेक नाटक (1910), ब्रजनन्दन कृत रामलीला नाटक (1908), रामगुलाम का धनुषयज्ञ लीला (1912), महावीर सिंह का नल दमयन्ती (1905), लक्ष्मी प्रसाद का उर्वशी (1910), शिवनन्दन सहाय का सुदामा नाटक (1907), हरि नारायण का कामिनी-कुसुम (1907) आद उल्लेखनीय है । इस वर्ग की प्रौढ़ साहित्यिक कृतियों में बद्रीनाथ भट्ट के कुरूवन-दहन और वेन चरित, माखन लाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुन है ।

कल्पनाश्रित नाटकों की कथा वस्तु इतिहास पुराण पर आधारित न होकर विशुद्ध कल्पना पर आश्रित है । इसके दो वर्ग किए गए हैं - प्रहसन और सामाजिक नाटक । प्रहसनों के अन्तर्गत जी.पी. श्रीवास्तव कृत दुमदार आदमी (1919), उलटफेर (1919), बद्रीनाथ भट्ट द्वारा रचित चुंगी की उम्मीदवारी (1919), बेचेन शर्मा कृत उजबक और चार बेचारे आदि है । सामाजिक नाटकों में मिश्र बन्धुओं का ने-नोन्मी लन (1915), मुन्शी प्रेमचन्द का संग्राम (1922), लक्ष्मण सिंह का गुलामी का नशा (1924), घनानन्द बहुगुणा का समाज (1930) आदि है । इन नाटकों का लक्ष्य भी अपने युग और समाज की विभिन्न बुराइयों का उद्घाटन करना है ।

इस युग में संस्कृत, बंगला व अंग्रजी के विभिन्न नाटकों का अनुवाद हुआ । अनुदित नाटकों में संस्कृत से सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के नाटकों के बाबू रामचन्द्र वर्मा ने बंगला से द्विजेन्द्र लाल राय के और अंग्रेजी से जॉन गाल्सवर्दी के भी हड़ताल, न्याय, चांदी की डिबिया आदि का अनुवाद हुआ ।

इन नाटककारों की कृतियों में भी नाट्यकला का उन्नत स्वरूप विद्यमान है । इन गम्भीर नाटकों में जीवन के सभी पक्षों का वास्तविक एव यथार्थ चित्रण किया गया है ।

प्रसादोत्तर युग नाट्यकला में विषय-वैविध्य को लेकर उपस्थित होता है । इस युग की ऐतिहासिक, पौराणिक, और कल्पनाश्रित नाटक की परम्परा के अन्तर्गत अग्रलिखित नाटककारों की

नाट्य कृतियां है - सेठ गोविन्ददास कृत हर्ष (1942), शशिगुप्त (1942), कुलीनता (1941), कर्तव्य (1935), विकास, कर्ज, दुःख क्यों । हरिकृष्ण प्रेमी कृत रक्षा बन्धन (1934), शिव साधना (1937), प्रतिशोध (1937), स्वप्नभंग (1940), आहुति (1940), उद्धार (1949), शपथ (1951), भग्न-प्राचीर (1954), प्रकाश-स्तम्भ (1954), सांपों की सृष्टि (1959), छाया (1933), विषपान, बन्धन आदि ।

लक्ष्मी नारायण मिश्र कृत सन्यासी (1931), राक्षस का मंदिर (1931), मुक्ति का रहस्य (1932), आधीरात (1937), गरूड़ध्वज (1948), वितस्ता की लहरें (1953) आदि हैं । इसके अतिरिक्त पं. उदयशंकर भट्ट ने विक्रमादित्य, दादर, मुक्तिपथ, अम्बासगर विजय, मत्स्यगन्धा आदि नाटक लिखे । उपेन्द्रनाथ अश्क द्वारा स्वर्ग की झलक (1939), कैद (1945), उड़ान (1949), अलग-अलग रास्ते (1955) में रचित हुए । वृन्दावन लाल वर्मा द्वारा राखी की लाज (1943), बांस की फांस (1947), नीलकंठ (1951), सगुन (1951), निस्तार (1956) आदि प्रमुख हैं । पृथ्वीनाथ शर्मा ने दुविधा (1938), अपराधी (1939), साध (1944) आदि नाटकों की रचना की । गोविन्द वल्लभ पनत ने अंगूर की बेटी (1937), प्रेम चन्द का प्रेम की वेदी (1933), चतुरसेन शास्त्री ने पग ध्वनि (1952), तुलसी भाटिया का मर्यादा, रामनरेश त्रिपाठी का पैसा परमेश्वर आदि उल्लेखनीय है ।

प्रतीक वादी नाटकों का उत्थान प्रसाद के कामना (1927), नाटक से माना जाता है । इसमें सेठगोविन्द दास का 'नवरस' कुमार हृदय का नक्शे का रंग, सुमित्रानन्दन पंत का ज्योत्सना प्रसिद्ध है । डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल के मादा कैक्टस, सुन्दर रस, दर्पण आदि भी उल्लेखनीय है ।

कुछ लेखकों ने नाट्य रचना की नयी दृष्टि, नयी वस्तु एवं नये शिल्प का भी प्रयोग करते हुए नुतन परंपराओं का प्रवर्तन किया । जैसे, सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित नाटकों में जगदीशचन्द्र माथुर कृत कोणार्क, पहला राजा (1969), दशरथनन्दन (1974) आदि, विष्णु प्रभाकर कृत डॉ., युगे-युगे क्रान्ति, टुटते परिवेश तथा लक्ष्मी नारायण लाल ने अंधा कुंआ, रातरानी, दर्पण, कफ्यु, एक सत्य हरिश्चन्द्र आदि लिखे हैं ।

व्यक्तिवादी चेतना से अनुप्राणित नाटकों में आसाढ़ का एक दिन (1958), लहरों का राजहंस (1963), और आधे-अधुरे (1969), सुरेन्द्र वर्मा ने द्रोपदी (1972), रमेश वक्षी ने देवयानी का कहना है, मुद्रा राक्षस ने तिलचट्टा (1973) आदि लिखे गए ।

राजनैतिक चेतना से अनुप्राणित नाटकों में दयाप्रकाश सिन्हा के इतिहास चक्र एवं कथा एक कंस की, विपिन अग्रवाल का उंची-नीची टांग का जांघिया, हमी दुल्ला का समय-सन्दर्भ, गिरिराज

किशोर का प्रजा ही रहने दो, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का बकरी, सुशील कुमार सिंह का सिंहासन खाली है आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

इसके अतिरिक्त आधुनिक जीवन एवं समाज की विभिन्न परिस्थितियों एवं समस्याओं की चित्रण की दृष्टि से तीन युग (विमला रैना), धरती और आकाश (शंभूनाथ सिंह), बिना दीवार का घर (मनु भंडारी), हमलोग (अमृतराय), अपनी धरती (रेवतीशरणं शर्मा) आदि रचनाएं हैं ।

पिछले 20 वर्षों में 'एकांकी नाम से एक नयी चीज हिन्दी नाटक के क्षेत्र में चल रही है । इनमें चन्द्रगुप्त, उदयशंकर भट्‌ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, भुवनेश्वर प्रसाद एवं डॉ. रामकुमार वर्मा का नाम प्रमुख है । एकांकी नाटकों के क्षेत्र में कला और संख्या की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण रचनाएं डॉ. वर्मा जी ने लिखी हैं । उनके एकांकी संग्रह हैं - पृथ्वीराज की आंखें (1936), रेशमी टाई (1941), चारूमित्रा (1942), सप्त किरण (1946), कौमदी महोत्संव (1948), शिवाजी इत्यादि । इस प्रकार हिन्दी नाटक का विकास अनेक रूपों और दशाओं में हुआ है । हिन्दी में नयी कविता, नयी कहानी की भांति 'नया नाटक' आया और वह अपने युग की नवीन स्थितियों, संवेदनाओं को व्यंजित करने की दृष्टि से सर्वाधिक नवीन है । समाज की नयी व्यवस्था में इनका क्या स्थान होगा, अभी यह कहना कठिन है परन्तु नाटक समाज से अलग रह ही नहीं सकता । और समय अनुसार नये-नये तत्त्वों का समावेश होता ही रहता है ।

शिल्प और संवाद

शिल्प और संवाद में संबंध :-

शिल्प बात कहने का ढंग अर्थात् अभिव्यक्ति का प्रकार है । शिल्प अधिकांशतः काल सम्मानित विधि होती है, किसी विषय को पकड़ने-समझने की शिल्प विचार रूपी शरीर का शृंगार - 'मेकप' है । जबकि संवाद वह वाणी है जो बात कहती है । संवाद सिर्फ अभिव्यक्ति का माध्यम है । किसी कथा भाव का निर्वाह करने, उसे प्रस्तुत करने की, संवाद एक नितान्त व्यक्तिगत वस्तु है, वाणी के गुण विशेष जैसी, वह एक विशेष उच्चारण से बोली जाने वाली भाषा है । एक कहावत है - **"संवाद ही मनुष्य है, मानव अस्तित्व का एक ठोस तथ्य है, कला में प्राविधिक शिल्प है संवाद उसमें निहित व्यक्तित्व ।"** प्रत्येक साहित्य रूप की अपनी विशेषताएं होती हैं - भाषा, रूप, आकार, स्थापत्य आदि से संबंधित । किसी सफल कलाकृति के निर्माण के लिए उसके स्वरूप विधान से परिचित होना कलाकार के लिए आवश्यक है । जो नाटक की दृश्यगत विशेषताओं, कथानक, संलाप आदि से अनभिज्ञ है, वह नाटक की रचना कैसे कर सकेगा ? विशेष

साहित्य रूप की रचना के लिए विशेष प्रकार की कुशलता अपेक्षित है जिसे "शिल्प कहा जाता है । यह कुशलता उसी प्रकार अर्जित की जाती है जिस प्रकार कोई शिल्पी अपने शिल्प के लिए कुशलता अर्जित करता है ।सफल नाट्य-कृति की रचना के लिए भी शिल्प के ज्ञान की अनिवार्यता है । साहित्य में अन्यान्य रूपों की अपेक्षा नाटक में शिल्प के पक्ष पर विशेष जोर दिया जाता है । प्रसिद्ध चिन्तक जॉर्ज सान्तायना के शब्दों में - **"पद्य और गद्य में जो अनेक साहित्य रूप विभिन्न भाषाओं में रचित होते हैं, उनमें सबसे अधिक महत्व की मांग करने वाला नाटक ही है"। इस साहित्य रूप को अधिकाधिक पूर्णता तक पहंचाया गया है ।"**

संवाद में शिल्प की मांग विशेष रूप से है, इसमें सन्देह नहीं । संवाद शिल्प की दुर्बलता के कारण अनेक नाट्य कृतियां रंगमंच पर असफल सिद्ध होती है । संवाद शिल्प का ज्ञान अपने पूर्ववर्ती साहित्य एव साहित्यशास्त्र के अध्ययन से भी प्राप्त होती है । शिल्प में साधन और साध्य में विभेद होता है - दोनों एक दूसरे से संबंधित होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न है । शिल्प कुशलता है जिसके द्वारा किसी वस्तु या कृति में सौन्दर्य सृष्टि होती है । शब्द, भाषा, लय आद के आधार पर नाट्य के जो विभिन्न प्रकार हैं वे सभी रूप हैं उनके माध्यम से लेखक जो कुछ अभिव्यक्त करता है वह वस्तु है । नाट्य में जब केवल शिल्प को प्रधानता दी जाती है तब उसका मूल्य कम हो जाता है । एरिक बेन्टली अमेरिका में महान, नाट्य कृतियों के अभाव का कारण यही बतलाते हैं । जिस प्रकार कथा-साहित्य शिल्प है उसी प्रकार नाटक भी, पर यह उससे परे भी कुछ है । संवाद कला है, और कला न कभी नियमों में बंधी है न बंधेगी । सफल संवाद लिखने का भी अपना स्थापत्य होता है यह स्थापना कई बातों पर निर्भर है सर्वप्रथम दृश्यत्व और अभिनेयता के अनेकानेक तत्त्वों को ध्यान में रखकर लिखे जाते हैं । दूसरी प्रत्येक देश एव साहित्य की अपनी नाट्य परंपरा होती है, अपने नाट्य-विधान होते हैं, अपनी नाट्यगत् रूढ़ियां होती हैं जिससे संवादों में देश तथा साहित्यगत विशेषता आ जाती है । वैसे भी प्रत्येक कलाकार अपना संस्कार होता है, अपना दृष्टिकोण होता है, अपनी शैली होती है जिनके फलस्वरूप उसमें नाटककार की व्यक्तिगत विशेषताएं आती हैं । अर्थात् संवादों के माध्यम से ही उस नाटककार की कृति से पता चलता है । संवादों पर भी युग का प्रभाव पड़ता है संवाद की विशेषता उसकी सहजता और स्वाभाविकता में है । युग के साथ-साथ शिल्पकार की चेतना बदलती है, नयी सामग्री सामने आती है, नयी वस्तु नये रूप की मांग करती है । फलतः संवादों के साथ ही नाट्य स्वरूप बदलते हैं ।

नाटक का संबध दर्शकों से है, दर्शकों के अभाव में नाटक की कल्पना नहीं की जा सकती ।

संवाद दर्शकों और नाटककारों के बीच समझौते हैं । प्राचीन संस्कृत नाटकों में स्वगत कथन और आकाशभाषित होते थे । वे न नाटककार के अस्वाभाविक लगते थे न दर्शकों को । नये प्रकार कक नाटकों की रचना के लिए संवाद को युग के प्रवर्तित होते हुए विचारों, रूचियों तथा रंगमंचीय साधनों के अनुरूप बनाया जाय । नाटकों का शिल्प परिवर्तित होता है क्योंकि शिल्पी भले ही किसी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार काम करता हो, पर सामान्यतः निर्माण की प्रक्रिया में ही रचना की रूप-रेखा निश्चित होती जाती है । अर्थात् नाटककार अपने संवाद-शिल्प के द्वारा अपनी सीमाओं को खण्डित कर अपनी प्रभावोत्पादकता सिद्ध करने का प्रयत्न करे । किसी भी नाटक का भवन संवाद के बिना खड़ा नहीं हो सकता और इसमें सहयोग, शिल्प करता है ।

संवाद अथवा कथोपकथन :-

स्थूल रूप से, किसी वर्णनात्मक कृति में पात्रों की बातचीत के लिए, कथोपकथन शब्द प्रयुक्त होता है ।

"सार्थक वाणी मनुष्यता का सबसे उत्तम जन्मतः अभ्याससिद्ध अधिकार है ।"

"उपर्युक्त अभिव्यक्ति का वाहक शब्द चांदी के कलश के ऊपर सुवर्ण फल जैसा शोभायमान होता है ।"[1]

अर्थात् संवाद, कथोपकाथन अथवा वार्तालाप नाटक का अत्यंत विधि से मोदपूर्ण तत्त्व है जो उसे नाटक का रूप प्रदान करता है तथा उसे अन्य विधाओं से पृथक करता है । नाटक की संपूर्ण कथा का विकास, पात्रों का चरित्र-चित्रण, उद्देश्य-प्राप्ति, देशकाल का ज्ञान कथोपकथन के माध्यम से ही होता है । कथोपकथन के माध्यम से ही वह अपनी समस्त नाट्य कला संबंधी योग्यता एवं कौशल का परिचय दे सकता है । प्रेमचन्द जी का विचार है कि **"नाटक में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाए, उतना ही अच्छा है ।"** अर्थात् वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिए । किसी भी चरित्र के मुह से निकले प्रत्येक वाक्य को उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ प्रकाश डालना चाहिए । बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकुल, सरल, और सूक्ष्म होना आवश्यक है । कथोपकथन पर प्रायः प्रयोग में और सिद्धान्त में नाटक का ही एकाधिपत्य था ।

कथोपकथन के संदर्भ में किसी भी गम्भीर प्रभाव के लिए भाषा के निकट रखा गया है, वहां लक्ष्य हास्य की सृष्टि रहा है या फिर सामान्य बोल-चाल की भाषा ऐसे पात्रों द्वारा प्रयुक्त की जाती है, जिनका सामाजिक स्तर निम्न होता है । बाद में मुख्यतः यथार्थवादी सिद्धान्तों के अन्तर्गत

इस सिद्धान्त का विकास हुआ । वैसे कथोपकथन का स्वरूप इतना विविधतापूर्ण है कि उसे आज तक ठीक से परिभाषाबद्ध करना सम्भव नहीं हो सका है । मुख्य रूप से देखा जाए तो कथोपकथन के द्वारा कुछ विचारों को सजीवता देने में सरलता पड़ती है । विशिष्ट कृतियों में मिलने वाले कथोपकथन के स्वरूप को आधार बनाकर ही साहित्यालोचकों ने इस पर पूर्णतया विचार प्रारंभ किया है । संवाद गद्य व पद्य दोनों में प्रयुक्त होता है ।

कथोपकथन का उद्देश्य :-

कथोपकथन की योजना कई उद्देश्यों से की जाती है - सर्वप्रथम-वह कथानक का विकास करता है । कथोपकथन के अभाव में एक नाटक का अपनी कृति के कथानक में वर्णित घटनाओं या दृश्यों में सजीवता नहीं ला पाएगा । **"कथन या भाषण कार्य-व्यापार कथा-वस्तु, तनावों का एजेन्ट है । कथन पात्रों के संबंधियों और उनकी भावनाओं के विकास एवं परिवर्तनशीलता की लगातार गति को प्रकट करने की सक्रिय भाषा है । बाह्य कार्य-व्यापार तथा उद्देश्य दोनों को भाषा या कथन स्पष्ट बनाता है ।"**[1] कथोपकथन का संबंध नाटक के सर्वप्रमुख कथानक से है क्योंकि वह भी विकास का एक माध्यम है । नाटक में सामान्य रूप से नाटककार सांकेतिक आधार पर कथा-वस्तु का विकास करता है । कहीं-कहीं पर दो पात्रों का संक्षिप्त पारस्परिक वार्तालाप कथा-वस्तु की आयोजित अनेक घटनाओं का सांकेतिक परिचय भी प्रस्तुत कर देता है । कथोपकथन का कार्य नाटक में विविधता, रोचकता और स्वाभाविकता उत्पन्न करना भी है । कथोपकथन ही उसे सहसा वर्तमान काल में ले आता है, जिससे उसमें अपने आप गतिशीलता और तीव्रता आ जाती है ।

द्वितीय - कथोपकथन के द्वारा ही पात्रों की व्याख्या करना संभव है । कथोपकथन के माध्यम से जो विचार व्यक्त होते हैं, वे ही पाठक को उनके प्रति नैकट्य का अनुभव कराने में सहायक होते हैं । श्री वेकर महोदय की इस संबंध में धारणा है कि **"यद्यपि यह पूर्णता आवश्यक है कि कथोपकथन में जो घटनाएं घटित होती हैं या पात्र कौन है उनका परस्पर क्या संबंध है आदि का वास्तविक चित्रण उपस्थित करता है, परन्तु यह अधिक अच्छा कथोपकथन होगा जब इनके साथ ही यह अनुभव हो कि मात्र चरित्र-चित्रण के साथ ही यह व्यस्त है ।"**[2] अर्थात् वह अच्छे नाटकों में केवल चरित्र-चित्रण के लिए ही कथोपकथन का विस्तार करने के पक्ष में है । रोनाल्ड

---

1. **रोनाल्ड पीकॉक - 'दी आर्ट ऑफ ड्रामा', पृष्ठ-168 ।**

2. **जी.पी.बेकर - 'ड्रेमेटिक टेकनीक', पृष्ठ-328 ।**

पीकॉक महोदय ने कहा है कि **"नाटक के विशेष पात्र का निर्धारण कथन के प्रकार से किया जाता है, कार्य-व्यापार या कथा-वस्तु तो सदैव ही होता है, किन्तु प्रमुख रूप से इसको कथनोपकथन द्वारा वहन किया जाना अपेक्षित है ।"** * वस्तुतः पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का पता उनके कथन या सम्भाषण से ही लगता है ।

कथनोपकथन का तीसरा उद्देश्य लेखक के उद्देश्य को स्पष्ट करना है - भावों की अभिव्यक्ति के लिए अथवा विचार विनिमय के लिए कथन का प्रयोग किया जाता है । बातें भी कई प्रकार की होती हैं । इन प्रकार की बातों के लिए अनिवार्य है कथोपकथन । कथोपकथन ही शोक, क्रोध, प्रसन्नता आदि भावों को स्वाभाविक या प्रभावपूर्ण ढंग से दर्शकों में संवेगों की सृष्टि में सहायक होता है । कथोपकथन की अन्तरात्मा में तो नाटककार बैठा ही रहता है, किन्तु बाहृय रूप में वह एक शब्द भी स्वयं को प्रकट करके बोलने का अधिकारी नहीं है । वह अपनी बात पात्रों के माध्यम से कहलाना चाहता है । वहां पर कथनोपकथन ही इस कार्य की पूर्ति के लिए सहायक होते हैं । कथनोपकथन के माध्यम से ही नाटककार अपनी इच्छित भाषा, वातावरण की सृष्टि कृति में कर सकता है ।

अर्थात् कथोपकथन नाटक के उन मूल तत्त्वों में से है जिसके कारण उसमें नाटकीयता आती है, क्योंकि संवाद मूलतः अभिनय करने वाले रंग-मंचीय पात्रों के वार्तालाप का आभास देते हैं । वैसे भी सदा अच्छा होता है यदि उसमें निज की सुन्दरता, निज का आकर्षण, बुद्धिमता, व्यंग्य और मनोहरता निहित रहती है ।

कथोपकथन के गुण :-

कथोपकथन की सफलता तभी संभव है जब वह कुछ आवश्यक गुणों से युक्त हो । कथोपकथन में शब्दों को इस प्रकार क्रम से रखा जाय कि वाक्य उलझे हुए न हो तथा भाव आपस में टकराने न पाएं । महत्वपूर्ण भावनाओं को सजाने में सावधानी एवं संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम आदि को ठीक क्रम में रखने से भाव और भाषा में स्पष्टता आती है । प्रत्येक कथोपकथन में कथा को गति देने का गुण होना चाहिए । कथोपकथन का सर्वप्रथम गुण उसकी उपयुक्तता है । नाटककार को यह मालूम होना चाहिए कि एक ओर उपयुक्त कथन किसी स्थल विशेष पर चमत्कार की सृष्टि कर सकता है तो दूसरी ओर अनुपयुक्त कथोपकथन उसकी कृति में दोष उत्पन्न कर सकता है ।

नाटक में कथोपकथन का समावेश स्वाभाविक रूप से होना चाहिए । अर्थात् उसका विषय कृत्रिम या कल्पना द्वारा गढ़ा हुआ न हो और न ही नियोजित किसी छोटे-से वार्तालाप के सिलसिले

में ही अपने विचारधारा के प्रतिपादन के उद्देश्य से लम्बे-लम्बे वक्तव्य होने चाहिए । ऐसी स्थिति में नाटक की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है । कथोपकथन का संक्षिप्त होना उसकी प्रभावोत्पादकता में वृद्धि करना है । लम्बे ऊब पैदा करने वाले होते हैं जबकि संक्षिपत कथोपकथन परिस्थितियों का परिचय देने की दृष्टि से भी अधिक सफल सिद्ध होते हैं । नाटक में प्रत्येक कथोपकथन सोद्देश्य होने चाहिए । वास्तव में संवाद को या तो कथानक के विकास में सहायक होना चाहिए यो पात्रों के चरित्र-चित्रण मे योग देना चाहिए । कथोपकथन में संबद्धता का होना बहुत जरूरी है । इसके अनुसार संवाद के माध्यम से नाटककार जिस बात को कह रहा हो या कहना चाहता हो उसमें कथानक तथा पात्रों से किसी -न-किसी प्रकार का प्रत्यक्ष पारस्परिक संबंध अवश्य होना चाहिए । कथोपकथन का विषय यथासंभव प्रासंगिक नहीं होना चाहिए । संवाद द्वारा पात्रों का चरित्र-चित्रण भी होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि वह विविध पात्रों के स्वभाव के अनुकुल हो अन्यथा चरित्र विकास की दृष्टि से उसका महत्व नहीं होगा । अर्थात् संवाद का पात्रों की सामाजिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक स्वरूप के अनुकल भी होना चाहिए ।

प्रारंभिक युगीन नाटकों मे जो कथोपकथन मिलते थे, उनमें कलात्मकता का भाव था । संवाद अनियोजित तथा शुष्क होते थे जबकि संवाद में मनोवैज्ञानिकता का होना अति आवश्यक है । वर्तमान नाटकों में चरित्रांकन की सूक्ष्मता तथा मनोवैज्ञानिकता पर अधिक बल दिया जाने लगा । संवाद में भावात्मकता का गुण भी कभी-कभी नाटक को प्रभावशाली बनाने मे सहायक होता है । प्रेम की अनुभूति की गहराइयों में खोए अथवा मृत्यु की छाया में खड़े दो पात्र पल भर के लिए जब एक दूसरे से भेट करने का संयोग पाते हैं तब उनका भाव-प्रवाह भी अबाध हो जाता है । संवाद का आरंभ इस स्थल पर बहुत ही संयमित और सूक्ष्म रूप में होता है ।

संवाद अभिनय का प्रधान अंग है । नाटक का सुन्दर अभिनय संवादों पर ही आधारित होता है । कहानी, उपन्यास, महाकाव्य आदि में ही संवाद नाटकीय तत्त्व की सृष्टि करते हैं । नाटक में नाटकीय-सौन्दर्य-वृद्धि के लिए तथा उसकी अभिनयात्मक के लिए संवादों में कुछ विशिष्ट आवश्यक होते हैं, जो इस प्रकार हैं -

1. नाटकीयता ।
2. संक्षिप्तता एवं क्षिप्रता ।
3. कथा की अभिष्ट वस्तु को स्पष्ट करने की सामर्थ्य ।
4. कथा-विकास करते हुए उसका उद्देश्य व्यक्त करने की क्षमता ।
5. पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं, उनकी अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त करन की क्षमता ।
6. संवादों में वाचिक अभिनय की सामर्थ्य तो हो ही, किन्तु अभिनय-सौन्दर्य की

दृष्टि से वे पात्रों के सांगिक-सात्विक अभिनय को भी स्वाभाविक रूप में उत्पन्न कर सकें ।

7. सरलता, सर्व सुलभता एवं आकृष्ट करने की क्षमता ।
8. पाठानुकुलता, सतर्कता, रोचकता ।
9. प्रासगिकता एवं स्वाभाविकता ।

संवाद-संबंधी इन सभी विशेषताओं को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है । जयशंकर प्रसाद के नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' के तृतीय अंक में कोमा और ध्रुवस्वामिनी का संवाद अद्वितीय है -

ध्रुवस्वामिनी :तुम लोग कौन हो ?

कोमा :मैं पराजित शक जाति की एक बालिका हू ।

ध्रुवस्वामिनी :और ?

कोमा :और मैंने प्रेम किया था ।

ध्रुवस्वामिनी :इस घोर अपराध, तुम्हें क्या दण्ड मिला ?

कोमा :वही जो स्त्रियों को प्रायः मिला करता है - निराशा ! निष्पीड़न ! **और उपहास ! रानी, मैं तुमसे भीख मांगने आयी हूं ।**

ध्रुवस्वामिनी :शत्रुओं के लिए मेरे पास कुछ नहीं है । अधिक हठ करने पर दण्ड मिलना भी असम्भव नहीं ।

मिहिर देव :(दीर्घ निःश्वास लेकर) पागल लड़की, हो चुका न ? अब भी तू न चलेगी ?

मन्दाकिनी :तुम चाहती क्या हो ?

कोमा :रानी, तुम भी स्त्री हो । क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी ? आज तुम्हारी विजय का अन्धकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढक ले, किन्तु सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है जली होगी अवश्य । तुम्हारे भी जीवन में वह आलोक का महोत्सव आया होगा, जिसमें हृदय-हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व दान करने का उत्साह रखता है । मुझे शकराज का शव चाहिए ।

ध्रुवस्वामिनी :(सोचकर) जलो, प्रेम के नाम पर जलना चाहती हो, तो तुम उस शव को ले जाकर जलो । जीवित रहने पर मालूम होता है कि तुम्हें अधिक शीतलता मिल चुकी है । अवश्य तुम्हारा जीवन धन्य है । (सैनिक से) इसे ले जाने दो ।

इस प्रकार नाटककार उपर्युक्त सभी विशेषताओं से युक्त कथोपकथन द्वारा उत्तम नाटक की सृष्टि कर सकता है ।

संवाद के भेद :-

भारतीय नाट्यशास्त्र में संवाद के तीन भेद किए गए हैं - 1. श्राव्य, 2. अश्राव्य और 3. नियत श्राव्य । लेकिन भारतीय आचार्यों ने एक और प्रकार का कथन माना है वह आकाशभाषित है । प्राचीन आचार्यों ने संवाद को दृश्य वस्तु भी कहा है ।

नाटक में कुछ अंश ऐसा होता है जो सबके सुनने लायक होता है, उसे श्राव्य कहते हैं । जो संवाद पात्रों को सुनने के लिए न हो लेकिन दर्शक सुन सकें वह अश्राव्य कहलाता है, इसी को स्वगत कथन भी कहते हैं । नियत श्राव्य वह होता है जिसे कुछ पात्र सुन सकें और कुछ न सुन सकें ।
अर्थात् :-

सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ।
सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतंगतम् च ।।
- दशरूपक

नियतश्राव्य कथोपकथन जो विशिष्ट व्यक्ति के ही सुनने के लिए व्यवहृत होता है, इसके दो भेद किए गए हैं - 1. जनान्तिक और 2. अपवारित । जिसमें तीन अंगुलियों - अंगुठा और कानी अंगुली के अतिरिक्त की ओट में एक-दो पात्रों को छोड़कर अन्य पात्रों से बात-चीत की जाती है उसे जनान्तिक नियतश्राव्य कहते हैं ।[1] अपवारित उसे कहते हैं जिसमें जिस पात्र से बात छिपाना हो, उसकी ओर से मुंह फेरकर बात की जाती है ।[2]

---

1. **धनिक धनंजय : 'दशरूपक', प्रथमः प्रकाशः कारिका,, 65 --**

द्विधाऽन्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तम पवारितम् ।
त्रिपताका करेणान्या न पवार्यान्तरा कथाम् ।।

2. अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ।
रहस्यं कथयतेऽन्यस्य परावृत्त्या पवारितम् । 66 ।।

पात्रों के अन्तर्मन की बातों को दर्शकों तक पहुंचाने के लिए स्वगत कथन अर्थात् अश्राव्य का प्रयोग सर्वत्र किया जाता रहा है । नाटक में विश्व परिस्थिति के आ जाने पर स्वगत-कथन बहुत लाभप्रद होता है । जिस अवसर पर उपन्यासकार टीका टिप्पणी से लाभ उठाता है, वही समय नाटककार के लिए स्वगत कथन मुख्य आधार बन जाता है । पाश्चात्य साहित्यकार इसे पुराना, अनुचित, अस्वाभाविक और हास्यप्रद मानते हैं । एलिजाबेथकालीन नाटककारों ने नाटक आरंभ करने का सरल ढंग स्वगत कथन को अपनाया है । पात्रों ने अमुक कार्य क्यों किया और क्या किया आदि मानसिक चिन्ताओं को दूर करने के लिए स्वगत कथन का प्रयोग किया । हमारे हिन्दी नाटकों में भी पहले स्वगत कथन बहुत और बड़े-बड़े होते थे । आधुनिक नाटककारों ने इसका प्रयोग कम कर दिया है । पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों में श्री बेकर भी इसके विपक्ष में हैं । उन्होंने कहा है कि वक्ता के जान-पहचान वाले व्यक्ति यदि रंग-मंच पर उपस्थित हों, ऐसी स्थिति में स्वगत कथन युक्ति-विरुद्ध है । आधुनिक नाटककार इब्सन ने तो स्वगत का पूर्णतः बहिष्कार कर दिया है क्योंकि कोई एक पात्र अकेला ही बहुत देर तक बड़बड़ाता रहे तो नाटक का नाटकीय सौन्दर्य बाधित होता है, अभिनय कमजोर पड़ जाता है और दर्शक ऊबने लगता है किन्तु भावावेश की स्थिति में मानसिक उलझनों - ऊहापोह की स्थिति में कभी-कभी स्वगत कथन बड़े ही प्रभावशाली प्रतीत होते हैं । अतएव स्वगत कथन को सौन्दर्य नाटककार की कुशलता पर निर्भर है ।

भारतीय आचार्यों ने एक प्रकार का और कथन माना है - आकाश-भाषित जिसका तात्पर्य है कि कोई अकेला पात्र रंगमंच पर ऊपर की ओर देखता हुआ बिना किसी दूसरे के कुछ कहे-सुने ही सुनने का नाट्य करता हुआ स्वयं ही प्रश्न भी करता है और उत्तर भी देता है । प्रश्नों को बार-बार दुहराता है, उसे आकाश-भाषित कहते हैं । धनिक धनंजय कृत 'दशरूपकम्' के प्रथम प्रकाश में लिखा है -

किं ब्रवीष्येवमित्यादि बिना पात्रं ब्रवीतियत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ।। 67 ।।

अर्थात् बिना किसी के बोले 'क्या कह रहे हो' आदि प्रश्नों का करता है और उसका उत्तर भी कुछ

---

1. जी.पी.बेकर : 'ड्रैमेटिक टेकनीक', पृष्ठ-390 .

मन से बनाकर बोलता है, यही क्रम चलता है, इसे आकाशभाषित के नाम से पुकारते हैं ।

यह पाश्चात्य देशों के नाटकों में दृष्टिगत नहीं होता । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'विषस्यविषमौषधम्' आकाश-भाषित संवाद का प्रयोग हुआ है । उनके 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में भी राजा हरिश्चन्द्र विकने के लिए काशी की गलियों में घुमते समय इसी आकाश-भाषित में कथन करते हैं, मानों किसी अदृष्ट व्यक्ति के प्रश्नों का उत्तर दे रहे हों । कभी-क़भी इसका प्रयोग नाटकों के लिए उपयोगी हो जाता है ।

द्वितीय अध्याय

पूर्व भारतेन्दु काल के नाटकों में संवाद

पूर्व भारतेन्दु काल : एक विवेचन

हिन्दी साहित्य में गद्य-परंपरा की धुंधली-सी रेखा तो इसके प्रारंभ में ही मिल जाती है फिर भी वह परंपरा स्वयं परंपरागत साहित्यिकता से दूर रह जाती है । उस गद्य का न तो साहित्यिक मुल्य है और न उनका कोई योगदान ही है । हिन्दी इतिहास परंपरा में वस्तुतः उनका मूल्य है और वह मूल्य सर्वांशतः विशेष है । पूर्व भारतेन्दु काल में कुछ कवियों ने अपने काव्यों में कथोपकथन का रूप जनता के सामने प्रस्तुत किया था । जनता की रुचि इस कथोपकथन की ओर आकर्षित हुई और जनता के सामने कथोपकथन के द्वारा मानवीय विचारों और व्यवहारों का विवेचन करना सरल प्रतीत होने लगा था । काव्य-ग्रंथों में कथोपकथन आ जाने के कारण ही शायद उन्हें नाटकों की संज्ञा दी गई । सर्वप्रथम कथोपकथन शैली में इस प्रकार की रचना सं. 1670 के आस-पास मिलती है । कथोपकथन की परंपरा को प्रफुल्लित होते देखकर हिन्दी साहित्यकारों ने अपना दृष्टिकोण बदल दिया और जीवन की आवश्यकताओं का स्पष्टीकरण जन समुदाय की भाषा के माध्यम से करना निश्चय किया । इस प्रतिक्रिया का ऐसा प्रभाव हुआ कि काव्य में प्रयुक्त कथोपकथन के पद्य पक्ष का स्थान गद्य ने बड़ी ही निर्भीकता से ग्रहण कर लिया ।

पूर्व-भारतेन्दु-काल का आरंभ लगभग 17 वीं शताब्दी में होता है और यह 19 वीं शताब्दी तक चलता है । अठारहवीं शताब्दी के अंत में कुछ पौराणि नाटकों में भी सबसे अधिक राम के जीवन से संबंधित है । इस काल में प्रेम नाटक, आध्यात्मिक नाटक ता लक्षण व लीलाओं से संबंधित नाटकों पर जोर दिया गया ।[1] लीलाओं में नृत्य एवं गीत की प्रधानता है । कथानक बहुत सुक्ष्म है । कुछ संवाद भी जैसे शुक-संवाद (1738 ई.) इस काल के प्राप्त होते हैं । चित्रकूट निवासी सदाराम ने नाटक 'दीपिका' नामक नाट्यशास्त्र ग्रन्थ लिखा ।[2] किन्तु यह ग्रन्थ अप्राप्य है ।

---

1. डॉ. दशरथ ओझा - हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास, पृष्ठ-127 ।
2. हिन्दी में नाट्य साहित्य का विकास (पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र), पृष्ठ-30 ।

पूर्व भारतेन्दु काल के प्रमुख नाटकों में संवाद

1. रामायण महानाटक (1610 ई.)

ब्रजभाषा का पहिला प्राप्त नाटक कविवर प्राणचन्द का 'रामायण महानाटक' कहा गया है । यह तुलसीदास जी के रामचरित मानस की शैली पर लिखा गया है । इस महानाटक में 10 अर्धाली या 5 चौपाइयों के बाद दोहे का क्रम है ।

नाटककार प्राणचन्द के महानाटकों में तुलसी के ही समान संवादों में राम की प्रशंसा की गई है -

लंका दीन्ह विभीषण काजा । बालि मार सुग्रीव नेवाजा ।।
रावण पूजे सीस लगाई । सेवा कीन चरण चित लाई ।।
दस सिर रावन देह करि । पायेउ लंकाक राज ।।
पाऊं छुअत सो पायेउ । राम गरीब नेवाज ।।

(अंक - 6)

पूर्व-भारतेन्दु नाटकों का परिचय व संवाद

2. हनुमन्नाटक (लेखक का. सन् 1623 ई.)

इस नाम से चार नाटकों का वर्णन विभिन्न लेखकों ने किया है । सबसे पहला नाटक पंडित बालभद्र मिश्र कृत है । ये ओरछा के सनादय ब्राह्मण पंडित काशीनाथ के पुत्र और प्रसिद्ध कवि केशवदास के बड़े भाई थे । इनका रचना काल सन् 1583 के लगभग है । बलभद्र मिश्र कृत 'नख शिख की टीका करते हुए सन् 1834 ई. में गोपाल कवि ने इस नाटक का उल्लेख किया है ।[1]

---

1. हिंदी साहित्य का इतिहास - ले. रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ-249

दूसरे नाटक के लेखक 'राम' हैं । इनका रचनाकाल सन् 1673 के लगभग है ।[1] इस ग्रंथ के विषय में भी कुछ विशेष पता नहीं । तीसरे लेखक 'मंजु' हैं ।[2] परन्तु इनके हनुमान नाटक के विषय में भी जानकारी नहीं है । यह नाटक 19वीं शबाब्दी का है ।

चौथा नाटक हृदयराम का है । अपना संक्षिप्त परिचय देते हुए उन्होंने नाटक के अन्त में लिखा है :-

संवत् विक्रम नृपति सहस षट शंत असीरवर ।
चैत्र चांदनी दूज छत्र जहंगीर सुभट पर ।
शुभ लच्छन दच्छन सुदेश कवि राम विच्छन,
कृष्णदास तनु कुल प्रकाश जस दीपक रच्छन ।
रघुपति चरित्र तिन यथामति प्रगट करयो शुभ लगन गण ।
दे भक्तिदान निरभय करहु जय रघुपति रघुवंश मण ।।

इसके अनुसार यह राम के भक्त थे और विक्रम संवत् 1680 अर्थात् सन् 1623 ई. में इन्होंने 'हनुमन्नाटक' की रचना की जिस समय सम्राट जहांगीर विराजमान थे ।

हमारे हिन्दी कविहृदय राम के हनुमन्नाटक का आरंभ प्रथम अंक से होता है परन्तु उसमें न तो कोई सुत्रधार आता है और न नटी ही । बिना किसी प्रकार के नान्दीपाट या अन्य नाट्यशास्त्र के नियमों का ध्यान रखे कवि आरंभ कर देता है : रघुपति के गुणगान की इच्छा करते हुए कहा है -

तीनों लोकपति प्राणपति प्रीति ही में रति,
अगनित गती के चरण शिर नाइहौं ।

---

1. हिंदी साहित्य का इतिहास - ले. रामचन्द्र शुक्ल, पृ-316
2. आधुनिक हिंदी साहित्य - ले. डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ.-108

सदा शीलपति सतपति एकनारीव्रत,
शिव सनकादिपति यशहि सुनाइहौं ।
सुरपतिहू के पति जानकी के पति, राम,
नैर कोर और कबहूं तो पर जाइहौं ।
फुरे वाकपति सुनो संत साधुमति तब,
ऐसे रघुपति के कछुक गुण गाइहौं ।

अपने ऐसे चरित्रनायक के पूर्वजों की कथा न कहकर लेखक एक कवित्त में ही अपने समस्त नाटक की कथा का सार कह डालता है -

ऋषि संग जाइबो, धनुष चटकाइबो,
धरनिजा बिबाहिबो, बड़ो ही यश पाइबों ।
धाइबो परशुराम गल में सिसाइबो,
उलट बन जाइबो, श्रीराम राज गाइबो ।।
बाट को सिधाइबो, जनकजा चुराइबो,
समुद्र को पटाइबो, लंकापति धाइबो ।
वीर तीय संग ले पलट धर आइबो,
सु ऐसो रामचन्द्र गीत तुम्हें है सुनाइबो ।।

इस कवित्त से स्पष्ट हो जाता है कि कवि नाटक का आरंभ राम जन्म से नहीं करना चाहता वरन ऋषि विश्वामित्र के अयोध्या-आगमन से श्रीगणेश करने की उसकी इच्छा है और ऐसा ही किया भी गया है । इस पुस्तक का नाम 'राम-गीता भाषा' है क्योंकि उसका उद्देश्य रामचन्द्र-गीत सुनाना है । इस नाटक में 14 अंक हैं । पहिले का नाम सीता-विवाह अंक है ।

पहिले अंक में जनक के पुरोहित द्वारा राजा की प्रतिज्ञा सुनाने पर रावण की दूत उनसे सीता को अपने स्वामी के लिए मांगता है । संवादों द्वारा अपने स्वामी की शक्ति और सामर्थ्य की बड़ाई

उसके प्रत्येक शब्द से टपकती है । रावण के संबंध में सुनकर बहुत ही उचित उत्तर महाराज जनक उसके दूत को देते हुए कहते हैं -

"गुरू को घर तोलत लाज भई न,
कमान चढ़ावत लाज मरे ।"

राजाओं की असफलता पर :-

"श्री रघुवीर कही सब सों भई वीर विना छिती रोई पुकारी ।
देखहु हाथ लगाय सबै भट नाक चली कट नाक तुम्हारी ।।

यह कथन भी अपनी विशेषता रखता है । तुलसीदास ने 'वीर विहीन मही मैं जानी' शब्द राम से न कहला कर जनक से कहाये हैं और उनका ही ऐसा कहना उपयुक्त है ।

दूसरा अंक 'रामचन्द्र वियोग' अंक है । कथा की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं है । मंथरा की सृष्टि की आवश्यकता लेखक को नहीं पड़ी । कैकेयी ने संवाद-शिल्प द्वारा अपना काम स्वयं कर लिया है । केवल इतना ही नहीं **"दौर के पौर में बोली वसिष्ठहिं राम चितै यह बात सुनाई; मोहि दिये वर है, इनको बन, मो सुत को अपनी ठकुराई ।"** और यह सुनकर जब वशिष्ठ जी ने कहा - **"राम चलो राजा से पूछें तो, कि यह कया बात है । पहले आपका विचार और था और अब और हो गया"** तो झट उनकी सौगन्ध खाकर कैकेयी बोल उठी :-

"भूप कही जिन मोहिं मिले, बन जाय बसो कहु जाय पुकारी ।"

तीसरा अंक 'कपट मृगागमन है' है । चौथे अंक में 'सीताहरण की कथा' है । इसमें भी मंदोदरी को लाकर लेखक ने संवादों से उसकी प्रवृत्ति का आभास दे दिया है :-

"तौं लग रावन है जुमिया, सिय के ढिग गोरख नाद जगायो ।"

इस संवाद से यह पता अवश्य चलता है कि नाटककार के समय में गोरख-पन्थियों का कितना प्रभाव था और 'गोरख जगाना' वाली उक्ति का कितना अधिक प्रचार हो गया था ।

पांचवां अंक 'बालि-वध' की कथा से सम्पन्न है और उसमें सीताहरण के कारण राम-विलाप में कवि ने बड़े अच्छे संवादों का प्रयोग किया है । जिससे बाली का चरित्र भी अच्छा उतरा है ।

छठा अंक 'हनुमल्लंकादहन' का है । हनुमान के चरित्र की एक बड़ी स्वाभाविक विशेषता का वर्णन कवि ने इस अंक में किया है -

"जो विजि है रघुवंशमणि ह्यां तो यश ले जाऊं ।
प्राण रहे कै यश रहे, दो में एक कमाऊं ।।"

'बड़ो बांदर कहाइहौं' की महत्वाकांक्षा हनुमान के चरित्र को केवल भक्ति ही नहीं रहने देती, विकट कार्य करने की प्रेरणा भी प्रदान करती है ।

सातवां अंक 'सिंध-सेतु-बंधन' है । सुग्रीव एवं अंगद का यह कह कर अपना वीरत्व और व्यक्तित्व प्रदर्शित करना :-

'नाथ हम सागर की गैल कैसे चलें अरू,
तुम ही विचारो यामे कौन बात ओप की ।
किधौं या के बांधवे को हैं न बलवन्त हम,
किधौ हनुमान हूं के आगे पति लोप की ।।"

बड़ा सुन्दर और स्वाभाविक संवाद है ।

आठवां अंक 'रावण-अंगद संवाद' है । यह अंक भी संवादों की दृष्टि से अच्छा है और शक्तिशाली भाषा में लिखा गया है । 9वें अंक का नाम 'मंत्री उपदेश' है । इसमें रावण और मंदोदरी के संवाद हैं । मंदोदरी बड़े तर्क और बुद्धि के साथ रावण को समझाती है परन्तु रावण तो एक भी नहीं मानता, बल्कि कहता है :-

"मत्रिन को और नारि को, देखत एक विचार ।"

10वां अंक 'रावण प्रपंच रचना' का है । रावण अपनी माया से राम और लक्ष्मण के मरने का समाचार ले कर सीता के पास जाता है । सीता राम को मरा जानकर विलाप करती है और जैसे ही उनका सिर छुने के लिए आगे बढ़ती है कि आकाशवाणी होती है :-

"शोक तज एकमात्र, राम कैसे रावण के हाथन समायेंगे

11वां अंक 'कुंभकर्ण वध' है । 12वां अंक 'इन्द्रजीत वध' है । 13वें अंक का नाम 'लक्ष्मण जीवन' है । इस प्रसंग में राम का भ्रातृ-वियोग-विलाप बड़ा ही करूण है । अयोध्या में भरत द्वारा जब लक्ष्मण की मूर्च्छा का समाचार कौशल्या तक पहुंचता है तो वह भी मूर्च्छित होकर गिर जाती है और यही संदेश कहकर हनुमान को भेजती है :-

"मेरी कही राम सों कहियो । तुम लछमन बिन जियत न रहयो ।
फिर आवहिं तो दोनों भाई । जूझो रण चौगुनी बड़ाई ।
कहियो कपि रण पीठ न दीजो । जूझ काम अर्जुन सो कीजो ।।"

14वां अंक 'रघुनाथ राज्याभिषेक' अंक है । मूल संस्कृत और हिन्दी हनुमन्नाटक में कथा-विस्तार और रूप, आकार आदि की समानताओं की अपेक्षा विभिन्नतायें अधिक है ।

3. समयसार नाटक (लेखक का. सन् 1636 ई.)

इसके लेखक बनारसीदास जी हैं जिनका जन्म सन् 1586 ई. में हुआ था । आरंभ के 51 छन्दों में कवि ने उन सब प्रसंगों का वर्णन किया है जो नाटक समयसार को समझने के लिए आवश्यक है । इस नाटक में 13 अधिकारों का तात्त्विक वर्णन है । उसके 51 छंदों में संवादों की समीक्षा कर वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं :-

1. श्री पार्श्वनाथ जी स्तुति - 3 छंद, संख्या 1 से 3 तक
2. श्री सिद्ध स्तुति - 1 छंद, संख्या 4
3. श्री साधु स्तुति - 1 छंद, संख्या 5
4. सम्यग्दृष्टि स्तुति - 3 छंद, संख्या 6 से 8
5. मिथ्या दृष्टि लक्षण - 1 छंद, संख्या 9
6. अनुभव वर्णन, लक्षण और महिमा - 4 छंद, संख्या 16 से 19
7. समयसार नाटक की महिमा - 1 छंद, संख्या 15
8. जीव, पुद्‌गल. धर्म, अधर्म, आकाश, और काल आदि 6 द्रव्यों का स्वरूप - 6 छंद, संख्या 20 से 25
9. जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष नामक 9 पदार्थों का वर्णन - 9 छंद, संख्या 26 से 34

10. वस्तु के नाम - 1 छंद, संख्या 35

11. शुद्ध जीव, सामान्य जीव, काल, पुण्य, पाप, मोक्ष, बुद्धि, विलक्षण, पुरूष, मुनीश्वर, दर्शन, मन, और चरित्र, सत्य, और झुठ के नाम - 15 छंद, संख्या 36 से 50

12. नाटक समयसार में एक छंद कवि-लघुता संबंधी वर्णन - 1 छंद, संख्या 51

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले बनारसीदास जी के समयसार नाटक को या तो कहते हैं - कुन्दकुन्दाचार्य कृत ग्रन्थ का सार है ।[1] अथवा उनका मत है कि यह 'कुंदकुंदाचार्य' के ग्रंथ का भाषान्तर है ।[2]

उदाहरण के लिए 'जीव अधिकार' प्रकरण को ही लीजिए । पाहुड़ की पहली गाथा इस संबंध में यह है -

परन्तु समयसार नाटक का पहला छन्द है :-

"शोभित निज अनुभूतिजुत चिदानंद भगवान ।
सार पदारथ आतमा, सकल पदारथ जान ।।"

इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी संवादों में भेद है । ऐसी दशा में समयसार नाटक को कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थ का भाषान्तर मानना भूल है ।

4. प्रबोध चन्द्रोदय (लेखक काल सन् 1643 ई.)

यह एक संस्कृत नाटक है जिसके लेखक कृष्ण मिश्र हैं । हिन्दी में इसके कई अनुवादों का उल्लेख मिलता है ।

---

1. रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.-269
2. ब्रजरत्नदास -हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ.-53

1. प्रबोध चन्द्रोदय - महाराज जसवंत सिंह जी (सन् 1626-1678) कृत, जिसका रचना काल 1643 ई. के लगभग है ।[1]

2. प्रबोध चन्द्रोदय - अनाथदास कृत, इसका रचना काल सन् 1669 ई. है ।[2]

3. प्रबोध चन्द्रोदय - आनन्दकृत, इसका रचना काल सन् 1783 है । नाम 'नाटकानन्द' रखा है ।[3]

4. प्रबोध चन्द्रोदय - जन अनन्यकृत, इसके रचना काल का पता नहीं चलता ।[4]

5. प्रबोध चन्द्रोदय - सुरति मिश्र कृत, इसका रचना काल सन् 1703-43 के लगभग है ।

6. प्रबोध चन्द्रोदय - ब्रजवासीदास कृत, इसका रचना काल 1759 है ।

पुस्त के मूल लेखक अनाथदास जी हैं । इसमें कुल मिलाकर 25 अध्याय है । प्रत्येक अध्याय के आरंभ में शिष्य एक समस्या को लेकर प्रश्न करता है और फिर गुरू उसका उत्तर देते हैं ।

अतएव पुस्तक में गुरू-शिष्य संवाद के रूप में भिन्न प्रसंगों पर प्रकाश डाला गया है - विवेक, आनन्द और दुख की उत्पत्ति, प्रवृत्ति परिवार वर्णन, निवृत्ति परिवार वर्णन, मनसिज मन भ्रमण, वस्तु विचार काम युद्ध वर्णन, धैर्य, क्रोध, क्षमा संवाद वर्णन, लोभ सन्तोष युद्ध वर्णन, दम्भ सत्य युद्ध वर्णन, गर्व शील संवाद, धर्माधर्म संवाद, न्याय कुन्याय युद्ध, मोह सेना वर्णन, नृप विवेक सेना वर्णन, मोह विवेक युद्ध वर्णन, परोक्ष-अपरोक्ष की कथा, बोध प्राप्ति आदि ।

हिन्दी का सबसे प्रथम नाटक जसवंत सिंह जी का प्रबोध चन्द्रोदय अनुवाद है ।

---

1. हिंदी नाट्य साहित्य - ब्रजरत्नदास कृत, पृ. - 55
2. हिंदी नाट्य साहित्य - ब्रजरत्नदास कृत, पृ. - 55
3. हिंदी नाट्य साहित्य - ब्रजरत्नदास कृत, पृ. - 56
4. हिंदी नाट्य साहित्य - ब्रजरत्नदास कृत, पृ. - 56

5. करूणाभरण (ले. का. सन् 1657 - 1659 ई.)

रामायण महानाटक वाली शैली में कृष्ण जीवन लछिराम ने करूणाभरण नाटक लिखा । पूर्व भारतेन्दु युग का यह विशिष्ट और मौलिक नाटक है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाटक बहुत लोकप्रिय हुआ क्योंकि केवल यही अकेला नाटक है जिसके पहाड़ी शैली के 17 चित्र प्राप्त हुए हैं । ये चित्र चैत्रिकों के चित्राभिनय के लिए संभवतः निर्मित हुए थे ।

नाटक का कथानक प्रवहमान और शृंखलित है । इसमें अधिकारिक कथा है - राधा का कृष्णमिलन । करूणाभरण नाटक सात अंकों में विभाति है - राधा अवस्थांक, ब्रजवासी अवस्था, सत्यभामा अवस्था, राधा अवस्था, राधा मिलन, नित्य विहार और अद्वैत है । पहिले अंक में प्रासंगिक कथा है जिसमें ब्रजवासियों को कुरूक्षेत्र में कृष्ण के आने का ज्ञान होता है । शेष पांचों अंकों में अधिकारिक कथा है । सातवां अंक बाद में जोड़ा हुआ प्रतीत होता है ।

पात्र और चरित्र-चित्रण रूपी संवाद :-

कहानी उपन्यास में घटना पर अधिक ध्यान दिया जाता है, नाटक में कथा के साथ पात्र को भी महत्व मिलता है । उसके चरित्र पर भी विशेष दृष्टि दी जाती है । इस नाटक में पात्रों के चरित्र पर ध्यान रखा गया है । सत्यभामा आरंभ मे ही ईर्ष्यालु स्त्री के रूप में चित्रित हुई है और अन्त तक उसका यही चरित्र चित्रित है । इसके विपरीत रूक्मणी जी के हृदय में सहानुभूति और अनुराग भरा है । विशेष प्रकाश राधा के चरित्र पर डाला है ।

एक ग्वाले ने जाकर श्रीकृष्ण के आने की सम्पूर्ण कहानी लाज की मारी राधा से कही । राधा आरंभ से करूणा की कमनीय मूर्ति हैं, वे वियोग-विधुरा नायिका हैं । जब वे सुनती हैं तो व्याकुलता के कारण कभी उनका शरीर सफेद हो जाता था और कभी फिर उदास हो जाती थी कभी नीची दृष्टि करके श्याम का ध्यान करती और उल्टी सांस चलने लगती -

"कबहूं बदन स्वेत ह्वै जावै । कबहूं मिलन सरस सुष पावै ।
नीची नारि पवन तन हेरे । उलटि उसांस सकल घट घेरे ।।"

करूणाभरण - अंक - 1

और कभी कहती -

"कित यों कान्ह करो ठकुराई ।
प्रीत प्रतीति न मन ते जाई ।।" (32)

आगे लेखक ने हृदय की द्वन्द्वात्मक झांकी दी है । यह भी कृष्ण से मिलने को चली ।

अभिसारिका नायिका प्रियतमा से मिलने जा रही है -

"राधा विरह तपत की ताई । कंपति चंपति हरि दिग आई ।। (38)
नेह ननि ते तातो जल परे । घुंघट भीतर भरकी भरै ।।" (39)
(अंक 4)

सब सखियां कृष्ण से मिल रही थीं । कृष्ण ने राधा को कैसे पहचाना

"ते अंसुआं हरि पग परें । मनो अगनि की चिनगन झरे ।
× × × ×
छुबे छुबे दृग सीतल पानी । इन लछिन राधा जानी ।" (40)
- (अंक-4)

इन लक्षणों से राधा पहचानी गई ।

छठे अंक में राधा के चरित्र पर विशेष बल दिया गया है । सब बृजवासी घर जाने को प्रस्तुत है क्योंकि अधिक विलम्ब से राजनीति का क्षय हो रहा था । यह सुनकर सब व्याकुल हो गए । राधा ने भी हठ ठान ली और अकाल ही मृत्यु की बात सोचकर -

"यह कहि कूदि सरोवर परी । सीतल भई परम जुर जुरी ।।
× × × ×
कूकि कूकि रोवै अकुलाई । महा विरह दुख कौन पे जाई ।" (24)

इस पर सत्यभामा क्रुद्ध कर कहने लगीं -

"मरत जिवत संग छोड़त नाहीं । जे लछिन कुल नारि न मांही ।" (28)

राधा ने यह सुनकर प्रेम का पाठ पढ़ाने लगी और ईर्ष्यालु सत्यभामा को डांटकर प्रेम की महत्ता प्रतिपादित करती है । दोनों की नोक-झोंक देखकर हरि ने स्वयं ही सत्यभामा से कहा -

"सति भामा सत इन करी । इह प्रीतम सिर मोर ।।
याकी गति कछु और है । तेरी गति कछु और ।। (48)

और 'नित्य-विहार' का वरदान लेकर राधा बाहर निकली और वृन्दावन आ गईं ।

राधा के बाहर निकलने पर रुक्मणि जी ने वस्त्र पहनाये -

"श्री रूकमनि सुख पाई के । पहिराये नव चीर ।।" (55)

मनोविज्ञान और अन्तर्द्वन्द्व -

पात्रों का चरित्र-चित्रण मनोविज्ञान के आधार पर किया गया है । प्रिय मिलन की आतुरता और हड़बड़ाहट में गोपियां नेत्रों में महावर दे लेती हैं और पैरों में अंजन । मिलन में भी इसी मनोविज्ञान का चित्रण मिलता है -

"इक मन दुषित उरासे लेही ।
एक कहे जो मोहिं दिखावै, सो मेरे आभूषन पावे ।।"

राधा और सत्यभामा स्त्रियोचित मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग करती हैं । जैसे -

"परकों सेन्दुर देखि के अपनो फोरति भाल, विषभरि
पेट कटारी करौं, खिझि खिझि चितवति नैन निकोरनि,
जग उपहास मूड़ि धरि लीनों, इन लिलियन पर तेल वे नाहीं,
पकरे रहो नेम के खूंटा, देखो किहि विधि बैठा ईंटा,
घुसे न घास घुसे री आग, कन्त न पूछै बातरी घरयो सुहागिन नाम, इत्यादि ।

हार्दिक द्वन्द्व की सुन्दर झांकी भी नाटक के संवादों में मिलती है । राधा ने सुना - द्वारिकाधीश कृष्ण पधारे हैं । उसके हृदय की बड़ी बुरी दशा है लेखक ने राधा के हृदय के द्वन्द्व

को बड़ी सूक्ष्मता से नाटक में लेखनीबद्ध किया है -

कबहूं आसा मिलन सुख कबहूं होति उदास ।

इस नाटक में अधिकांशत संवाद सरस और चुटीले हैं । राधा श्यामा का संवाद तो बड़ा स्वाभाविक और सुन्दर है । इसमे क्रोध, मद और मोह के परिणाम के विषय में भी संवाद प्रस्तुत किए हैं जिनमें बताया गया है कि इस संसाद मे जो विभिन्नता दिखाई देती है वह भ्रम है । सब कुछ एक ही है और तथा सब ब्रह्ममय है और इसलिए 'द्वैत' भाव को छोड़कर 'अद्वैत' का अनुसरण करना चाहिए ?

- अंक 7

रस :-

समस्त नाटक ब्रजभाषा में लिखा गया है मुख्य छन्द दोहा तथा चौपाई हैं । कविता सजीव है और उसमें शृंगार के अन्तर्गत वात्सल्य और विरह आदि भावों तथा करुण रस का अच्छा निर्वाह संवादों द्वारा किया गया है । नाटककार स्वयं कहता है कि करुण और शृंगार भरा यह नाटक मैंने लिखा है ।[1] वास्तव में पूर्व भारतेन्दु युग का यह अकेला कृष्ण-संबंधी नाटक है जिसमें करूणा की पावन गंगा बहाई गई है ।

आरंभ :-

आरंभ में राधा, गोपियां, गोप, नन्द, जसोदा - कृष्ण के वियोगी दिखाये गए हैं । मिलन मे भी टीस भरी है । राधा के नेत्रों से गर्म आंसू बह रहे हैं, मानो आग की चिनगारियां हैं ।

मिलन समय :-

"परत परर आवै पर सेव,
छूटे कहा लग्यो हरिदेव ।"

---

1. करुणा अरु श्रृंगार रस, जिहि बहुत करि होय
(अंक-6)

मध्य :-

सब संसार सुख से सोया है, पर वियोगिन राधा करवटें बदल रही है - (अंक 5) । राधा से कृष्ण आकर जब मिले तब राधा को शान्ति मिली ।

अन्त :-

जब कृष्ण ने ब्रजवासियों से कहा कि ब्रज वापस जाओ, गोपियां मुरझा गईं । वासुदेव-देवकी, नन्द-यशोदा आंसू बहाने लगे ।

अन्त में द्वारिका को रूक्मणी जाती भी हैं तो अपना मूल धन गवांकर खिन्न, दुखी और उदास । कृष्ण को दैवी रूप से राधा ले आती हैं, परन्तु अन्य ब्रज के लोग इस बात को नहीं जानते थे, और सब गोप-गोपियां, नन्द-यशोदा दुखी थे । इसीलिए नाटककार ने इसका नाम भी करूणा नाटक[1] या करूणाभरण नाटक लिखा है । करूण रस का सहायक है शृंगार । मिलन भी शृंगार के ही अन्तर्गत है । गोपों का मिलन, गायों और गोपियों का मिलन, सब शृंगार के अन्तर्गत हैं । ललिता कृष्ण से मिली तो उसने पैर पड़ते-पड़ते पैर की चिकुटी भर ली -

"पाइन परती चिहुंटिया लीनी । प्रीति पुरातन परगट कीनी ।। " (अंक-5)

रात्रि में राधा कृष्ण मिलन हुआ । लेखक संयोग शृंगार का वर्णन कर कहता है - " यह रस रीति कही नहीं जाई ।" राधा-कृष्ण वृन्दावन में "निसि दिन भोगैं भोग"एवं सदा विहार करते हैं । अन्त भी इसी दैवी शृंगार पर होता है । इस प्रकार करूण रस के साथ शृंगार रस का गठबन्धन हुआ है ।

जन्मभूमि स्नेह :-

लेखक ने अपने संवादों में 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की महिमा भी प्रदर्शित की है । कृष्ण को पता चला कि ब्रजवासी कुरूक्षेत्र आये हैं - 'जनमभूमि की सब सुधि करी' (अंक - 3) । नेत्रों में बरसात उमड़ पड़ी, कंठ गदगद हो गया और वेसुध हो गए ।

---

1. करूणा नाटक अमृत वानी (अंक 6) काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 286 संख्यक ।

6. शकुन्तला उपाख्यान (ले.का. सन् 1680 ई.)

नेवाज कवि कृत शकुन्तला ने हिंदी जगत में अच्छी ख्याति जाइ है यह नाटक संसार प्रसिद्ध महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् का छायानुवाद कहा जा सकता है । नेवाज कवि, शाहजादा आजमशाह (1653-1707 ई.)[1] के आश्रित कवि थे । अपने आश्रयदाता की आज्ञा से नेवाज ने शकुन्तला नाटक भाषा में लिखा ।[2] नेवाज का यह नाटक सुन्दर और सरस है.। मूल संस्कृत के नाटक में 7 अंक हैं । कविवर नेवाज ने 4 ही अंकों मे नाटक समाप्त कर दिया है । मूल नाटक में मेनका प्रसंग पहले अंक के अंत में केवल आधे पृष्ठ में वर्णित है जबकि कविवर नेवाज आरंभ के चार पृष्ठ इसी से रंगते हैं । इस प्रकार यह अभिज्ञानशाकुन्तलम् का अनुवादमात्र नहीं है ।

इस नाटक में 4 अंक है, पहला अंक कौशिक मुनि की घोर 64 वर्षीय तपस्या वर्णन से । इन्द्र ने डरकर मेनका अप्सरा को बुलाकर और किसी प्रकार ऋषि की तपस्या भंग करने का आग्रह करता है । उत्तर में इस गर्वोक्ति के साथ -

"और की कहा है ब्रह्म, हरिहर हू को जो कहो तो मनमथ बस काम करि आऊं सो ।"

16 शृंगार और द्वादश आभूषणों से युक्त मेनका विमान से चढ़कर पृथ्वी पर आई और 'मूरति बनाई निज मोहनी, मुनि के मन मोहन चली ।' मेनका का इन्द्रवांछित प्रभाव पड़ा और -

"एक महूरत के सुख कारन, खोयो तपु करि वर्ष हजारन ।
गर्भ मेका कीन्हों धारन, तब सो मन में लगी विचारन ।
नर गर्भहिं लै के जो जाऊं, तो सुरपुर में पैठि न पाऊं ।
भई सुता नौ मास भये जब, गई मेनका सुरपुर को तब ।।"

इस प्रकार जन्मी शकुन्तला को कण्व ऋषि ने पाला । कुछ दिनों बाद कण्व तीर्थयात्रा को

---

1. हिन्दी नाट्य साहित्य पृ. -59
2. आजिम खान निवाज को दीनी यह फुरमाई ।
   साकुन्तल नाटक हमें भाषा देहु बनाई । (7)
   आजम खां के हुकुम तें सुकवि ने वाज बिचारि ।
   कथा संस्कृत की सकल भाषा लई उतारि ।। (8)

चले गए और शकुनतला से कहते गए - "खाने के समय गौतमी से कहना, कोई ऋषि आवें तो उनका आदर करना, हृदय में उदास न होना । मैं कुछ दिनों में आऊंगा, तब तक आनन्द से रहना ।" शकुन्तला के यौवन का आरंभ हुआ उधर दुष्यन्त का ।

दुश्यन्त के आने पर पेड़ की छाया में आकर बैठने और आतिथ्य स्वीकार करने की अनुसूया ने प्रार्थना की । सब वृक्ष की छाया के नीचे बैठे और -

"हिये में महीप के शकुन्तला समानी सो
शकुन्तला के हिये में समानो महीपाल है ।"

आगे अनुसूया और दुष्यन्त के बीच संवाद -

अनुसूया अतिथि का नाम पूछने लगी । इस पर दुष्यन्त ने अपने को 'दुष्यन्त का चाकर' बताया और प्रश्नों की फिर झड़ी लग गई -

"मुनिवर याहि ब्याहि कहु दैहैं, कै अब यासो तप करवै हैं ।
याको अंग न है तप लायक, कहा बिचारि कियौ मुनिनायक ।
तब अनुसूया उत्तर दीन्हो, कण्व महामुनि यह प्रन कीन्हो ।
शकुन्तला सम सुन्दर ह्वै हैं, करिहों शकुन्तला जो कहि है ।"

लेखक ने दो दोहों में शकुन्तला और दुष्यन्त के मन की व्याकुलता को प्रकट कर जाती हुई शकुन्तला का वर्णन किया है ।

दूसरे अंक का आरंभ शकुन्तला और राजा दोनों के विरह वर्णन से होता है । शकुन्तला और उसकी सखियों की बातचीत -

"जा तिन तें वह बन रखवारो,
दरसन देके फिर न सिधारो ।
ता दिन तें बिसरी सुख हांसी,
रहत गहें दिन राति उदासी ।।"

इस प्रकार शकुन्तला के विरह का कारण ज्ञात होने पर सखियां उसे सलाह देने लगीं -

अपनी व्यथा प्रगट करने वाली एक पत्रिका लिखकर राजा को भेजो । शकुन्तला के मन में सन्देह हुआ 'उत्तर न दें तो'इस पर अनुसूया ने उसे समझाया । शकुन्तला ने कमलपत्र पर नाखुन से लिखा और पढ़कर सखियों को सुनाने लगी और राजा पेड़ की आड़ से निकल शकुन्तला से कहने लगा -

"निशि दिन रहत अचेत, घर जैबो भारू भयो ।
एक तिहारे हेत, बनवासी हमहू भये ।"

राजा को देखकर शकुन्तला उठने लगी परन्तु राजा ने बांह पकड़कर उसे बिठा लिया और कहा - "ऐसी गरमी में कहां जाओगी ? ऐसी शीतल छांह छोड़कर । क्या हुआ यदि सखियां चली गईं, मेरे जैसे सेवक तो तुम्हारे पास हैं । फिर सखियां तुम्हें मुझको सौंप गई हैं । जो सेवा लेनी हो मुझसे लो । कहो अगर चन्दन घिसि ल्याऊं, कहो तो शीतल पवन डुलाऊं ।"

गौतमी के आने पर दुष्यन्त पेड़ की आड़ में छिप गए । शकुन्तला फिर से बहाना कर दुख-शय्या पर पड़ गई । गौतमी ने ताप कम होने के संबंध में पूछा । उसने उत्तर दिया 'हां', अब कम है ।"

शकुन्तला के गौतमी के साथ जाने पर राजा विरह-पीड़ा का अनुभव करने लगा । इसी बीच में ऋषियों का नाद सुनाई दिया - "हमारे यज्ञों में बाधा डालने वाले दानवों की छाया दिखाई देती है । राजन तुम कहां हो ?"

ये शब्द सुनकर वियोग की पीड़ा हृदय में लेकर राजा उनकी रक्षा करने के लिए तैयार हो गया ।

तीसरे अंक में शकुन्तला की विरह व्यथा और अधिक बढ़ने लगी । इसी अवसर पर दुर्वासा ऋषि ने प्रवेश किया और आतिथ्य सत्कार न होने के कारण शाप देकर चले गए । उनका कथन -

"सुधि तेरी न सो करिहै कबहूं
यह श्राप सिताब दे जात रहे ।"

जब शकुन्तला को लेकर गौतमी शिष्यों के साथ दुष्यन्त के दरबार में गईं तब घूंघट की ओट से शकुन्तला ने राजा की ओर देखा । रसमग्न हो राजा पूछने लगा -

"को यह नारि, कहां ते आई । बन में मुनिन कहां यह पाई ?"

सारा वृत्तान्त सुन राजा को आश्चर्य हुआ । उसने ऋषि आदि का कुशल क्षेम पूछी । शिष्यों ने ऋषि का सन्देश सुनाकर विदा मांगी । राजा कहने लगा - "किसने ब्याह किया है ? मुझे तो याद नहीं ।" शिष्य कुपित हो राजा को धर्म-अधर्म का उपदेश देने लगे । इतने में गौतमी ने शकुन्तला से कहा -"अपना घूंघट उघाड़ कर तो जरा राजा को दिखाओ ।" राजा देखकर न तो **'हां'** कर सका और न ही **'ना'** । थोड़ी देर बाद कहने लगा - "मैंने तो इसे स्वप्न में भी नहीं देखा, मुझे याद नहीं कब मैंने विवाह किया था । गर्भवती दूसरी स्त्री को घर में कैसे रख लूं ?"

शकुन्तला के कहने पर :-

"महाराज यह नीति कहा है, याते अधरम होत महा है ।
या में कहो कहा तुम पावत, क्यों बिन काज कलंक लगावत ।।"

राजा ने उत्तर दिया :-

जो मैं लखन अमैंठी पाऊं, तो मैं तुमहि सांच ठहराऊँ ।"

राजा के न अपनाने पर शिष्य व गौतमी उसे वहीं छोड़कर जाने लगी । शकुन्तला रोती हुई उनके पीछे चली । वह कहने लगी - "अभागिनी यहां कहां आ रही है, जो मन में आवे कर । यदि तु ऐसी ही है जैसा राजा ने कहा है तो मुनि ऐसी कन्या का क्या करेंगे ? आदि । राजा ने भी पुकारकर कहा "इसे यहां क्यों छोड़े जाते हो ?" तब राजमंत्री कहने लगे - "जब तक पुत्र न हो , यह मेरे घर में रहे । यदि चक्रवर्ती पुत्र हो तो इसकी बात सच माननी चाहिए । यदि और तरह की हो तो फिर मुनि के घर जावे ।" राजा ने उत्तर दिया - "जैसी तुम्हारी इच्छा हो ।" शकुन्तला सोमराज के साथ जब जाने लगी तभी एक आग की लपक-सी आ गई और मेनका शकुन्तला को उठाकर ले गई । मंत्री ने जब आकर यह समाचार राजा को सुनाया तब वह कहने लगे - "हमने तो पहले ही छोड़ दिया था, परमेश्वर ने अच्छा किया ।"

चौथे अंक में तालाब के पानी में गिरी हुई अंगुठी केवट को मिल जाती है । वह बेचते समय कोतवाल द्वारा पकड़े जाने पर कहता है - "मैंने इसे चुराया नहीं । मछली का शिकार खेलते समय तालाब में पाया है ।"

कोतवाल ने वह अँगुठी राजा को दे दी । उसे देखते ही राजा शकुन्तला के ध्यान में मग्न हो गया । व्याकुल होकर वह बोला - "शकुन्तला अब निठुराई छोड़ो, उस समय सुधि न रही, जैसा मैंने किया वैसा फल पाया । ----- वह मेनका की पुत्री थी, सुरलोक में रहनेवाली भुवलोक में क्यों आने लगी । अब मिलना कठिन है ।" आदि-आदि ।

मेनका के कहने पर इन्द्र ने सारथी मातलि से दुष्यन्त को बुलवाया । मार्ग में ऋषि कश्यप के आश्रम में पहुंचकर राजा ने एक बालक को सिंह के बाल खींचते देखा । बालक को देखकर राजा के हृदय में सात्विक वात्सल्य भाव का उदय हुआ और जिज्ञासावश वहां की तपस्विनियों से उसके पिता का नाम पूछा । वे कहने लगीं - "याके पापी बाप को नाऊं न कोउ लेत" क्योंकि उसने शकुन्तला जैसी 'सुलज, सुशील और पतिव्रता नारी को बिना कारण ही तजकर निकाल दिया ।" माता का नाम पूछने पर शकुन्तला को बता दिया । राजा ने पुत्र को गोद में उठाया और हर्ष में गद्‌गद्‌ हो कहने लगा - "वह पापी मैं ही हूं, बिना कारण मैंने ही उस प्राण प्यारी पतिव्रता को निकाला । अब वह कहां है ? उसे मेरे आने की सूचना दो ।" राजा की व्याकुलता को बहुत ही सहज ढंग से नाटक के संवादों में प्रस्तुत किया है । शकुन्तला के आने पर राजा शकुन्तला के पैर छूने लगा -

"राजहि और न कछु कहि आयो । शकुन्तला के पग शिर नायो ।"

शकुन्तला ने राजा को उठाया और कहने लगी - "हमारे पैर छूकर हमें पाप क्यों लगाते हो ?"

ऋषि कश्यप ने भी आकर आशीर्वाद देकर कहा -

"शकुन्तला है कुलवधु, यह सुत है शुभ योग ।
राजवंश के रतन तुम, भलो बनो संयोग ।।" .

नेवाज कवि कृत इस ग्रन्थ को नाटक कहा जाय या कथा काव्य । काव्य स्वरूप संवादों के अनुसार यह काव्य ज्यादा, नाटक कम प्रतीत होता है । प्राप्त हस्तलेखों में से कुछ में यह अंकों

में विभाजित है, कुछ में तरंगों में । नाटक का 'कथा नाटक' नाम भी प्राप्त होता है ।

लेकिन यह तत्कालीन जन नाट्य शैली में लिखा गया था । सभी जन नाट्य शैलियं वर्णनात्मक या कथात्मक थीं । यह नाटक भी कथात्मक शैली में लिखा हुआ है ।

6. सभासार - (ले. का. सन् 1700 ई.)

इस नाटक के लेखक रघुराम नागर हैं । ब्रजरत्नदास के अनुसार इस नाटक की रचना सन् 1700 में हुई थी पुस्तक का आरंभ सरस्वती 'सचर, अचर, सब ठाय में व्यापक, 'जुदे-जुदे नाम वाले' ईश्वर की वंदना से होता है । लेखक ने अपने उद्देश्य का वर्णन पहले दोहों में जो पुस्तक की क्रम-संख्या का छठा और सातवां छंद हैं, इस प्रकार किया है :-

ज्यों सब संगति जानिये, प्रभु सों कहो पुकार ।
सकल सभा वर्णन कहूं, नृपति आदि निरधार ।। (6)
सब लछिन पहले सुनो, पुन्य सुसंगति पाई ।
मन चंचलता जानि जग, नीच संग न सुहाई ।। (7)

अतएव स्पष्ट है कि लेखक 'लक्षणों' का वर्णन कर उसके आधार पर अच्छे और बुरे की पहचान बताना चाहता है । किसी का मूल्य आंकने के लिए सबसे अच्छी कसौटी अपना या किसी का काम पड़ने पर व्यक्ति का व्यवहार है । लेखक के शब्दों में :-

संगति सुभाव ज्ञाति गाँव को विचारि करि
उद्यम सुहाय सुनि देखि उर आनिय ।
जानि के कुलछिन सुलछिन सकल विधि,
नेननि में रूप देखि बेंन पुनि छानिये ।
मोल तोल माप बिनु भारी है परिछा जाकी,
सरस कसौटी परें काज की बखानिये ।
कीमत अपार तेज रूप के प्रकार जामें,
नर से अमोल नम ऐसे पहिचानिये ।

---

1. नवल किशोर प्रेस द्वारा मुद्रित शकुन्तला, 1895 ई. का संस्करण ।
2. काशिराज पुस्तकालय के 1811 एवं 1841 संख्यक हस्तलेख ।
3. वही 1841 संख्यक हस्तलेख ।

वैसे यह नाटक कल्पना के आधार पर न लिखकर, जैसा कि प्रायः कवि किया करते हैं, सांसारिक अनुभव के आधार पर लिखी गई है । यह एक प्रकार का नीतिजन्य 'नायक-नायिका भेद' है । सभासार नाटक न होकर छंदोबद्ध नीति की पुस्तक है । इसमें केवल एक पात्र है जो सब कुछ कहता है और वह पात्र स्वयं कवि है । अंकों में न होने से ऐसा प्रतीत होता है कि वह आरंभ से अन्त तक एक ही साँस में लिखी गई प्रतीत होती है । बा. ब्रजरत्न जी ने लिखा है - "कथोपकथन केरूप में चुगल आदि के लक्षण पद्य में कहे गए हैं और इसी कारण यह नाटक कहा गया है ।"[1] लेखक ने स्वयं अपनी पुस्तक को नाटक कहा है - "अथ सभासार नाटक लिख्यते ।" अर्थात् लेखक सारे संसार को नाट्यभूमि मानता है ।

8. आनन्द-रघुनन्दन (ले.का. 1661-1740)

रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह जी के इस नाटक को पं. रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी का प्रथम नाटक माना है ।[2] महाराज विश्वनाथ सिंह जी का जन्म 1789 ई. में हुआ । उनका राज्यकाल 1823 से 1854 तक है ।[3] नाटक की रचना सात अंकों में हुई है ।

इस नाटक में राम का जीवन संक्षेप में वर्णित है । यह केवल कथोपकथनों में लिखा गया है, और संकेतों का साथ-साथ गद्यांश भी है । रंग संकेत संस्कृत में हैं । दूसरे अंक में (आश्रम में) वशिष्ठ और शिष्य के संवादों के उपरान्त थोड़ी-सी देर में गंगा प्रवेश करती है । उसी समय आकाशवाणी होती है - "मोकों बानी की बानी यौं सुनी परी - तुम दिग्जान पै जाय डहडह जगकारी डिंगी दर को काश्मीर को पठवाइयो और उपाय करि भूत सौं हितकारी कों युवराज पद दिवावत बन दिवाइबो । अरू हितकारिहू को याही रूख है । हौं कुटिला के कंठ बैठि सुरकाज सिद्ध करन जाऊं हों । पुत्री तु अब तुम जाहु । हौं हूँ मातु आज्ञा करन जात हों ।"

इसमें अनेक बोलियों का प्रयोग किया गया है । सभासद और नट-नटी संवाद : -

सभासद - या तो आछे जरी ।
नटी - (आकाशे दृष्टवा) अच्चारियं, अच्चारियं, अयि पिये ! अल्कागम्यइ ।[4]

---

1. हिंदी नाट्य साहित्य, पृ.-57 ।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, स. 2009 पृ.-453 ।
3 . हिंदी नाटक साहित्य, पृ.-62 ।
4. आश्चर्य, आश्चर्य, अरे प्रिय यहां आ रहे हैं ।

गुरूण्ड देश का नर्तक एक मिश्रित बोली में गाता है । भाषा पढ़ने पर विचित्र-सा लगता है । अंग्रेजी का प्रभाव तो स्पष्ट ही है -

ए किंग हितकारी माई डियर वेरी,
लिबरॅल एण्ड ब्रेव विश ट्री
गॉड स्प्रीड माई सिन टॉप-लार्ड
गुड ऑल टैम विसु नाथ ऑफ गॉड ।

इस नाटक में नाट्यशास्त्र के नियमों का पालन मिलता है । पहले अंक में विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण मार्ग में चले जा रहे हैं । सायंकाल का समय हुआ फिर प्रातः हुआ । इस समय के कार्य-व्यापार को इस प्रकार संवादों से प्रकट किया गया है :-

मुनि : अर्ध रैनि गई सोवो ।
कुमारौ : दंड प्रणाम ।
(मुनिः उत्थाय प्रातस्मरणं कृत्वा)
पद - उठो कुंवर दोउ प्राण पियारे ।
हिमि ऋतु प्रात पाय सब मिटेंगे ।
नभ सर पसरे पुहकर तारे ।।
जग बन महं निकस्यो हरषित हिय
विचरन हेत दिवस मस नियारो ।
विस्वनाथ यह को तक निरखहु
रवि मनि दसहु दिसिनि उंजियारो ।।

दंड प्रणाम । बड़ो आलस्य भयो भोर न जागे ।
मुनि - चलो स्नान करो । द्वै मंत्र देउ जाते शोक, मोह, भूख, पिआस, श्रम, आलस्य न होइ ।
कुमारौ - (स्नात्वा सहर्षम) महाराज मन्त्र दीजै ।
मुनि - बला अति बला ये दोऊ विद्या लेउ ।
कुमारौ - ये मन्त्र पाय हमको बड़ो आनन्द भयो ।
मुनि - पंथ चलन की बेर होइ है चलो ।

एक और उदाहरण है - लक्ष्मण शक्ति लगने के कारण मूर्च्छित पड़े हैं । राम असमंजस में हैं । हनुमान औषधि लाने के लिए जाते हैं और उसे ले आते हैं । इन सब कार्य को और राम की व्यग्रता को इस प्रकार दिखाया गया है -

वैद्यकपि	-	महाराज देवासुर संग्राम में वृहस्पति द्रोना चल तें औषधि ल्याय देवन जिवावत रहे हैं । सो चौंसठि हजार योजन पर है जो रात्रि भरे में औषधि आवै तो डील धराधर जीवैं ।
त्रेतामल	-	महाराज मोकों आज्ञा दीजिए । जो लौं तेजते लागि मैं सरि सौ फूटे हैं तो लों लयाऊंगा ।
हितकारी	-	जाव, अपराजिताह की खबरि लेत आइये । (त्रेतामल्लस्थेति न:क्रान्त:)
हितकारी	-	देर बड़ी भई, त्रेतामल्ल न आयो, कछू कारण है । (तत. प्रविशति त्रेतामल्ल .)
वैद्यकपि	-	प्रभो यह तो शैल ही लै आयो । औषधि पौन परसि सकल कपि दल जिये । डील धराधर औषधि सुंधाये जिये । अहो महा अमोघा शक्ति हु तो ।

कुछ नई घटनाओं का समावेश भी लेखक ने किया है - तीसरे अंक में राम के समाचार लाने के लिए कौशल्या द्वारा भेजा गया शुक नाम का दूत और चौथे अंक में पताका और गर्भसन्धि लाएं गए हैं ।

9. राम करूणाकर नाटक (1840 ई. से पूर्व)

पूर्व भारतेन्दु काल में उदय कृत 'रामकरूणाकर' करूण रस को दृष्टि में रखकर नाटक लिखा गया । रामकरूणाकर नाटक में लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर राम दुखी हैं और विलाप करते हैं । 56 छन्दों का यह एक लघु नाटक है । नाटक में एक अंक के अन्तर्गत कई स्थानों पर कथानक घटित हो जाता है क्योंकि भारतीय नाट्य-शास्त्र में समय सीमा का निर्धारण तो है, परन्तु स्थल सीमा का नहीं ।[1] अत: इस नाटक में भी दृश्य विभाजन नहीं है । नाटककार गीति नाट्य को दृष्टि में रखकर गेय शैली में नाटक लिख रहा है ।

इस नाटक में संवाद ही प्राण है राम के शोक से भरे कथन । सरस और सुबोध भाषा में राम अपने हृदय की असीम वेदना को प्रकट करके स्वयं ही नहीं रो रहे हैं, सेना के साथ सारे जग को भी रूला रहे हैं । लेखक राम के ईश्वरत्व को भुला देता है । राम साधारण मानव की तरह

---

1. नाट्यशास्त्र (चौखंभा) 20वें अध्याय के श्लोक 25-29 ।
2. भावप्रकाश अधिकार 8वें 55237 की 15वीं पंक्ति ।
3. दशरूपक 3-36 ।
4. साहित्य दर्पण - 6-15 ।

उद्विग्न हो प्रलाप करने लगते हैं । उनकी आंखों के सामने भूतकाल के बाल-विहार आ खड़े होते हैं -

उठि अब पीवहु दूध मात तोंहि टेरत भाई ।
चलि करि बाग विहार बीर सरजू में न्हाई ।
भरथ वीर बोलत तुमै रिपु सूदन संग लाई ।
टेरत हैं तुमको चलौ षेलत वन में जाई ।।

रामकरूणाकर - (21)

राम का यह विलाप कितना मनोवैज्ञानिक है । किसी के मरने पर उसके दिए पूर्व सुख एवं उसके खेल बहुत याद आया करते हैं । राम को लक्ष्मण की सेवा याद आती है -

अहो तात बलि जात कुंवर कहा करौं बड़ाई ।
तजे पिता अरू मात मोहि लागि तैंने भाई ।
संपति देषि विदेश बन कठिन कलार की चाल ।
सहि संकट मो संग रहौ सदा करत प्रतिपाल ।।

रामकरूणाकर - (24)

लरकापन हू लाल कछु अखी नहिं कीनी ।
जो कछु कारज कियो माँगि अग्या मोहि लीनी
झूठे हु रूठे नहीं कबहूँ लछिमन बाल ।
अब मोसो बोलत नाहीं क्यों रूठे हो लाल ।।

रामक रूणाकर - (25)

'क्यों रूठे हो लाल' में कैसी हृदयविदारकता भरी है । अब वे अयोध्या अकेले नहीं जा सकते । क्यों ?

कर्महीन मैं दीन भयौ अब तो बिन भाई ।
बली बंधु मखाय निलज निज नारि गमाई ।
लोग नाम धरिहैं सबै कहाँ रहूँ अब जाय ।
नारि हराइ निलज तैं आयो बन्धु मराय ।।

रामकरूणाकर - (28)

जब रात्रि भाग रही है और अरूण का प्रकाश होनेवाला है और हनुमान जी नहीं आ पाते तो राम एकदम हताश हो कहने लगे -

सुनहु सषा सुग्रीव समुझि संदेह न पायै ।
वानर देहु पठाय बीनि बन चंदन लायै ।
रचौं चिता अब आह सब तापर बैठो जाइ ।
लै लछिमन को गोद मैं दीजो आगि लगाइ ।।
रामकरूणाकर - (41

10. नहुष (लेखक काल सन् 1841 ई.)

इस नाटक के लेखक बाबू गोपालचंद्र थे जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता थे । इसकी रचना सन् 1841 ई. में हुई थी । इस नाटक की पूरी प्रति का कहीं पता नहीं चलता, केवल प्रथम अंक कवि वचन-सुधा के पहिले वर्ष के एक अंक में छपा था । स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास ने उस अंश को सन् 1905 में प्रकाशित 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के नवें भाग के पृष्ठ 187 से 199 तक छपावाया था ।

नाटक का आरंभ प्रस्तावना से होता है और उसके पश्चात प्रथम अंक शुरू हो जाता है । अधिकतर संवाद कविता में है परन्तु यथास्थान ब्रजभाषा गद्य में भी है ।

11. परम प्रबोध विधु नाटक (1847 ई. से पूर्व)

महाराज जयसिंह के नाती महाराज विश्वनाथ सिंह जी के पुत्र कुँवर रघराज सिंह ने परम प्रबोध विधु नाटक लिखा । इस नाटक का तिलक युवराज रघुराज सिंह के पिता महाराज विश्वनाथ सिंह जी ने सन् 1847 ई. (1904 वि.सं.) में चन्द्रिका नाम से किया ।

महाराज रघुराज सिंह का राज्यकाल 1854 से 1880 तक है ।[1] अतः 1847 ई. में जब चन्द्रिका बनी तब श्री रघुराज सिंह युवराज थे ।[2]

---

1. प्राइवेट सेक्रेटरी का पत्र 20 अप्रैल, 1956 ई. ।
2. यह चन्द्रिका काशिराज पुस्तकालय में हस्तलिखित रूप में सुरक्षित है ।

प्रतीकात्मक शैली में लिखित इस नाटक में शृंगार एवं शान्त रस संवादों का सुन्दर मिश्रण है । एक ओर सूत्रकार का कथन है - "एति में जो रास भये हैं जहँ बनादिकन में तिनके सुष पुंज में भरे परस्पर जानकी रघुनन्दन के मुसकानि तें ये कौर कुंजन मेँ जो विलास कियो हैँ सो व्यंजित हैं तातें शृंगार रस व्यंजित होत हैं ...।" तो दूसरी ओर " रागानुगा का राम प्रेम चक्रवर्ती से विवाह हुआ । महामोह जीत लिया गया । जीव ने विवेक द्वारा प्रेम पाया ।"

नाटक-संवादों में गद्य का प्रयोग भी हुआ है -

> "... नेपथ्ये डिं डिं शब्द - महाराज महामोह का आज्ञा है परलोक मिथ्या है यह जानि सब विषै भोग करो....।परम प्रबोध-विधु को अरू जीवात्मा को देषिवे को हमारे उत्कंठा है समंत्री विवेक को लिए वें भी आवै - ।"

तत्कालीन नाट्य शैली में भी कुछ कथन इसमें मिलते हैं -

> "नेपथ्य जो है कनात को वह पार जाये, यह कोलाहल भयो कि इन्दु-लोक को ....।"

तृतीय अध्याय :-

भारतेन्दु कालीन नाट्य साहित्य में संवाद

भारतेन्दु कालीन भारत : तत्कालीन परिस्थितियां

भूमिका :-

हिंदी की ह्रासकारिणी शृंगारिक कविता के प्रतिकुल आन्दोलन का श्रीगणेश उस दिन से समझना चाहिए जिस दिन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'भारत-दुर्दशा नाटक के प्रारंभ में समस्त देशवासियों को संबोधित करके देश की गिरी हुई अवस्था पर उन्हें आँसू बहाने को आमंत्रित किया था, उस दिन शताब्दियों से सोये हुए साहित्य ने जगने का उपक्रम किया था, उस दिन रूढ़ियों की अनिष्टकर परंपरा के विरूद्ध प्रबल क्रांति की घोषणा हुई थी, उस दिन देश और जाति के प्राण एक सत्कवि ने सच्चे जातीय जीवन की झलक दिखाई थी और संकीर्ण प्रान्तीय मनोवृत्तियों का अन्त करने के लिए स्वयं सरस्वती ने राष्ट्रभाषा के प्रतिनिधि कवि कंठ में बैठकर एक राष्ट्रीय भावना उच्छ्वसित की थी । मुक्तकेशिनी, शुभ्रवसना, परवंशी भारतमाता की करूणोज्ज्वल छवि देश ने और देश के साहित्य ने उसी दिन देखी थी और उसी दिन सुनी थी टूटी-फूटी शृंगारिक-वीणा के बदले एक गम्भीर झंकार, जिसे सुनते ही एक नवीन जीवन के उल्लास में वह नाच उठा था ।" [1]

हिन्दी साहित्य का वह प्रथम प्रभात था जब भारतेन्दु ने सरस्वती की वीणा में जागरण का स्वर भरा था । नील गगन में सांध्यतारा का, पावस में प्रथम फुआर का तथा माला में प्रथम मणि का जो रमणीय और महत्वपूर्ण स्थान है, वही स्थान हिन्दी साहित्य में नवयुग-प्रर्वतक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का है । राष्ट्रीयता का विकास होना तो समयानुकुल अनिवार्य था, वह तो कालान्तर में होता ही, किन्तु यदि भारतीय गगन में इस इन्दु का उदय न होता तो हिन्दी साहित्य की रंगभूमि में नाट्यकला की चारू-चन्द्रिका का शायद युगों तक न छिटकती । जिसे हम आज जातीयता कहते हैं, वही उस समय की राष्ट्रीयता थी और प्रगति का तो यही लक्षण ही है - एक पद प्राचीनता की सुदृढ़ भूमि पर और दूसरा नवीनता की अग्रिम छोर पर । सच तो यह है कि "भारतेन्दु-युग ने बीसवीं शताब्दी का द्वार खोल दिया, द्विवेदी-युग ने उसपर स्वागत का बन्दनवार

---

1. बाबू श्यामसुन्दर दास - हिन्दी भाषा और साहित्य ।

लगाया, नवयुग ने उस द्वार से प्रवेश कर हिन्दी-मन्दिर गुंजारित किया ।"[1]

युग-प्रवर्तक भारतेन्दु ने साहित्य के अंग-प्रत्यंग पर दृष्टि डाली और उसके सभी आहत अंगों पर पट्टियां बांधी । भारतेन्दु के पहले हिन्दी के गद्य का निश्चित स्वरूप नहीं था, कोई नियमित परिपाटी नहीं थी, कोई साहित्यिक स्टैंडर्ड नहीं था । भारतेन्दु ने ही सर्वप्रथम हमारी मातृभाषा का एक सर्वमान्य स्वरूप खड़ा किया जिसे सरस्वती के वरपुत्र द्विवदी जी के कर्मठ करों ने निखारकर 'अप-टु-डेट' बना दिया । भारतेन्दु का तो मूलमंत्र था -

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल ।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शुल ।।"

विक्रमीय बीसवीं शताब्दी के आरंभ के साथ ही राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी के प्रांगण में पदार्पण किया । एक हिन्दी के विशुद्ध रूप के पक्ष में थे, दूसरे उसके उर्दुनुमा विकृत स्वरूप के पक्ष में । दोनों मे काफी तनातनी हो रही थी । इसी समय हरिश्चन्द्र ने मातृभाषा के विशुद्ध रूप को ग्रहण कर उसे इतना परिमार्जित और व्यापक बना दिया कि लोग बरवस इनकी ओर झुक गए और विकृत स्वरूपमाला विपक्षी दल आधार-शून्य होकर शीघ्र ही मुँह के बल गिर पड़ा । भारतेन्दु ने ही सर्वप्रथम हिन्दी को इस लायक बनाया कि वह सीधी-सीधी होकर भी सब प्रकार के भावों और विचारो को व्यक्त कर सके ।

नाटकों में भी भारतेन्दु ने अपना प्रतिनिधि रूप नहीं छोड़ा है । **"न उन्होंने प्राचीनता को प्राचीन मानकर छोड़ दिया और न नवीनता को उसके नव्य प्रकाश की चमक में फंसकर पूर्णतया ग्रहण किया । न एक की जटिलता में फंसे, न दूसरे की नकल उतारने में ।"** प्रकृति भी आपकी प्रतिभा की देन से उल्लसित है । इनके पहले प्रकृति-चित्रण का हिन्दी साहित्य में कोई विशेष स्थान नहीं था । प्रकृति सदा उपेक्षिता ही रही । भारतेन्दु ने ही भागीरथी की भांति उपेक्षा के जटाजूट में उलझी हुई कविता गंगा को वहां से निकालकर प्रकृति की घाटियों में बहाने का श्लाघ्य प्रयत्न किया । भारत के इस शारदीय इन्दु की ज्योत्सना में 'तरनि तनूजा' का अंग-अंग पुलकित

---

1. शान्तिप्रिय द्विवेदी (कवि और काव्य)

हो उठा, तमाल आदि तरूवर लहलहा उठे, काशी की जाह्नवी की लोल लहरों में भी विशेष गति और क्षिप्रता आ गई । प्रकृति को अपने नाटकों की पार्श्व-भूमिका (कैनवैस) के रूप में अंकित कर सचमुच आपने एक अग्रदूत का कार्य किया ।

विश्व के इतिहास में 19वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अपनी बहुविध विशेषताओं के कारण अपना स्थायी बना चुका था । पं. नेहरू के शब्दों में, इस शताब्दी का अध्ययन कोई आसान काम नहीं है । यह एक विशाल दृश्य है, एक महान चित्र है, और चूँकि हम उसके इतने नजदीक हैं, इसलिए यह हमें पहले की सदियों की बनिस्पत ज्यादा बड़ी और घनी मालूम होती है । जब हम इस सदी के गूंथने वाले हजारों धागों को सुलझाने की कोशिश करते हैं तो उसकी यह विशालता और उलझन कभी-कभी तो हमें घबड़ा देती है । यह सदी मशीनों की आश्चर्यभरी उन्नति की सदी थी - औद्योगिक क्रांति की । रेल, तार, टेलीफोन, जहाज, मोटरकार और अन्त में हवाई जहाज इत्यादि का आविष्कार इसी युग में हुआ था । इस सदी में यूरोपीय पूंजीवाद ने राष्ट्रीयता को जन्म दिया । पश्चिम में अरब राष्ट्रों से लेकर सुदूर पूर्व में, समस्त एशिया में, राष्ट्रीय आन्दोलनों ने जन्म लिया । हर देश में यूरोपीय शक्तियों के साथ राजनीतिक संघर्ष शुरू हुआ । भारत की राष्ट्रीयता भी इसी समय जगी ।

विश्व के इतिहास में 19वीं सदी का राजनीतिक महत्व ही नहीं सांस्कृतिक महत्व भी है । संसार के सभी सभ्य देशों में युगान्तकारी महापुरूषों का जन्म इसी शताब्दी में हुआ, जिनके चिन्तन ने मानव जीवन की दिशा ही बदल दी । पश्चिम में मार्क्स, रूसो, डारविन और टाल्स्टाय के साथ भारत में भी अनेक दिव्य पुरूषों का जन्म हुआ । सार्वजनिक शिक्षा का उत्थान, समाचार-पत्रों की वृद्धि, जनतंत्र के नये आदर्श की स्थापना, मध्य वर्ग का अभ्युदय, बुद्धिवाद का उदय, साहित्य के सामाजिक मूल्यों उन्नयन और मनुष्य के विचार- स्वातंत्र्य की मान्यता इसी सक्रिय शताब्दी के मौलिक चिन्तन की देन है ।

उस युग का साहित्य हमारे नये सामाजिक और सांस्कृतिक जागरण का परिणाम है । उनकी मूल धारा राष्ट्रीय और जनवादी है । उस काल के अनेक महान साहित्यकारों और नये विचारकों ने राष्ट्र के चरणों में अपनी भावनाओं की शत-शत श्रद्धांजलियां भेंट की थीं । अकेले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जितना काम किया वह उस युग के किसी भी अन्य राष्ट्रीय नेता से कम नहीं था ।

---

1. पं. जवाहरलाल नेहरू : विश्व इतिहास की झलक, खण्ड-1, पृ.-565 ।

भारतेन्दु का उदय काशी की पावन नगरी में भाद्रपद, शुक्ल सप्तमी, सं. 1907 (ता. 9 सितम्बर, 1850 ई.) में हुआ । शीघ्र ही इस नवचन्द्र की रजत-रश्मियां फूटकर हिन्दी साहित्य के गगनांगन में चदुर्दिक् विकीर्ण होने लगीं । भारतेन्दु 'कलियुग के कन्हेया' थे । "दूर से लोग इनकी मधुर कविता सुनकर आकृष्ट होते थे और समीप आ मधुर श्यामसुन्दर घुंघराले बालों वाली मधुर मूर्ति देखकर बलिहारी होते थे और वार्तालाप में इनके मधुर भाषण, नम्रता और शिष्ट व्यवहार से वशंवद हो जाते थे ।"[1]

भारतेन्दु के पूर्व स्वतंत्र ग्रंथों में पद्यों की ही तूती बोलती थी और नाटक केवल काव्य से निर्मित होता था । भारतेन्दु को ही प्रगतिशीलता के क्षेत्र में भी आगे आना पड़ा ।

पूर्ववर्ती कवि नाटककारों ने नाटकों की कथा, पुराण आदि प्राचीन ग्रंथों से की लेकिन भारतेन्दु बाबू ने युग की नब्ज पहचानी और साहित्य को जीवन से सम्बद्ध कर दिया । भारतेन्दु जी ने कुल अठारह नाटक लिखे हैं जिनमें एक 'प्रवास नाटक' अपूर्ण और अप्राप्त है ।

भारतेन्दु युग के नाटकों की परंपरा या धाराएं

भारतेन्दु के 17 उपलब्ध नाटकों का वर्गीकरण एक समस्या उपस्थित है । अधिकतर विद्वानों ने उनके नाटकों को दो वर्गों में बांटा है - 1. मौलिक और 2. अनुदित । डॉ. सोमनाथ और डॉ. वीरेन्द्र कुमार शुक्ल ने अपने प्रबंधों में नाटकों के निम्नलिखित तीन वर्ग किए हैं, जो इस प्रकार हैं -

1. मौलिक नाटक :-

1. पौराणिक	-चन्द्रावली (1876 ई.), सतीप्रताप (1884 ई.)
2. ऐतिहासिक	-नीलदेवी (1880 ई.)
3. राजनीतिक	-भारत दुर्दशा (1876), भारत जननी (1877)
4. प्रहसन	-अंधेर नगरी (1881), वैदिकी हिंसा (1873) विषस्य विषमौषधम् (1876 ई.), प्रेमयोगिनी (1875)

---

1. अम्बिकादत्त व्यास "बिहारी-विहार" ।

2. अनुदित नाटक :-

(क.)	संस्कृत से	-	रत्नावली (1868 ई.)
			पाखंड विडंबन (1872 ई.)
			धनंजय विजय (1873 ई.)
			मुद्राराक्षस (1875 ई.)
			कपूरमंजरी (1876 ई.)
(ख.)	अंग्रेजी से	-	दुर्लभ बंधु (1880 ई.)
(ग)	बंगला से	-	

3. रूपान्तरित नाटक :-

(क) बंगला से	-	विद्यासुंदर (1868 ई.)
(ख) संस्कृत से	-	सत्यहरिश्चन्द्र

डॉ. वेदपाल खन्न ने नाटकों के दो वर्ग माना है - "भारतेन्दु के नाटक दो मुख्य वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं - मौलिक नाटक और अनुदित नाटक ।"[1]

वर्गीकृत नाटकों का इतिहास

1. पौराणिक नाटक :-

पौराणिक नाटकों की सूची बड़ी लम्बी है । इनके अध्ययन से उस काल के नाट्य साहित्य का परिचय मिलता है । पौराणिकता से क्या अभिप्राय है ?"ऋषियों ने कुछ पुराना इतिहास लिया । उसमें काल्पनिक कथायें जोड़ीं । इस प्रकार पुराणों की सृष्टि हुई । इन ऐतिहासिक गाथाओं से धार्मिक उपदेश देने-दिलाने का कार्य किया गया ।"[2]

---

1. डा. वेदपाल खन्ना : हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ. -31

श्री बलदेव जी उपाध्याय 'अतिशयोक्तिपूर्ण रचना-शैली' को पौराणिकता का नाम देते हैं ।[1] जहां अलौकिकता दिखाई दे वहां पौराणिकता है । भारतेन्दु कालीन दो नाटकों के उदाहरण से यह बहुत अधिक स्पष्ट हो जाएगा । 'सीताहरण' के उच्चारण मात्र से एक अलौकिक वातावरण सामने आ खड़ा होता है, हम दस सिर वाले रावण को आकाश में राम प्रियतमा सीता को घसीटकर ले जाते हुए देखने लगते हैं । पं. देवकीनन्दन त्रिपाठी ने अपने नाटक सीताहरण में से अलौकिकता हटाने का प्रयास किया है । एक दूसरा नाटक बन्दोदीन दीक्षित कृत 'सीताहरण' है । इसमें सीता जी अग्निदेव के पास छोड़ दी जाती हैं । जटायु पक्षी राम को ब्रह्म मान स्तुति करता है । इस नाटक के राम ब्रह्म हैं एवं उनमें अलौकिकता है । पं. देवकीनन्दन त्रिपाठी मानव-जगत को सामने लाते हैं, तो दीक्षित जी अलौकिक लोकों को ।

पौराणिक नाटक धाराएं :-

पौराणिक नाटकों में निम्न धाराओं के नाटक प्राप्त होते हैं :-

1. कृष्णधारा के नाटक - नन्दोत्सव, चन्द्रावली ।
2. रामधारा के नाटक - रामायण दर्पण, रामचरित ।
3. महाभारतधारा के नाटक - अभिमन्यु, द्रौपदी वस्त्र-हरण ।
4. पतिव्रता स्त्री संबंधी नाटक - सतीप्रताप, सावित्री ।
5. भक्तिधारा के नाटक - प्रह्लाद चरित्र, ध्रुव तपस्या ।
6. संतधारा के नाटक - गोपीचन्द्र नाटक, गोपीचन्द ।
7. अन्य नाटक - हरिश्चन्द्र नाटक, महाराजा हरिश्चन्द्र ।

पारसी नाटकों से प्रभावित होने वाले नाटकों के नाम निम्नलिखित हैं :-

पं. जीवानन्द शर्मा कृत 'भीष्म प्रतिज्ञा' (1901), पं. ज्वाला प्रसाद मिश्र कृत 'श्रीराम लीला' नाटक (1902), मुंशीतोता राम 'प्रेमी कवि' कृत 'सीता स्वयंवर' नाटक (1903), जानकीदास कृत 'रामलीला' (1904), महावीर सिंह कृत 'नल-दमयन्ती' (1905),

---

1. आर्य-संस्कृति का मूलाधार 1847, पृ.-168 ।

पं. रामनारायण कृत 'कंस-वध' नाटक (1990), रामगुलाम कृत 'धनुष यज्ञ लीला' (1912) इत्यादि ।

उक्त पौराणिक नाटकों में भारतेन्दु युगीन समाज-सुधार की प्रवृत्ति नहीं पायी जाती । इनमें गद्य के स्थान पर पद्य और गीतो की अधिकता, अनुप्रासिक कथोपकथन की भरमार अति मानवीय घटनाओं अथवा दृश्यों की अवतारणा अंकों के अन्तर्गत गर्भांकों अथवा दृश्यों की व्यवस्था, युग और जीवन से पलायन कर किसी काल्पनिक लोक की सृष्टि इत्यादि विशेषताएं परिलक्षित हुईं ।

पं. जीवानन्द शर्मा कृत 'भीष्म-प्रतिज्ञा' के निम्नलिखित संवादों पर तत्कालीन पारसी नाटकों का कितना कुरूचिपूर्ण प्रभाव पड़ा था, वह यहां द्रष्टव्य है -

भीष्म	:	अजी साहब, वह दीवार नहीं है, द्वार है । देखिए भीतर जाता हूं ।
दुर्योधन	:	तुमने खूब छकाया ।
भीम	:	(धीरे से) अंधा का बेटा अंधा आया ।
द्रोपदी	:	खूब ही ऊंट फसाया ।

पद्यात्मक कथोपकथन भी देखने योग्य है । भारतीय संस्कृति के निर्माण, संरक्षण और विकास में इस काल के नाटककारो ने कोई योग नहीं दिया । नाटकों में पात्र - छोटे-बड़े, बालक-बूढ़े, नागर-वनवासी, संस्कृत-पुष्ट हिन्दी बोलते हैं । न संवादों में प्रवाह और चुस्ती है, न पद्यों में सरसता । पौराणिकता भरी पड़ी है ।

भक्त जीवन संबंधी एक अन्य नाटक भी शालिग्राम वैश्य ने 'मोरध्वज' (1888) लिखा । लेखक भूमिका में ही बता देता है कि इस नाटक में भक्ति, प्रेम, वीरता, करूणा, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शांति आदि रस ऐसे झलकाए हैं मानो सम्मुख खड़े वार्तालाप कर रहे हैं । नाटक की कविता भी उत्तम है । युद्ध-वर्णन का एक छन्द इसका साक्ष्य देगा

"वीरनि की वाणी सुनि, बैरिनै कें दलन पै,
दरषिउ दौरयौ बैरी, भाजें मतिमंद हैं ।
माते-माते हाथिन के, हौदा खंड-खंड कीन्हैं
मारे बरछिन्न के बिदोर बैरी वृन्द हैं ।
ताम्रध्वज नाहर के, पंजासों निकासे कौन
सहम्यो अनिरूद्ध ना, चल्यो छल-छन्द हैं ।

वोलत ना डोलत ना, खोलत ना, पलक जैसे
सिंह के समीप दबि जात ज्यों गयंद हैं ।

मुरादाबाद के प्रसिद्ध पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र भी पारसी प्रभाव से न बच सके । 'सीतावनवास' नाटक (1905) में सीता जी शैया पर सोयी हैं और रामचन्द्र उन्हें जगाते हैं । सीता जी जागकर कहती हैं - "तुम्हारे बिना एक पल को नहीं , पल जुदाई की बातों में गश खा गई थी ।"

इतना ही नहीं पौराणिक नाटकों में रंडी, छिनाल, जूता, जुदाई, गश, बल्ला, आफत जैसे विदेशी शब्दों का प्रयोग स्वच्छंदतापूर्वक हुआ है । उस काल के नाटककार खोखली धार्मिक भावनाओं की आड़ में मुस्लिम दरबार की शृंगारिक वासना की पुनरावृत्ति करते जा रहे थे । पौराणिक नाटक भारतेन्दु जी ने तीन लिखा - 1. विद्यासुन्दर (1868 ई.), 2. सत्य हरिश्चन्द्र (1875 ई.), सतीप्रताप (1883 ई.) ।

2. प्रेम नाटक :-

इस काल में संख्या, महत्व और मूल्य की दृष्टि से तीन कोटि के नाटकों की ओर नाटककारों का ध्यान विशेष गया है जिनमें पौराणिक, प्रेम और सामाजिक नाटकों ने ही नाटककारों का ध्यान खींचा । प्रेम नाटकों में नाटककारों के साहित्यिक सौन्दर्य एवं कलात्मक शैली के दर्शन होते हैं । प्रेम नाटकों में हमें दो धाराएं मिलती हैं :-

(1) सुखान्त प्रेम नाटक
(2) दुखान्त प्रेम नाटक

1. सुखान्त प्रेम नाटक :-

भारतेन्दु जी ने तीन प्रेम नाटकों का अनुवाद किया[1] और तीन मौलिक प्रेम नाटक लिखे ।[2] विद्यासुन्दर (प्रेम नाटक) को भी पं. रामचन्द्र शुक्ल अनुवाद मानते हैं ।[3] डा. वार्ष्णेय का मत है कि यह अनुवाद हो सकता है या बंगाल में प्रसिद्ध कथा की छाया का अनुवाद ।[4] डॉ. सोमनाथ और

---

1. रत्नावली, कर्पूरमंजरी और दुर्लभबंधु । 2. प्रेमयोगिनी, चन्द्रावली और विद्यासुन्दर ।
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, 8वां सं. पृ.-461 ।
4. आधुनिक हिन्दी साहित्य, द्वि.सं., पृ.-231 ।

डॉ. वीरेन्द्र कुमार शुक्ल ने इसे रूपांतरित माना है । रूपान्तरित नाटक न मौलिक होता है, न अनुवाद । भारतेन्दु कालीन कथानकों में कौतूहलपूर्ण स्थल लाना युग की मांग थी । नाटक ऐयारी और तिलस्मी युग के बी वातावरण में सांस ले रहे थे ।

विद्यासुन्दर नाटक के चौथे अंक में छिपा है । विद्या ने अंक हीरामालिन से कहा कि - 'सुन्दर' को किसी प्रकार दिखला तो हीरा बोली - "वाह वाह ! यह तुमने अच्छी कही । पहिले राजा से कहें, वह देख सुन के जांच ले, पीछे तुम देखना ।" फिर विद्या ने कहा - "नहीं ऐसा न होने पाये, पहिले मैं देखूं तव और कोई ।"

हीरामालिन और विद्या के रूप में यहां दो विचारधाराएं प्रवाहित हैं । हीरामालिन हिन्दू समाज का परंपरागत विचार प्रकट करती है कि मां-बाप की पुत्री के लिए वर की देख भाल करें । इसके विपरीत विद्या नवीन विचारधारा को प्रतिपादित कर रही है कि लड़की और लड़का स्वयं पहले एक दूसरे को पसन्द कर लें । यद्यपि नाटककार ने चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान नहीं दिया है, तब भी स्त्री चित्रण बड़ा स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक हुआ है । स्त्री का अचूक अस्त्र आंसू तो सभी जानते हैं । उसके पास एक और भी अस्त्र है जिसका प्रयोग भारतेन्दु जी ने मालिन से कराया है । जब उसे राजकर्मचारी पकड़ते हैं, तो वह शोर मचाकर कहती है - "दोहाई महाराज कह धर्म देवता, तुम साक्षी रहना, देखो यह सब मुझे अकेली पाकर धर्म लिया चाहते हैं ।" (3-1) 'धर्म लिया चाहते हैं' में एक मनोवैज्ञानिक पुकार है । सुंदर और चौकीदार के संवाद से हास्यरस की फुलझड़ी भी छूटती है (1-2) । संवाद सशक्त हैं । घूस द्वारा (1-2) तत्कालीन प्रचलित राज्यदोष पर प्रकाश डाला गया है ।

इस नाटक ने आगे आने वाले हिन्दी के प्रेम नाटकों को मार्ग दिखाया । भावी प्रेम-नाटक विद्यासुन्दर से प्रभावित मिलते हैं । वे प्रभाव ये हैं - 1. सभी सुखांत प्रेम नाटकों ने संयोग शृंगार को ही प्रधानता दी । 2. प्रेम नाटकों में कथानक की ही ओर विशेष ध्यान दिया गया । 3. नाटककारों ने कौतूहल उपजाने पर भी ध्यान रखा । 4. नायक-नायिका के मिलन में कोई 'विचवई' या माध्यम रखा । 5. मयंक मंजरी, यौवन योगिनी, कमल मोहिनी, भँवर सिंह आदि में छद्मवेश को

- -

भी अपनाया । 6. गीतों को प्रेम नाटक में महत्व दिया । 7. नाटककारों ने माधवानल कामकंदला, मयंकमंजरी, मिथिलेशू कुमारी, संयोगता, स्वयंवर, प्रेम सुन्दर इत्यादि नाटकों में शारीरिक वर्णन में निपुणता दिखाई है ।

इसी परंपरा का दूसरा नाटक पं. किशोरीलाल गोस्वामी कृत मयंकमंजरी (1891 ई.) है । पहिले दोनों नाटकों की अनेक समानताएं श्री खिलावन लाल का प्रेम सुन्दर (1892) है । इसमें भाषा पुष्ट और अलंकृत है । कहीं-कहीं तुकांत गद्य का भी प्रयोग हुआ है । संवादों को सरस बनाने की ओर भी नाटककार का ध्यान गया है -

चन्द्रा - क्या फूल से सुन्दर भी चीज दीख पड़ी ।

सुन्दर - इसको तोड़ने का जी नहीं चाहता बड़ा सुन्दर है ।

चन्द्रा - इस गुलाब के समान ही जिसने तुझे देखा होगा उसका हृदय भी टूटे गुलाब की नाई मुरझा जाएगा । (1-3)

उपरोक्त नाटकों में मन के आकर्षण का केन्द्र सभी नाटककारों ने रूप को माना है । नाटककारों ने कौतूहल विधान में आस्था दिखाई है । सबसे अधिक विशेषता शृगार की है ।

2. दुखान्त प्रेम नाटक :-

भारतीय साहित्य में दुखान्त नाटक लिखने की परंपरा आरंभ से ही नहीं रही, क्योंकि भरत मुनि के अनुसार - "वही नाटक श्रेष्ठ कहा जा सकता है जिसमें कोमल ललितपद और अर्थ और अर्थ हों, गूढ़ शब्दार्थरहित हो, सब संधियों के जोड़ ठीक हों ।" भारतीय दृष्टि से नाटक का साध्य रस है, साधन संवाद, संगीत और अभिनय है, नट निमित्त हैं, दर्शक भोक्ता हैं और उसका आधार कोई एक प्रसिद्ध कथा है । किन्तु, भारतेन्दु युग के अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त हिन्दी नाटककारों को शास्त्रीय बंधन स्वीकार न था । उन्होंने सुखान्त और दुखान्त प्रेम नाटकों की पार्थक्य-नीति तोड़ दी । इस दिशा में सबसे पहले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की दृष्टि गयी । उन्होंने अपनी नाटक पुस्तक में नवीन नाटकों के मख्य भेद करते हुए वियोगान्त नाटक की ओर लक्ष्य किया । उस काल में हिन्दी में लिखे सभी दुखान्त नाटकों पर शेक्सपियर की थोड़ी बहुत छाया देखी जा सकती है ।

---

1. नाट्य शास्त्र, अध्याय - 16/124

"जब मन में विशुद्ध करूणा एवं भय का संचार होता है तब हमारी भावनाएं अपने आस-पास के वातावरण से ऊपर उठकर मानव का महान संघर्ष देखती हैं । उसके अवलोकन में जब हम तन्मय हो जाते हैं तब हमारी भावनाओं का रेचन अथवा विशुद्धीकरण हो आता है । यह है दुखान्त नाटक का पाश्चात्य दर्शन ।

इस काल के दुखान्त नाटकों की संख्या अधिक नहीं है । फिर भी, कुछ उल्लेखनीय रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं - 'भारत दुर्दशा' (भारतेन्दु), 'रणधीर और प्रेममोहिनी' (लाला श्रीनवासदास), 'दु:खिनी वाला' (राधाकृष्ण दास), 'अभिमन्यु नाटक' (शालिग्राम वैश्य), 'बालविधवा संतोष' नाटक (काशीनाथ खत्री), 'पद्मावती' (राधाकृष्णदास), 'तीन ऐतिहासिक रूपक' (काशीनाथ खत्री), 'सती चन्द्रावली' (राधाचरण गोस्वामी), 'अमर सिंह राठौर' (राधाचरण गोस्वामी), 'यौवन योगिनी' (गोपालराय गहमरी), 'गंगोत्री नाटक' (बालमुकुन्द पांडेय), इत्यादि ।

उपरलिखित नाटक सामाजिक, ऐतिहासिक और पौराणिक हैं जिनका उद्देश्य समाज की कुरीतियों को दिखलाना, राष्ट्रीय दुर्दशा का चित्रण करना, नारी समस्या को प्रस्तुत करना, राजा-महाराजाओं की विलासिता को भंडाफोड़ करना है । सभी नाटकों का अन्त मृत्यु, दुख, शोक और प्रायश्चित के वातावरण में हुआ है । भारतेन्दु युगीन दु:खान्त नाटकों के लेखक की दृष्टि बाह्य जीवन पर थी ।

जिस प्रकार की गलत रूढ़ियां और राजनीतिक पराधीनता हमारी जड़े खोदती चली जा रही थी, वैसी अवस्था में कलाकार के लिए अन्तर्मुख होकर मानव-मन के रहस्यों का उद्घाअन करना संभव न था । भारतेन्दु जी ने 'नाटक' पुस्तक में लिखा है -"नाटक रचयिता को सूक्ष्म रूप से ओतप्रोत भाव में मनुष्य की प्रकृति की आलोचना करनी चाहिए ।"

पं. बालकृष्ण भट्ट ने लाला श्रीनिवास कृत 'रणधीर प्रेममोहिनी' को हिन्दी भाषा का पहला 'ट्रेजडी नाटक' कहा है । इस नाटक का नायक रणधीर है, जिसके चरित्र-चित्रण में लेखक ने

---

1. संपादक डॉ. नगेन्द्र : भारतीय नाट्य साहित्य, पृ.-139-40 ।
2. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग - 1, पृ.-737 ।
3. हिंदी प्रदीप, 1 मार्च, 1878 ई. ।

जहां-तहां मानव-मन के अध्ययन और विश्लेषण में अभिरूचि दिखलाया है । वैसे भी दुखान्त नाटकों में मानव-जीवन के किसी ऐसे महत् क्षण की अवतारणा होती है, जिससे करूणाजनक स्थिति का बोध हो । ऐसे अवसर पर चरित्र का आंतरिक संघर्ष व्यक्त होता है । इस युग के दुखान्त नाटकों में चरित्रगत कारूणिक क्षणों का अभाव है । फिर भी, शालिग्राम वैश्य के 'अभिमन्यु' नाटक में अभिन्यु का जैसा आत्म संघर्ष दिखलाया गया है वैसा उस काल के नाटकों में नहीं मिलता ।

निम्नलिखित पंक्तियों में अभिमन्यु के कर्तव्य और प्रेम का मानसिक संघर्ष इन शब्दों में व्यक्त हुआ है -

अभिमन्यु : वीर-प्रतिज्ञा कहती है " जाओ-जाओ, युद्ध-स्थल में जाओ
व्यूहभेदन कर पिता-माता को संतुष्ट करो ।" इधर प्रेम
(पत्नी) अनुरोध करता है "अभी विलम्ब करो, एक बार
वह चन्द्रवदन देखो जो सुख-दुख, हर्ष-विषाद की चिर
सहचरी पतिव्रता प्राण-प्यारी उत्तरा है ।"

इन संवादों में पाश्चात्य दुखान्त नाटकों की चरित्रगत विशेषता बड़ी सूक्ष्मता से दिखलायी गई है । वीर रस का भी अच्छा चित्रण हुआ है । संवाद नाटक के प्राण होते हैं । जो नाटककार संवादों में सौन्दर्य भर देता है वह यशस्वी हो जाता है । इस नाटक के संवाद सरस, सजीव और सुन्दर है । संवादों में कहीं साहित्यिकता भरी है तो कहीं उनको अलंकारों से सजाया गया है । लक्षणा और व्यंजना के प्रयोग से भी संवादों को चुमता हुआ बना दिया गया है । संवाद तभी बोल सकते हैं जबकि नाटककार के पास सशक्त भाषा हो । यह गुण इस नाटककार के पास है । 'अभिमन्यु' नाटक को आतंकपूर्ण नाटक कह सकते हैं । ऐतिहासिक दुःखान्त नाटकों के नायक-नायिका स्वेच्छा से अपने प्राणों की आहुति देते हैं । सामाजिक दुःखान्त नाटकों में प्रायः नायिकाओं का प्राणान्त हुआ है । उनके कारूणिक अंत का कारण सामाजिक कुरीति है ।

रणधीर प्रेममोहिनी की ख्याति ने शालिग्राम वैश्य को लावण्यवती सुदर्शन (1890) दुःखान्त नाटक लिखने की प्रेरणा दी है । 'दुखनी बाला' की सरला इसलिए आत्महत्या करती है कि उसे समाज पुनर्विवाह का अधिकार नहीं देता । काशीनाथ खत्री के 'बाल विधवा संताप' में बाल विधवा

---

1. शालिग्राम वैश्य : अभिमन्यु नाटक, अक-2, गर्भांक-1, पृ.-31 ।

अबलादेई भी इसी कारण आत्महत्या की बात सोचती है । पंडित बालमुकुन्द पाण्डेय के 'गंगोत्री' नाटक में नायिका गंगोत्री राजा जगत सिंह की कामुकता का शिकार होकर और मां-बाप के निर्दय कार्य-व्यापार से ऊबकर अपनी छाती में कटार भोंक लेती है । श्री जवाहरलाल वैद्य ने कमलमोहिनी भंवर सिंह (1896)को लिखा ।

भारतेनदु-युग के नाटककारों का ध्यान पश्चिम के दुखान्त नाटकों की ओर अवश्य गया, किन्तु उन्हें वे हृदयंगम न कर सके । सभी नाटको में जितनी यथार्थवादी और प्रहसन की प्रधानता है उतनी किसी भी दूसरे अंग में प्रवृत्त नहीं हुई । अधिकांशतः हाय-हाय वाली शैली अपनायी गयी है ।

3. सामाजिक और धार्मिक नाटक

भारतेन्दु युग ही सामाजिक चेतना का युग था । अनेका सामाजिक आन्दोलन हिन्दू-जीवन को तरंगित कर रहे थे । इस काल के सजग नाटककार आँख मूंदकर नहीं रहते थे । इस युग में ही हिन्दी में पहली बार सामाजिक जागरण के चिन्ह नाटकों के रूप में प्रकट हुए । नाटककारों का ध्यान प्रधानतः निम्नलिखित सामाजिक समस्याओं की ओर गया -

1. बाल विवाह समस्या - इसके अन्तर्गत (क) विवाह पर अपव्यंय (ख) बाल विधवा दुर्दशा, (ग) अनमेल विवाह ।
2. विवाहित जीवन की समस्या - (क) लम्पट पुरूष (ख)लम्पट स्त्री (ग) आदर्श पत्नी ।
3. अंध विश्वास - तीर्थ, पंडा, ओका, गोसाईं ।
4. अन्य सामाजिक कुरीतियां ।

सर्वप्रथम वैवाहिक कुरीतियों को लेकर श्री तोताराम वकील ने विवाह विडंबन (1889) नाटक लिखा । कन्या का पिता ऋण लेकर विवाह की प्रसिद्धि सुनना चाहता है, स्त्री के कहने से अपनी चादर से बाहर पैर फैला देता है । परिणाम यह होता है कि जेल की हवा खानी पड़ी पं. गौरीदत्त ने भी 'सर्राफी नाटक' में बाल-विवाह प्रचलन को लेकर श्रीशरण कृत बाल्य-विवाह नाटक (1847), पं. देवकी प्रसाद शर्मा कृत बाल्य-विवाह नाटक (1884), पं. देवदत्त मिश्र कृत बाल्य-विवाह दूषक (1885), छुट्टनलाल स्वामी कृत बाल्य-विवाह नाटक (1898 ई.) में लिखे गए ।

राधाकृष्ण दास कृत दु.खिनी बाला रूपक (1880) में भी विधवा समस्या को लेकर बाल-विवाह की बुराई की । सुधारवादी नाटक के कारण आदर्श के सामने कला घायल हो गई है ।

जब सुन्दर युवती किसी वृद्ध के साथ बाँध दी जाती है । श्री घनश्याम दास ने अपने नाटक 'वृद्धावस्था विवाह नाटक' में इसी कुरीति का कुफल दिखाया है । अनमेल विवाह को लेकर श्री गोपालराम गहमरी ने नाटक विद्याविनोद (1892), पं. देवीदत्त शर्मा ने बाल्य-विवाह नाटक (1890) लिखे गए ।

हिन्दू समाज ने बहुविवाह को तो सहन किया है किन्तु कभी भी पर पत्नी पर कुदृष्टि नहीं सही । वह सदा 'मातृवत् परदारेषु' का उद्घोष करता रहा है । वैसे समाज में रावण, इन्द्र व नहुष की तरह लम्पट पुरूष उत्पन्न हो ही जाते हैं । भारतेन्दु कालीन नाटककारों ने भी जब हिन्दू समाज में लम्पट पुरूषों की विवाहिता पत्नियों को दखा तो उनका हृदय रो उठा । उन्होंने भी अपने नाटकों में ऐसे लम्पट पुरूषों को शिक्षा देने और दु:खी विवाहिता पत्नी के मनस्तापों को खोलकर रख देने के लिए लेखनी उठाई । सर्वप्रथम बालकृष्ण भट्ट ने आदर्शवादी रूप में शिक्षादान (1877), यथार्थवादी रूप में निद्धिलाल ने विवाहिता विलाप (1898), पं. राधाचरण गोस्वामी कृत बूढ़े मुँह मुँहासे (1887) में लिखा । शिक्षादान में 'रसिक लाल' नाटक का नायक एक ऐसा ही लम्पट नायक है । नाटककार ने शिक्षा देने का एक मनोवैज्ञानिक ढंग नाटक में रखा है । नायिका नैहर की नाइन को पुरूष बनाकर प्रेम स्वांग रचती है । जब नायक घर आता है तो अपनी पत्नी को पर पुरूष से बातें करती देखकर आग बबूला हो जाता है और दोनों की हत्या करने पर उतारू हो जाता है । वह पत्नी को डांट कर बोला - "कि तू यार को बुलाकर ऐसा पाप कर्म करती है 'दुष्टा, पापीयसी , दुराचारिणी ।" स्त्री भी तुरन्त बोल उठी "तुम अपना लच्छन तो देखो ।" रसिक क्रोधित हो बोला - "तो जैसा हम करते हैं तू भी वैसा ही करेगी, पापिनी ?

मालती - क्यों नहीं, क्या हमारा आदमी का चोला नहीं है ? या कि हमारी देह लोहू-मांस की नहीं है ? क्या हमारे मन नहीं है ? क्या हमारे इंद्रियां नहीं हैं ? और फिर तुम हमारा बड़ा खातिर करते हो न ! (पांचवां)

पं. बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन ने वीरांगना रहस्य महानाटक 1885 में लिखा । पं. देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत वेश्याविलास, पं. कृष्णबिहारी कृत आनन्दोद्भव नाटक (1889), वेश्या नाटक

पं. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा कृत कुन्दकली नाटक (1890) लिखे । कुन्दकली का नाटककार भूमिका में स्पष्ट कहता है कि नाटक एक सत्य घटना के आधार पर लिखा गया है । नायक 'मधुकर' का एक धुर्त मित्र है 'काग' । यह मुँह का मीठा और पेट का काला है । काग मधुकर को कुन्दकली की ओर आसक्त कराता है । कुन्दकली विवाहिता बालिका थी । उसका पति उसे छोड़कर दूर बैठा है और उसकी चिन्ता नहीं करता है । एक उदाहरण :-

मालिन - इसका स्वामी जो कुछ कर सके उस मुढ़ अज्ञानी को इसका तनक भी प्रेम नहीं है ।

× × × ×

मालिन - यदि स्वामी ही इस योग्य इसके रूप, गुण का ग्राहक होता तो यह सब व्याकुलता मुझे क्यों सताती ।

पं. प्रताप नारायण मिश्र ने अपने काल कौतुक रूपक (1886)में लम्पट स्त्रियों का भंडाफोड़ किया है । जब पतिदेव घर से बाहर है तो वह अपने यार रसिक बिहारी के साथ गुलछर्रे उड़ाती है ।-यदि पति आ जाते हैं तो उपपति को छिपा देती है और पति से कहती है - खाना खा लो । वह कहता है - मैं नहीं खाऊंगा, तुम खा लो । श्यामा कहती है - "भला तुम्हारे बिना मैं कैसे खा लूं ।" पति जब पुनः रात में रासलीला के बहाने जाने को कहता है तो कहती है "दुपहर के गये तो अब आए हो रातभर को फिर जाओ हो ले इकल्ली मैं कैसे रहूंगी ।" नाटक में देशकाल की सुंदर झांकियां हैं । कथानक सुगठित नहीं है । अश्लीलता की भी कमी नहीं है । शब्द और कार्य-अश्लीलता, दोनों के दर्शन होते हैं ।

सामाजिक नाटकों में अधिकांशतः नाटककारों का दृष्टि-केन्द्र नारी है । उन्होंने आदर्श स्त्रियों को नाटकों में चित्रित कर नारियों को उपदेश दिया । कुँवर हनुमंत सिंह रघुवंशी कृत सती चरित्र नाटक (1890), कुँवर रघुवीर सिंह वर्मा कृत मनोरंजनी नाटक (1890), श्री किशोरीलाल गोस्वामी कृत चौपट-चपेट (1891) में पतिपरायणा पत्नी का चित्र अंकित किया गया है । इस वर्ग में एक अत्यंत समर्थवान और सरस नाटक है । श्री दुर्गाप्रसाद मिश्र कृत सरस्वती नाटक (1887)नाटक पात्र-प्रधान है । नाटकों में संवाद भी बड़े सरस, स्वाभाविक एवं गतिमान है ।

हिन्दू समाज में अंधविश्वास की कमी न थी, विशेषत. स्त्रियों में । इसी को लक्ष्य

करके भी नाटककारों ने अपने नाटक लिखे । भारतेन्दु जी अपने अपूर्ण नाटक प्रेम जोगिनी (1875) में गंगा पंडा और भोजन भट्ट ब्राह्मणों का चित्रण किया (गर्भांक-4) । पं. देवकी नन्दन त्रिपाठी ने एक अन्य अंधविश्वास को अपनी नाटक जयनार सिंह की (1876) में चित्रित किया है । भारतेन्दु जी कृत प्रेमयोगिनी के 'मालो लूटें मेहरूवौ लूटें' के गोसाईं जी श्री राधाचरण जी गोस्वामी के नाटक तन, मन, धन गोसाईं जी के अर्पण (1890) में अपना पूरा रूप दिखलाते हैं जो स्त्रियों का तन, मन, धन हड़पते हैं ।

हिन्दूओं में मध्य-मास का प्रचार बढ़ गया था । भारतेन्दु जी ने अपने नाटक 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' (1873) में इसी सामाजिक पाखंड की पोल खोली है । नाटक उद्देश्य प्रधान है धर्म की आड़ में मांस खाने वालों पर करारी चोट की है, गड़कीदास के मुख से कहलवाया है - उसने पाप किया ही नहीं । वह तो कुछ भी नहीं करता । यमराज ने जब पूछा, 'अपने पापों का क्या उत्तर देते हैं' तो गड़कीदास तुरंत उत्तर देते हैं, 'मैं क्या उत्तर दूंगा । पाप-पुण्य जो करता है, ईश्वर करता है, इसमें मनुष्य का क्या दोष है -

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्राम्यन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया ।। (अंक-4)

पं. देवदत्त शर्मा कृत दिवारी के ज्वारी (1887 से पूर्व) में धुतक्रीड़ा की जाती है, उसका कपरिणाम दिखाया गया है । श्री जगन्नथ कृत समुद्रयात्रा वर्णन (1887) में समुद्रयात्रा निषेध का जो हिन्दूओं मे सामाजिक नियम बन गया था उसका विरोध किया गया । जगन्नाथ भारतीय कृत 'वर्ण व्यवस्था' नाटक में हिन्दू समाज की नीच ऊंच भावना की बुराई की गई है ।

वैसे तो हिन्दूओं की दृष्टि में धर्म, समाज से भिन्न नहीं है । यद्यपि कुछ क्रियाओं का रूप सामाजिक है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से इन धार्मिक क्रियाओं को करता है । खड़गबहादुर मल्ल कृत हरितालिका नाटिका (1887), पं. समुद्रदत्त शर्मा ने अपने नाटक आर्य मतमार्त्तण्ड नाटक (1895) लिखे । श्री स्वामी शंकरानन्द कृत विज्ञान नाटक (1898) भी प्रश्नोत्तर रूप में है । श्री जैनेन्द्रकिशोर कृत सोभासती नाटक (1900) में जैन धर्म की व्याख्या और उसके प्रचार के लिए लिखा गया है । सोभा पति की चिंता नहीं करती । उसे पति से प्यारा है जैन धर्म के अंग और जैन भगवान की महिमा दिखलाना ही लेखक का

उद्‌देश्य है ।

राजनैतिक नाटक

'हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान' वास्तव में उस काल की पूरी राष्ट्रीयता इन शब्दों में भरी है । नाटककारों के राजनैतिक नाटक भी, जो पौराणिक और सामाजिक नाटकों के समान महत्वपूर्ण हैं, इन्हीं तीन विभागों में विभाजित हो जाते हैं - हिन्दी संबंधी नाटक, हिन्दू संबंधी नाटक और हिन्दुस्तान संबंधी नाटक ।

जो गौरव आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा होने का प्राप्त है उसका प्रधान श्रेय भारतेन्दु काल को है । भारतेन्दु काल में हिन्दी के पक्ष-समर्थन के लिए प्रबल प्रयास हुए और उर्दू-फारसी का विरोध किया गया । श्री नन्हेमल ने सत्योदय नाटक (1883) में हिन्दी उर्दू को सौत रूप में चित्रित कर हिन्दी उर्दू की समस्या पर प्रकाश डाला । नाटककार ने उर्दू भाषा के वर्णमाला संबंधी दोष भी कलात्मक ढंग से उदाहरणों द्वारा प्रकट किये हैं ।

दूसरा नाटक पं. रविदत्त शुक्ल कृत देवाक्षर चरित्र (1884) लिखा । यह नाटक प्रहसन है जिसमें सफल हास्य की योजना की गई है । रामगरीब चतुर्वेदी ने नागरी-विलाप (1885), श्री रत्नचन्द्र वकील ने हिन्दी-उर्दू नाटक (1887), लिखा । इन नाटकों में हिन्द्री की तुलना उर्दू से की गई है और हिन्दी को उर्दू से श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है । हिन्दी में जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है । उर्दू में ऐसा नहीं है । हिन्दी की इस शुद्धता को पं. गौरीदत्त ने सर्राफी (1890) नाटक में भी सिद्ध किया । इस नाटक में नाटककार ने हिन्दी को 'सर्राफी वर्णमाला' से श्रेष्ठतर बताकर व्यापारियों को शिक्षा दी है । सर्राफी नाटक, शैली में अन्य नाटकों से भिन्न है, भाव में नहीं । इन सभी नाटकों से भिन्न कोटि का है । पं. देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत भारतीहरण (1898) नाटक भी भाषा संबंधी है । भारती का अर्थ है सरस्वती ।नाटक में कथानक प्रतीकात्मक रूप में बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया है । नाटक गद्य प्रधान है ।

राजनैतिक रूप से हिन्दू दृष्टिकोण का अर्थ था - यवन विरोध । नाटक में यवन विरोध दो रूपों में चित्रित हुआ है - (1) हिन्दूओं की फूट मुसलमानों को यह साहस देती है कि वे हिन्दूओं को सता सकते हैं । रामलीला और मुहर्रम एक साथ पड़ गए तो मुसलमान संघर्ष की तैयारी करेंगे । वैद्य बलदेव प्रसाद कृत रामलीला विजय नाटक (1887), श्री रत्नचन्द्र वकील कृत न्यायसभा नाटक (1887) सभी में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का चित्रण है । (2) हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का कारण था - 'गऊ' । हिन्दू, गऊ की रक्षा करना अपना परम धर्म समझते थे तो मुसलमान गाय की कुर्बानी करने को अपना मजहब मान रहे थे । नाटककारों ने गोरक्षा संबंधी दो प्रकार के नाटकों की रचना की है । पहिले प्रकार के नाटकों में पं. देवकीनन्दन त्रिपाठी का प्रचंड गोरक्षण नाटक (1881) यथार्थवादी नाटक, गोरक्षा संबंधी अकबर की घोषणा पर पं. देवकीनन्दन त्रिपाठी ने गोवध निषेध (1881), पं. अम्बिकादत्त व्यास ने गो संकट नाटक (1882), पं. जगतनारायण ने अकबर गोरक्षा न्याय नाटक (1889), पं. प्रतापनारायण मिश्र ने गो-संकट नाटक (1882) लिखा ।

भारतेन्दु कालीन नाटककारों के हृदय में देश का बड़ा ध्यान था । इन युगचेताओं ने जब अपने भारत की दुर्दशा देखी तो इनका हृदय गिरे भारत में दो हाथ देखे - एक हाथ था - खून से रंगा काला हाथ था । यह यवनों का हाथ था । दूसरा हाथ अंग्रेजों का भी था, परन्तु वह खून से भरा न था । उस खूनी हाथ के सामने यह कर्कश मात्र जंचा । नाटककारों ने भारतीय दुरवस्था के दोनों बाह्य कारणों के साथ ही साथ आन्तरिक कारणों पर भी प्रकाश डाला जिनके कारण भारत का अधःपतन हुआ था । ये आंतरिक कारण थे हिन्दुओं की फूट, धर्मान्धता, शिक्षा का अभाव इत्यादि ।

भारतेन्दु जी का 'भारत-दुर्दशा' नाटक (1876) राजनैतिक नेता के रूप में मार्ग-प्रदर्शक सिद्ध हुआ । आगे आने वाले प्रायः सभी नाटककार इससे प्रभावित हुए । यह प्रतीकवादी शैली पर लिखा गया नाटक है । नाटक में दो प्रतीक स्पष्ट है - भारत दुर्दैव और भारत भाग्य । भारत दुर्दैव देश सुधारकों की खबर लेने का जो जाल रचता है वह अंग्रेजों का ही है । वह कहता है - "हा हा ! पढ़े-लिखे लोग मिलकर देश सुधारा चाहते हैं ऐसे लागों को दमन को मैं ज़िले के हाकिमों को न हुक्म दूंगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो....जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो । हैं, हमारी पालिसी के विरूद्ध उद्योग करते हैं मूर्ख ।" (2-3 अंक) दूसरा भारत-भाग्य-सैद्धान्तिक रूप से भारत-भाग्य भारत का प्राचीन सौभाग्य है । यह वही सौभाग्य है जिसकी प्रशंसा

भारतेन्दु जी ने गाई है - "भारत के भुजबल जग इच्छति । भारत विद्या लहि जग सिच्छति ।" इस प्रकार भारत-भाग्य भारत नाटक का सहायक या पीठ-मर्द सिद्ध होता है और नाटक दुःखान्त बन जाता है । पीठमर्द सिद्ध करने वाले कई उदाहरण नाटक से प्राप्त होते हैं -"पीठमर्द नायक के समान गुणवाला होता है, नायक से कुछ ही घटकर ।"[1] इसीलिए इसे उपनायक भी कहते हैं । भारत-भाग्य दुर्दशा में भारत से अपनी अभिन्नता प्रकट करता है । भारत-भाग्य को देखकर कहता है -"हाय इस भारत का भाग्य देखा नहीं जाता । इसका भाग्य कैसा हो गया है ।"[2] भारत के पुत्रों को वह अपना पुत्र स्वीकार कर कहता है "सोइ यह प्रिय मेरे, ह्वै रहे आज चेरे", "ये मेरे भारत भरे सोइ गुन रूप समान" (अंक-6)। वह भारत का मित्र और भाई है । भारत का प्रधान सहायक भारत-भाग्य बार-बार नायक को जगाता है किन्तु वह नहीं जागत । वह कहता है - "क्या निस्सन्देह परमेश्वर इससे ऐसा ही रूठा हुआ है ? हाय क्या भारत के फिर वे दिन न आएंगे ? संसार के सब देश देश सुखी हैं केवल भारत ही दुखी है ।"[3] भारत-भाग्य को कोई मार्ग सहायता का नहीं दिखाई देता । वह क्या करें ? कहां जाए ? दुखी होकर भारत-भाग्य कहता है "ऐसी मोह निद्रा ने घेरा है कि अब इसके उठने की आशा नहीं । हाय इसे ता बड़ा ही ज्वर चढ़ा है । (रोकर) अरे कोई नहीं जो इस समय अवलम्बन दे ।"[4] इस प्रकार आरंभ से अन्त तक दुख की छाया गहरी होती हुई मरण में समाप्त होती है । हिन्दी की यह कहावत सिद्ध हो जाती है "रोते गए मरों की खबर लाए ।" रोने से नाटक का आरंभ हुआ और मरण में अन्त हुआ । इस नाटक की प्रेरणा से राजा खड़गबहादुर मल्ल कृत भारत आरत (1885), पं. अम्बिकादत्त व्यास कृत भारत सौभाग्य (1887), पं. बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन कृत भारत-सौभाग्य (1889), श्री दुर्गादत्त कृत वर्तमान दशा (1890), श्री गोपालराम गहमरी कृत देशदशा नाटक (1892) एवं पं. जगतनारायण कृत भारत दुर्दिन (1895) नाटक लिखे गए ।

भारतेन्दु जी का प्रसिद्ध नाटक अंधेर नगरी (1881) भी राजनैतिक नाटकों में

---

1. साहित्य-दर्पण, 3-39 ।
2. भारत-भाग्य न जात निहारे, अंक-6 ।
3. सबै सुखी जग के नरनारी । रे विधना भारतहि दुखारी । (अंक-6)
4. कहा करैं कित जाय नहिं सूझत कछू उपाय (अंक-6)

भारत दुर्दशा के बाद प्रसिद्ध है । भारतेन्दु जी ने इसमें राजकीय न्याय-प्रथा पर चोट की है । वे नाटक निबन्ध में लिखते हैं "गवर्नमेन्ट की तो कृपा दृष्टि चाहिए, योग्यायोग्य के विचार की आवश्यकता नहीं ।" आगे कितना सुंदर व्यंग्य करते हैं जो अंधेर नगरी के न्याय की पुष्टि करता है "सेत सेत सब एक से, जहां कपूर कपास ।" नाटककार अंग्रेजी राज्य प्रबंध पर चोट करते हुए नाटककार कहता है - "अंग्रेज शासक टैक्स दुगुना कर रहे हैं । बराबर टैक्स बढ़ता जा रहा है ।" "न्यायाधीश बड़े अन्यायी हैं । ये अन्या‍ करते हैं तब भी प्रजा ध्यान नहीं देती है ।"

भारतेन्दु जी की आशावादिता इस नाटक में सबसे स्पष्ट है । भारतेन्दु जी आशा दिलाते हैं कि अन्याय करने वाले हाकिमो का अंत होगा ही । जैसे चौपट राजा का हुआ । भारतेन्दु जी के अनुकरण पर दो नाटक ऐसे ही लिखे गए । वे हैं पं. विजयानन्द त्रिपाठी कृत महाअंधेर नगरी और पं. देवदत्त शर्मा कृत अतिअंधेर नगरी, पं. देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत बैल छै टके को, श्री हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ कृत ठगी की चपेट (1884), कृषक साहूकार समस्या की लेकर पं. देवकीनन्दन त्रिपाठी ने एक एक के तीन तीन (1878) नाटक लिखा ।

ऐतिहासिक नाटक

इतिहास लिखने की वर्तमान प्रथा हमारे यहां न थी । ऐतिहासिक को कल्पना के साथ मिलाकर पौराणिक रूप दिया गया था । शुद्ध इतिहास के दर्शन हिन्दी में भारतेन्दु काल से ही होते हैं । फलतः ऐतिहासिक नाटकों की रचना भी हिन्दी में पहली बार भारतेन्दु काल में ही हुई । नाटककारों ने प्रधानतः मुस्लिम काल के हिन्दू वीरों और वीरांगनाओं के जीवन-चरित्र को लेकर नाटक लिखे । ऐतिहासिक नाटकों में अधिकांशत दुखान्त हैं जिनमें

---

1. नाटक निबंध, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पहिला भाग, प्र.सं.पृ.-754 ।
2. चना हाकिम सब जो खाते, सब पर दूना टिकस लगाते ।
3. जैसे काजी वैसे पाजी, रैयत राजी टके सेर भाजी ।
4. जहां न धर्म न बुद्धि नहिं नीति न सुजन समाज ।
   वे ऐसे आपुहिं नसे जैसे चौपट राज ।। (अंक-5)

नाटककारों के निराश हृदय से आंसू बहे हैं । भारतेन्दु काल में दो ऐतिहासिक नाटक लिखे गए । पहला - पहला नायिका प्रधान, दूसरा - नायक प्रधान नाटक ।

नायिका प्रधान नाटकों में वीरांगनाओं को प्रधानता मिली है और ऐतिहासिक नाटकों का आरंभ, भारतेन्दु जी कृत नायिका प्रधान नाटक, 'नीलदेवी' (1880) से हुआ । यह नाटक दुखान्त है । नायक का वध कर दिया जाता है और नायिका सती हो जाती है । दूसरा नाटक भारतेन्दु कृत सती प्रताप है । दोनों में आदर्श पत्नी का साहस सामने रखा है । नाटककार चाहता है कि उसके देश की स्त्रियां भी अंग्रेज रमणियों की भांति साहसी, आत्म-निर्भर और व्यवहारकुशल बन जाएं, हां अपनी भारतीयता न छोड़ें ।

नीलदेवी के द्वारा उन्होंने भारत-रमणी से कहा - "साहस कर, पत्थर का जवाब पत्थर से दे ।" भारतेन्दु जी ने अपने हिन्दू विचारों को बड़ी स्पष्टता से रखा है । नीलदेवी के एक वर्ष बाद बा. राधाकृष्णदास, जी ने नीलदेवी के ही पदचिह्नों पर'पद्मावती' (1882) नाटक लिखा । इन दोनों नाटकों में बहुत-सी समानताएं हैं । श्री काशीनाथ खत्री ने दो नग जोड़े । वे हैं - सिन्धु देश की राजकुमारियां (1884) एवं गुन्नौर की रानी । ये दोनों लघु नाटक, नायिका प्रधान हैं । पं. राधाचरण गोस्वामी कृत सती चन्द्रावली (1889), सन् 1893 में श्री गोपालराम गहमरी ने 'यौवन योगिनी' नाटक लिखे । नायिका प्रधान दो नाटक वीरवाया (1893) और मीराबाई इस परंपरा से हटकर सुखान्त नाटक हैं ।

इन सब नाटकों से सर्वथा भिन्न है, पं. बलदेव प्रसाद कृत मीराबाई (1890), नायिका प्रधान ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास विरोध सबसे अधिक इसी में है । लेकिन इसमें नाटककार न चरित्र-चित्रण कर सका है और न भक्ति की पावन सरिता बहा सका है ।

नायक प्रधान ऐतिहासिक नाटकों की संख्या नायिका प्रधान नाटकों से कम है । हिन्दू काल के नाटक संख्या में भी अल्प हैं, और महत्व में भी । काशीनाथ खत्री कृत लवजी का स्वप्न (1884), श्री बैकुंठ दुग्गल कृत श्री हर्ष (1884) और श्री शालिग्राम कृत पुरू विक्रम नाटक (1895) हिन्दू काल के नाटक हैं ।

श्री राधाचरण गोस्वामी ने अमरसिंह राठौर (1895) में हिन्दू राष्ट्रीयता का चित्रण

किया है । नाटक, टाड साहब के राजस्थान के आधार पर लिखा गया है । अमरसिंह देशभक्त भी हैं और मुस्लिम विद्रोही भी । भारत के प्राचीन गुण गाए गये हैं । नाटक दुखान्त है क्योंकि नायक युद्ध करते मर जाता है ।

पं. प्रतापनारायण मिश्र के नाटक हठी हमीर में भी नायक हठी है किन्तु वहां उसका हठ सिद्धान्त पक्ष का है, मूर्खता का हठ नहीं । हमीर के हठ का अर्थ उसका प्राण है जिसे उसने पूरा किया ।

नायक प्रधान ऐतिहासिक नाटकों में बा. राधाकृष्णदास जी के महाराणा प्रताप सिंह (1897) ने अच्छी ख्याति पाई थी । इसमें कई दृश्य बड़े मार्मिक हैं (6-2) । हिन्दूत्व की भावना और देशप्रेम दोनों का सुन्दर सामंजस्य है । नाटक पर पश्चिमी शैली का प्रभाव है । युद्ध एवं मृत्यु के दृश्य दिखाए गए हैं । बाह्‌ और अन्तः संघर्ष चित्रित हैं । कविता और गीत सरस है । नायक-प्रधान नाटकों में यह नाटक सबसे सुन्दर बन पड़ा है ।

श्रीनिवास दास द्वारा लिखित संयोगित स्वयंवर (1885) का नामकरण न नायक के ऊपर, न नायिका के ऊपर, वरन् एक घटना विशेष के ऊपर है । तब भी नाटक नायक-प्रधान है । पृथ्वीराज नायक है । यह नाटक अन्य सभी नाटकों से भिन्न है । यहां युद्ध देश के कारण नहीं होता, वरन् पत्नी-प्राप्ति के लिए होता है । भाषा प्रौढ़, सरल और सुन्दर है । संवाद एवं गीत थियेट्रीकल हैं ।

अनूदित नाटक

संस्कृत से अनूदित नाटक :-

किसी भाषा की समृद्धि का पता उसके मौलिक साहित्य से ही चला करता है किन्तु अनूदित साहित्य का भी मूल्य और महत्व होता है । भारतेन्दु के पूर्व के ब्रजभाषा नाटकों में अनुवादों और छायानुवादों की संख्या अधिक है ।

रत्नावली :- भारतेन्दु जी ने भी नाटक जगत में संस्कृत के अनुवादों के साथ प्रवेश किया । उन्होंने 1868 मे रत्नावली नाटक का अनुवाद किया । नांदी के तीन श्लोकों का अनुवाद गद्य में है शेष पूरी प्रस्तावना के गद्य का गद्य में पद्य का पद्य में अनुवाद है । भारतेन्दु जी के इस अनुवाद ने नाटककारों को अनुवाद की ओर प्रेरित किया । 1872 में पं. देवदत्त तिवारी ने भी रत्नावली का अनुवाद किया । पं. रामेश्वर भट्ट ने 1895 में और श्री बालमुकुन्द गुप्त ने 1898 में रत्नावली का अनुवाद किया ।

प्रबोध चन्द्रोदय :- भारतेन्दु युग में प्रबोध चन्द्रोदय के 5 अनुवाद हुए । सबसे पहले भारतेन्दु जी ने 1872 में प्रबोध चन्द्रोदय के तीसरे अंक का अनुवाद पाखंड विडम्बन नाम से किया । यह अनुवाद बड़ा सरस है । दूसरा अनुवाद पं. सीतलाप्रसाद जी ने (1879), श्री अयोध्याप्रसाद चौधरी (1885 ई.), श्री देवीदीन ने (1885ई.) और श्री भवदेव जी दुबे ने (1896) में गद्यात्मक अनुवाद किए ।

मृच्छकटिक :- मृच्छकटिक के 5 अनुवाद हुए जिनके अनुवादक हैं - 1. पं. बाल-कृष्णभट्ट, 2. श्री दामोदर शास्त्री, 3. पं. गदाधर भट्ट (1880), 4. श्री दयालसिंह ठाकुर और 5. ला. सीताराम (1899) ।

भवभूति :- भारतेन्दु काला में भवभूति को बहुत सम्मान मिला । उनके 'उत्तम रामचरितम्' के 5 अनुवाद हुए । पं. देवदत्त तिवारी (1871 ई.), श्री नंदलाल विश्वनाथ दुबे (1896), ला. सीताराम (1897), पं. बलदेव प्रसाद मिश्र, पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र ने आधार बनाकर (1895) में सीता बनवास नाम से अनुवाद किया ।

भवभूति के दूसरे नाटक 'मालती माधव' के दो अनुवाद हुए । पहला ला. शालिग्राम ने 1881 में ला. सीताराम ने 1898 में अनुवाद किया । भवभूति के तीसरे नाटक 'महावीर चरितम्' का ला. सीताराम (1899) और पं. बलदेवप्रसाद मिश्र ने किया ।

कालिदास :- महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम' का गद्यात्मक अनुवाद राजा लक्ष्मण सिंह ने 1863 ई. में, 1888 ई. में, राजासाहब ने पद्यात्मक अनुवाद किया । पं. नन्दलाल विश्वनाथ ने 1887 में शकुन्तला का अनुवाद किया । पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र ने भी

1901 में शकुन्तला का अनुवाद किया ।

कालिदास के विक्रमोर्ववशीयम् नाटक का अनुवाद गदाधर मालवीय ने और मालविकाग्निमित्र का ला. सीताराम ने किया ।

अन्य नाटकों का भी अनुवाद किया गया जैसे जैसे ला. सीताराम ने नागानंद का, वेणी संहार का एक पं. अम्बिकादत्त व्यास और दूसरा पं. ज्वाला प्रसाद मिश्र (1887), रामनाथ कायस्थ ने हनुमन्नाटक का अनुवाद 1872 ई. में किया ।

भारतेन्दु जी ने मुद्राराक्षस का बड़ा सफल और पुष्ट अनुवाद किया । उन्होंने प्राकृत से कर्पूरमंजरी का भी अनुवाद किया । पाखंड विडबन (1872) एवं धनंजय विजय का (1873) में अनुवाद किया ।

अंग्रेजी से अनूदित नाटक :-

हिन्दी साहित्य अपने आरंभिक समय से ही अंग्रेजी से प्रभावित है । नाटकों में यह प्रभाव दो रूपों में परिलक्षित होता है - 1. अंग्रेजी विचार और शैली को अपनाया गया जिसके फलस्वरूप दुखान्त नाटकों का प्रणयन हुआ व एकांकी का निर्माण हुआ । 2. अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद हुआ ।

सन् 1879 में श्री तोताराम जी ने जोसेफ एडीसन के केटो नाटक का केटो वृत्तान्त नाम से अनुवाद किया । भारतेन्दु जी ने 1880 में शेक्सपियर के संसार प्रसिद्ध नाटक मर्चेन्ट ऑफ वेनिस का अनुवाद 'दुर्लभ बन्धु' अर्थात् वंशपुर के महाजन नाम से किया । इस अनुवाद को भारतेन्दु जी ने पूर्ण न कर सके थ , उनके बाद पं. रामशंकर जी ने पूर्ण किया था ।[1] शेक्शपियर के इस नाटक के तीन अनुवाद और हुए हैं । आर्य (महिला) जबलपुर ने वेनिस नगर का व्यापारी (1887), श्री बालेश्वर प्रसाद ने वेनिस का सौदागर, और श्री दयाल सिंह ठाकुर ने भी इसी नाम से लिखा ।

---

1. बा. शिवनन्दन सहाय कृत 'हरिश्चन्द्र' पृ.-202 ।

शेक्सपियर के एक दूसरे नाटक मैकथे का अनुवाद साहसेन्द्र साहस (1893) में भी पं. मथुरा प्रसाद शर्मा ने भारतेन्दु जी की नामकरण की शैली को अपनाया । शेक्सपियर के ऐज यू लाइक इट का अनुवाद पुरोहित गोपीनाथ ने 'मनभावन' (1896) नाम से किया । पुरोहित गोपीनाथ ने शेक्सपियर के दूसरे नाटक रोमियो एण्ड जूलियट का अनुवाद प्रेमलीला नाम से किया । शेक्सपियर के अन्य नाटक किंगलर का अनुवाद प. बद्रीनारायण बी.ए. (जयपुर वासी) ने किया । अंग्रेजी से अनूदित नाटकों में भारतीयकरण शैली में ही नामों को अधिकांशतः अपनाया गया ।

बंगला से अनूदित नाटक :-

बंगला नाटकों की परंपरा प्राचीन है । 1753 ई. में सबसे पहली नाट्यशाला स्थापित हुई थी । 1775 में कलकत्ता थियेटर की स्थापना हुई । यह 1808 ई. तक अपना कार्य करता रहा ।[1]

1853 में बा. पंचानन बनर्जी का प्रेम नाटक सर्वप्रथम अनूदिन नाटक है । राय बहादुर दिनेशचन्द्र सेन के अनुसार - "इससे पूर्व के नाटक, नाटक नहीं हैं क्योंकि उनमें नाटकीय पात्रों व संवादों का अभाव है ।"[2] श्री दीनबन्धु के नीलदर्पण (1860) ने नाटकों को प्रोत्साहन दिया ।

भारतेन्दु जी पर भी इस उन्नत बँगला नाटक साहित्य का अतुल प्रभाव पड़ा । उनका नाटक भारत-जननी (1877) बँगला का अनुवाद है । बालकृष्ण भट्ट ने माइकेल के पद्मावती (1878) और शर्मिष्ठा (1880) का अनुवाद किया ।[3] किशोर दे कृत पद्मावती नाटक का अनुवाद बा. रामकृष्ण वर्मा ने किया ।श्री उदितनारायण लाल जी ने श्री मनमोहन वसु कृत सती नाटक का 1889 ई. में, श्री ज्योतिन्द्रनाथ ठाकुर कृत अश्रमति का 1865 में और दीप निर्वाण (1895) का अनुवाद किया । श्री मनमोहन बोस के रामाभिषेक नाटक का अनुवाद रामगोपाल विद्यान्त ने 1876 में किया । श्री उपेन्द्रनाथदास कृत शरत् सरोजनी और सुरेन्द्र विनोदिनी का

1. इंडियन स्टेज, भाग-1, पृ.-176 । 2. ईंडियन स्टेज, भाग-2, पृ.-15 ।

3. बाबू ब्रजरत्नदास जी का कथन है कि शर्मिष्ठा का अनुवाद पं. रामचरण शुक्ल ने किया था । (हिंदी नाट्य साहित्य, पृ.-141)

श्री केशवराम भट्ट ने 1874 में शरत्-सरोजनी का अनुवाद सज्जाद संबुल नाम से और 1875 में सूरेन्द्र विनोदिनी का अनुवाद शमसाद सौसन नाम से किया । माइकेल बाबू का तीखे व्यंग्य भरा एक नाटक 'एइ कि बोले सभ्यता' का अनुवाद 1884 में पं. ब्रजनाथ शर्मा ने किया । श्री गोकुलचन्द्र ने बूड़ो शालिकेर वाहन नामक बँगला नाटक का अनुवाद 'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखें तमासे' नाम से किया है ।[1] श्री गोपालराम गहमरी जी ने दादा ओ आमि नामक बँगला नाटक का अनुवाद दादा और मैं नाम से (1893) किया ।

रूपान्तरित नाटक : बँगला से रूपान्तरित

भारतेन्दु युगीन नाटकों में साहित्यिक सौन्दर्य और कलात्मक शैली के दर्शन होते हैं । भारतेन्दु जी का विद्यासुन्दर (1868) सर्वप्रथम रूपान्तरित नाटक है । स्वभावतः उससे उस प्रौढ़ता की आशा नहीं की जा सकती जो आगे आने वाले नाटकों में प्राप्न होती है । इसी नाटक से 'होनहार विरवान के होत चिकने पात' वाली लोकोक्ति चरितार्थ हो जाती है । नाटक वस्तु प्रधान है । नाटककार का ध्यान कथा पर अधिक केन्द्रित है, पात्रों पर कम । 'विद्यासुन्दर' बँगला का सबसे पहला नाटक भरतचन्द्र गुणाकार का था । यह नाटक बड़ा लोकपिय सिद्ध हुआ । भारतेन्दु जी ने यतीन्द्रमोहन टैगोर से भी आख्यान लेकर विद्यासुन्दर नाटक लिखा । डॉ. सोमनाथ और डॉ. वीरेन्द्र कुमार शुक्ल ने इसे रूपान्तरित माना है ।[2]

संस्कृत से रूपान्तरित नाटकों में सत्यहरिश्चन्द्र (1875) का सर्वप्रथम स्थान है । रूपान्तरित नाटकों में नाटककार कहीं से कथा और बहुत से भाव एवं उक्तियों लेकर अपनी मौलिकता दिखाने का प्रयास करता है । रूपान्तरित नाटक मौलिकता के ज्यादा पास हो जाता

---

1. डॉ. सोमनाथ कृत हिंदी नाटक सात्यि का इतिहास, पृ.-87 ।
2. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास - डॉ. सोमनाथ पृ.-40 ।

है ।। सत्यहरिश्चन्द्र में बाबू हरिश्चन्द्र ने बौद्धिक सत्य-सिद्धान्त भरा है । रूपान्तरित नाटकों में दूसरा नाटक 'चन्द्रावली' है जिसमें उन्होंने हार्दिक अनुराग भरा है । वस्तुतः सत्य हरिश्चन्द्र नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र और काशी नगरी के जीवन-रा बाबू हरिश्चन्द्र के जीवनं में अद्भूत समता है - वास्तव में राजा हरिश्चन्द्र के समान बाबू हरिश्चन्द्र का कथन था -

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार ।
पै दृढ़ श्री हरिश्चप्द्र की, टरै न सत्य विचार ।।
. सत्यहरिश्चन्द्र नाटक, अंक-प्रथम ।

फलतः 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में जो दोहा सूत्रधार पढ़ता है और जिस दोहे को शीतला प्रसाद त्रिपाठी ने कहा था वह नितांत सत्य है -

"जो गुन नृप हरिचंद में, जगहित सुनियत कान ।
सो सब कवि हरिचंद में, लखहु प्रतच्छ सुजान ।"

विद्वानों ने उत्कृष्ट और प्रौढ़मान् इस कृति की प्रशंसा की है ।[1] नाटककार का उद्देश्य बालकों के सामने एक ऊंचा आदर्श रखना है ।

भारतेन्दु-युगीन नाटकों में संवाद तत्त्व

नाटकीय कथावस्तु में आए हुए विभिन्न पात्रों के परस्पर वार्तालाप और उनके चरित्रों के साथ कथा का प्रसार करने वाले साधन को 'संवाद' कहते हैं । नाटक रचना में कथोपकथन का बड़ा ही महत्व है । मुख्यतः इससे दो काम निकलते हैं । सर्वप्रथमतः कथोपकथन से

---

1. बा. शिवनन्दन सहाय कृत 'भारतेन्दु बाबू का जीवन-चरित्र', पृ.-178 ।

कथावस्तु का विकास होता है । इसी के द्वारा नाटक की कथा आगे बढ़ती है । दूसरा यह कि कथोपकथन से पात्रोंके चरित्र के विषय में बहुत कुछ पता चल जाता है । किसी पात्र के विचारों एवं भावों का पता उसकी बातचीत से लग जाता है । इस प्रकार कथोपकथन की महत्ता में संदेह नहीं । नाटककार को कथोपकथन की योजना में अधिक सावधानी से काम लेना चाहिए । प्रयत्न तो यह होना चाहिए तक एक भी वाक्य व्यर्थ नहीं होना चाहिए । कथोपकथन का संक्षिप्त होना अनिवार्य है । इसके लिए वाक्चातुरी की आवश्यकता है । वैसे सफल नाटककार पटुतापूर्ण वाक्यों के द्वारा नाटक को आकर्षक बना देता है । इसके अन्तर्गत भाषा और शैली का विधान आप ही हो जाता है ।

प्राचीन नाट्यचार्यो ने संवाद के तीन भेद किये हैं - (1) सर्वश्राव्य, (2) नियत श्राव्य और (3) अश्राव्य । इससे अतिरिक्त संवाद का एक और भेद है - आकाशभाषित ।

सर्वश्राव्य वह अंश है जिसे सभी पात्र सुन सके । सर्वश्राव्य कथन के लिए नाटककार कोई रंग संकेत प्रायः नही देता है । हां स्वगत कथन के बाद सर्वश्राव्य संवाद के लिए 'प्रकट' या 'प्रकाश' रंग संकेत देता है । जहां पात्र बोल रहा है और कोई रंग संकेत नहीं कि यह मन में या आप ही आप है वहां सर्वश्राव्य कथन है ।

नियत श्राव्य कुछ पात्र विशेष के सुनने के लिए होता है ।

अश्राव्य वह अंश है जो केवल दर्शकों को सुनाने के लिए कहा जाए उसे अश्राव्य कहते हैं, इसे स्वगत कथन भी कहते हैं । यह दो रूपों में प्राप्त होता है - स्वगत कथन और एकान्त कथन ।

जब पात्र दूसरे पात्रों के रंगमंच पर उपस्थित रहते हुए भी कोई हृदय की गोपनीय बात प्रकट करता है जिसे सामने के अन्य पात्र न सुन सकें, वह स्वगत कथन है ।

एकांत भाषण इसका दूसरा रुप है जो अधिक अस्वाभाविक नहीं लगता । चन्द्रावली नाटक के सुन्दर गीत और कविताएं एकान्त भाषण द्वारा ही प्राप्त होते हैं ।

भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने संवाद के केवल तीन प्राचीन भेदों को अपनाया है । वे तीन भेद हैं - 1. सर्वश्राव्य, 2. अश्राव्य और 3. आकाशभाषित । इन्होंने नियतश्राव्य एवं उसक दोनों भेदों का प्रयोग नहीं किया है ।

भारतेन्दु के नाटकों में चरित्र-चित्रण गौण है । लम्बे स्वगत कथन इस काल के नाटककारों की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है कि लम्बे स्वगत कथन भी अवश्य लिखे जाएं । अधिकांश नाट्ककार कहीं-न-कहीं स्वगत कथनों का विस्तार करते ही है । निम्न तालिका से इसका अनुमान हो सकता है -

दीर्घ स्वगत कथन और एकान्त भाषण

नाटक	दृश्य	पात्र	पंक्तियां
विद्यासुन्दर	1-2	सुन्दर	28
विवाहिता विलाप	झांकी-2	मोहनी	44
मनोरंजनी	अंक-6	मनोरंजनी	45
रणधीर प्रेममोहिनी	1-5	सुखवासी लाल	50
प्रेमसुन्दर	1-1	बल्लभ	50
चौपट चपेट	अंक-3	दुर्जन बन्धु	52
मयंक मंजरी	अंक-3	दुर्जन बन्धु	52
यौवन योगिनी	1-2	शंकराचार्य	56
विवाहिता विलाप नाटक	झाँकी-4	मोहनी	58
चौपट चपेट	अंक-2	बैजू बावला	67
ध्रुव तपस्या नाटक	2-1	सुनीति	67
नागरी विलाप	दृश्य-3	नागरी	73
वीरांगना रहस्य	2-1	खुर्शेद	84
वीरांगना रहस्य	1-1	लूका लाल	90
माधवानल कामकंदला	1-5	माधव	115
विवाहिता विलाप नाटक	झांकी-4	चंपा	126
सत्यवती नाटक	72	राजा	4 पृष्ठ

इस काल में दीर्घ कथन की प्रणाली दिखाई देती है । ये दीर्घ कथन रंगमंच की व्यवस्था के ही कारण लिखे जाते थे । सामने बैठी अधिक जनता तक अधिक स्पष्टता से पहुंचने के लिए विस्तृत कथान लिखे जाते थे । इन दीर्घ कथानों में उपदेश, राजनीतिक व्यंग्य, सामाजिक कुरीति, रसमय पंक्तियां और विशेष विचार होते थे ।

नाट्यशास्त्र का आकाशभाषित भी भारतेन्दुकाल में प्राप्त होता है । आकाशभाषित में एक ही पात्र ऊपर मुख करके संवाद रूप में कथन करता है । वह बीच-बीच में इस प्रकार बोलता है - "क्या कहा ? ऐसा क्यों नहीं हुआ ?" फिर उसका उत्तर भी देता है । भारतेन्दु जी के नाटक विषस्य विषमौषधम और भारत आरत (भाग-1) में ही यही आकाशभाषित प्रयुक्त है । मिथिलेश कुमारी नाटक में माधव का कथन आकाशभाषित है -

"माधव - (जाता है ऊपर देखकर) ऐं क्या कहा ?
कि मैं राजकन्या का रक्षक हूं और आज्ञा
बिना मैं जाने न दूंगा । तो मैं भी यहां
का पुजारी हूं । मुझे जाने से कौन रोक
सकता है । क्या कहता है कि वहां
जाने का क्या प्रयोजन है ? अरे तू देखता
नहीं कि ये सुमन गुरू ने राजकन्या को
दे देने को मुझे भेजा है ।"(अंक-1)

आकाशभाषित को भी बहुत कुछ अंशों में अस्वाभाविक कथन कहा जा सकता है । इसके आधिक्य से नाटक में दोष आ जाता है । प्राचीन नाटकों इसका प्राय. प्रयोग किया जाता था । कदाचित् अनावश्यक रूप में पात्रों की संख्या नहीं बढ़ने पाए इसी विचार से इसका समावेश हुआ होगा । भारतेन्दु के नाटकों में आकाशभाषित का भी कम प्रयोग हुआ है । 'सत्यहरिश्चन्द्र' में एक स्थान में हरिश्चन्द आकाशभाषित करते हुए पाये जाते हैं -

हरिश्चन्द्र - (ऊपर देखकर) क्या कहा ? क्यों तुम
ऐसा दुष्कर्म करते हो ?" आर्य यह
बात मत पूछो यह सब कर्म की गति
है (ऊपर देखकर)क्या कहा ? तुम

> क्या कर सकते हो, क्या समझते हो और किस तरह रहोगे ?" इसका क्या पूछना है । स्वामी जी कहेगा वह करेंगे; समझते सब कुछ हैं, इस अवसर पर समझना कुछ काम नहीं आता, और जैसे स्वामी रखेगा वैसे रहेंगे । जब अपने को बेच ही दिया तब इसका क्या विचार है । (ऊपर देखकर) क्या कहा ? "कुछ दाम कम करो ।" आर्य, हम लोग तो क्षत्रिय हैं, हम दो बात कहाँ से जानें । जो कुछ ठीक था कह दिया ।

पश्चिम में तो 'संवाद' को वस्तु एवं पात्र से भिन्न तत्त्व मानकर गंभीरता से पर्यालोचना हुई । अरस्तु की इमीटेशन (अनुकृति) भी परिभाषा को लेकर तर्क-वितर्क किया गया कि संवाद वास्तविक ही होने चाहिए । युरोप में टामरोबर्टसन, इब्सन, चैखोब जैसे प्रसिद्ध कलाकार एवं विद्वानों ने संवादों में वास्तविकता होनी चाहिए, यह उद्घोष किया । दूसरी ओर शेक्सपियर ने संवादों में जीवन की अनुरूपता भरते हुए भी, साहित्यिकता के द्वारा संवादों को सजाया, और वास्तविकता को गौण स्थान दिया ।

भारतेन्दु कालीन नाटकों में संवाद की ओर अत्यधिक ध्यान दिया गया है । अत. भारतेन्दु कालीन नाटकों में यह स्वतंत्र शिल्प विधान है जिसका विवेचन आवश्यक हो जाता है । उनके संवादों में संस्कृत की साहित्यिकता है तो पश्चिम की वास्तविकता भी है । अतः संवाद दो प्रकार के मिलते हैं - वास्तविक और साहित्यिक ।

वास्तविक संवादों में यथार्थवादी नाटककार जीवन का यथार्थ चित्र.खींचन के पक्षपाती होते हैं । इनका मत है कि जीवन में जैसे संवाद सुनाई पड़त हैं, वैसे ही नाटकों में आने चाहिए क्योंकि नाटक जीवन की ही तो अनुकृति या इमीटेशन है । भारतेन्दु कालीन नाटककारों का ध्यान संवादों के इस गुण की ओर अवश्य रहा, तभी तो प्रायः सभी नाटककारों

ने नौकरों से अवधी, भोजपुरी, कन्नौजी इत्यादि स्थानीय बोलियों में संवाद करवाया है । कुछ उदाहरण -

> गाय सड़क पर बैठी है । और कुछ अनपढ़ मुसलमान उसे उठाना चाहते हैं परंतु वह नहीं उठती । लेखक उनका संवाद अपने शब्दों में रखता है । संवाद सुनते और पढ़त ऐसा प्रतीत होता है कि हम वास्तविक संवाद सुन रहे हैं -

"अबे उठ, टनेमरानी, यहां पर बैठने से तेरा कौन-सा खसम है जो बचा लेगा । अजी म्यां दो लगावो आप ही नाचते-नाचते भगेगी ।
अजी, इस छिनाल को कुछ चारा लाकर खिलाओ तो देखो कैसे दौड़ती है (बकरूद्दीन घास ला के पुचकारता है)
अजी कैसी हरामजादी गाय है चारा दिखलाने से भी नहीं उठती ।

(प्रचण्ड गोरक्षण नाटक, अंक-।)

दो अनपढ़ और 'त्रियाचरित्र' वाली स्त्रियों का संवाद देखिए -

स्यामा : बीबी ! की बात । ऐस जमाने में कोई भोला भी होय है । सब जानते हैं कि जवानी दीवानी कहावे है, जब हमी को चैन नहीं है तो बैयर बानी की कौन ? पर जब तक एक बात परदे में रहे अच्छा ही है न ?

चंपा : (आक्षेप से) वाह रे परदे वाली !

स्यामा : नहीं तो क्या तेरी तरह मन्दिर-मन्दिर का चन्नामिर्त लेती फिरू हूं ?

चंपा : नहीं तूं तो पूजारिन बनी घरों में बैठी रहै है न ! हि हि !

(कलि-कौतुक रूपक, दृश्य-।)

इस काल के प्राय: सभी सामाजिक नाटक, प्रहसन, थियेट्रीकल एवं राजनैतिक नाटकों में सवादों की वास्तविक शैजी के पूर्ण दर्शन होते हैं, अन्य प्रकार के नाटकों के संवादों में भी वास्तविकता को स्थान मिला है । उदाहरणस्वरूप देखिए - पं. देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत रुक्मणी हरण नाटक (4-5), पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र कृत सरस्वती नाटक, श्रीनिवासदास कृत तप्ता संवरण और रणधीर प्रेममोहनी, महाराज दीनदीक्षित कृत प्रह्लाद चरित्र नाटक, अग्रहरी कृत सुलोचना सती ।

भारतेन्दु युगीन नाटकों में साहित्यिक संवाद तीन प्रकार के मिलते हैं - 1. अलंकृत संवाद और 2. भावात्मक संवाद ।

1. **अलंकृत संवाद** - नाटककार अलंकारों के प्रयोग से संवाद को सजाता है । उदाहरण -

मालती	:	(लजाकर) महाराज आपका कल्याण हो ।
बसंत	:	प्यारी, मेरे कल्याण में अब क्या सन्देह । एक खंजन के कमलस्य देखने से अमित लाभ होता है मैंने तो एक कमल पर दो खंजन निहारे ।
मालती	:	महाराज मेरा बड़ा भाग्य है जो आपके दर्शन हुए, आपके आने से यहां अरूणोदय की शोभा हुई है ।
बसंत	:	प्यारी ! तुम्हारे मुखारविन्द को देखकर मेरा मन ऐसा उमगता है जैसे पूर्णचन्द्र को देखकर समुद्र ! जो उचित समझो सो करो ।
मालती	:	मैं भी अपने मन की माला आपके गले में पहिना चुकी हूं ।

(मालती बसंत 2-1)

2. **भावात्मक संवाद** - पात्र भावावेश में आकर जब बोलता है तो उसका संवाद

भावात्मक बन जाता है । जैसे -

पृथ्वीराज : (प्रीति से, संयोगिता की ओर देखकर) मेरे नयनों के तारे, मेरे हिय के हार, मेरे शरीर का चंदन, मेरी प्राणाधार, इस समय लोकाचार से क्या प्रयोजन है ? जैसे परस्पर के विलाप में मोतियों के सार भी हृदय मो भार मालूम होते हैं इस तरह से लोकाचार इस समय मेरे व्याकुल हृदय पर कठिन प्रहार है, प्यारी रक्षा करो, अब तक तो तुम्हारे नयनों की वाण-वर्षा से छिन्न-कवच हो मैंने अपने घायल हृदय को सम्हाला । पर अब नहीं सम्हाला जाता ।

(संयोगिता स्वयंवर 2-2)

3. **लाक्षणिक संवाद** - जहां नाटककार संवाद को लक्षणा-व्यंजना के आधार पर सांकेतिक बना देता है वहां लाक्षणिक संवाद मिलता है । जैसे -

पहला उदाहरण :-

मायावती : तो अब क्या करूँ ?
अस्वालिका : पिंजरा खोल के बैठी रहो ।
माया . तब
अस्वालिका : मैं पास बैठकर खिलाऊंगी ।

(यौवन-योगिनी 3-1)

यहां अस्वालिका सखी को प्रीतम की प्रतीक्षा करती देख रही है कि प्रतीक्षा करती रहो, प्रीतम आयेगा तो मैं पकड़कर तुम्हारा सदा के लिये बना दूंगी ।

दूसरा उदाहरण :-

नायक-नायिका इसी शैली पर बात करते हैं -

रणधीर . अच्छे मनुष्य भी पराए धन से सदा बचते हैं ।

प्रेममोहिनी : परन्तु चकोर चन्द्रमा को सूर्य समझकर दूर भागे तो दोष किसका ?

रणधीर : चकोर का ।

(रणधीर प्रेममोहिनी 3-4)

गद्य-पद्य मिश्रित संवाद :-

आज केवल गद्यात्मक संवाद लिखे जाते हैं । भारतेन्दु कालीन नाटकों में गद्यात्मक संवाद भी प्राप्त होते हैं । कुछ नाटककार तो केवल गद्यात्मक संवादों का ही प्रयोग करते हैं, जैसे - गंगोत्री, गोसंकट नाटक, सावित्री नाटक (बा. देवराज कृत), एक-एक के तीन-तीन, वेश्या प्रहसन, न्याय सभा नाटक ।

भारतेन्दु काल में पद्यात्मक संवाद दो रूप में मिलते हैं, हिंदी उर्दु छन्दों में एवं गीतों में । हिन्दी छन्दों (सवैया, कवित्त) में संवाद अनेक नाटकों में हैं, उदाहरण - मयंकमंजरी (अंक 1), ध्रुवतपस्या नाटक (3-1, 3-4), प्रह्लाद चरितामृत (4-4), प्रेममंजरी (दृश्य 2), रतिकुसुमायुद्ध (दृश्य 2), सीता स्वयंवर (2-1), सीताहरण (1-2), नंद बिदा (1-3) । दूसरे प्रकार के पद्यात्कम संवाद वे हैं जहां गीतों में ही कथोपकथन हैं । संगीत नाटकों में तो आरंभ से अन्त तक गीत ही गीत है, उदाहरण - हिन्दी उर्दू नाटक (1-2), संयेगिता स्वयंवर (4-1) ।

संवाद-उपयोगिता :-

भारतेन्दु कालीन नाटकों में रंग संकेतों को छोड़कर सब कुछ संवाद ही हैं ।

नाटककार भी जो कुछ कहता है इन्हीं दोनों के माध्यम से कहता है । रंग-संकेतों का संबंध अभिनय से है और संवाद का सबंध शेष नाटक से अत नाटक में अपयोगिता की दृष्टि से संवाद छ· प्रकार का हो सकता है -

1. वस्तु-जनक संवाद, 2. पात्र-सूचक संवाद, 3. रस परक संवाद, 4. दृश्य-सूचक संवाद, 5. विचार-प्रकाशक संवाद, 6. देश-काल-ज्ञापक-संवाद ।

1. **वस्तु-जनक संवाद** - जिस संवाद से कथावस्तु अग्रसर हो वह वस्तु जनक संवाद है । प्रत्येक नाटक में संवाद यह कार्य करता है, जैसे -

विश्वामित्र राजा हरिश्चन्द्र से राज्यदान लेकर बोले - "स्वस्ति, अब इस महादान की दक्षिणा कहां है ?"

हरिश्चन्द्र : महाराज जो आज्ञा हो वह दक्षिणा अभी आती है ।

विश्वामित्र : भला दश सहस्र स्वर्णमद्रा से कम बड़ दान की दक्षिणा क्या होगी ।

हरिश्चन्द्र : जो आज्ञा ।

(सत्य हरिश्चन्द्र नाटक, अंक-1)

बस इसी संवाद से आगे कथा बढ़ती है । राजा स्वर्णमुद्रा देने पर विवश किया जाता है ।

2. **पात्र-सूचक संवाद** :- संवाद द्वारा पात्रों पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रकार से प्रकाश पड़ता है, ऐसे संवाद को ही पात्र-सूचक संवाद कहते हैं । नाटक प्रधानतः पात्र-प्रधान होते हैं । नाटक में पात्र के चरित्र का आरोप नट में किया जाता है और उस चरित्र के प्रत्यक्षीकरण के लिए उपयुक्त कथोपकथन और घटनाओं की योजना की जाती है । महान नाटककारों की रचनाओं में पात्रों की प्रधानता रहते हुए भी वस्तु की योजना इस प्रकार की जाती है जिसमें घटना और पात्र में क्रिया-प्रतिक्रिया संबंध सर्वत्र अक्षुण्ण बना रहे और वस्तु ऐसी प्रतीत न हो मानो "पैर में चक्का बाँध के हिरना कूदा होय ।"

उदाहरणस्वरूप नाटक में सभा में पुरोहित ने कृष्ण-बलराम की प्रशंसा की तो रूक्म द्वेष से भुनकर पुरोहित से कहता है - "आप लोग तो ऐसा ही कहेंगे क्योंकि विश्वामित्र को

क्षत्री से ब्राह्‌ण आपही के पुरखा लोंगों ने बनाया है - ब्रह्‌मा का और ब्राह्‌मणों का मुख क्या दूसरा है ।

(रूक्मणीहरण, ।-2)

भारतेन्दु के एक-दो पात्र सामान्य भूमि से ऊपर उठे हैं, हरिश्चन्द्र का चरित्र अवश्य ही हमसे बहुत ऊपर है । रोहिताश्व (पुत्र) की मृत्यु पर उन्हें जो झुँझलाहट और निराशा होती है वह भी अत्यंत स्वाभाविक उतरी है । कथन देखिए -

"आहा ! मुझसे बढ़कर और कौन मंदभाग्य होगा ! राज्य गया, धन-जन-कुटुम्ब सब छूटा, उस पर भी वह दारूण पुत्रशोक उपस्थित हुआ । भला अब क्या मुँह दिखाऊँ ? न जाने हमारे किस जन्म के पाप उदय हुए हैं । जो कुछ हमने आज तक, वह यदि पुण्य होता, तो हमें यह दुख देखना न पड़ता । हमारे धर्म का अभिमान सब झूठा था, क्योंकि कलियुग नहीं है कि अच्छा करते बुरा फल मिले । निस्सन्देह मैं महा-अभागा और बड़ा पापी हूं ।"

(हरिश्चन्द्र-भारतेन्दु नाटकावली, पृ.-480)

नीलदेवी के एक काल्पनिक पगले पात्र के पागलपन संवाद में भी देखिए कितनी स्वाभाविकता है -

"मार-मार-मार-काट-काट-काट-ले-ले-ले-ईषी-सी-बी-बी-बी-तुरक-तुरक-तुरक-अरे आया आया आया-भागो-भागो-भागो । (दौड़ता है) मार मार मार-और मार दे मार-जाय न जाय-दुष्ट चाण्डाल गोभक्षी जवन-अरे, हां रे जवन लाल-डाड़ी का जवन-बिना चोटी का जबन-हमारा सत्यानाश कर डाला-मार-मार-मार-शस्त्र न हो तो मन्त्र से मार ।"

3. **रसपरक संवाद** :- जब संवाद द्वारा रस की निर्झरिणी प्रवाहित की जाती है तब वहां संवाद रस-परक होता है । भारतेन्दु कालीन नाटकों में संवादों द्वारा रसोत्पादन की ओर ध्यान रहा है । अभिमन्यु नाटक के सूत्रधार का कथन है - "इन प्रेमी रसिकजनों को कोई उत्तम नाटक दिखाना चाहिए जिसमें नवों रस झलकते हों" । इसपर नटी कहती है "इसमें करूण रस और वीर रस ऐसा झलकाया है मानो साक्षात् दर्श रहा है, अक्षर-अक्षर से करूण रस टपक रहा है ।"

दूसरा उदाहरण :-

संयोगिता को नायक की प्रतिक्षा है तो सखी करनाटकी कहती है -

> "इस समय तो कुछ बड़ी चटपटी सी लग रही है कभी मार्ग की ओर कान लगाती हो कभी द्वार की ओर दृष्टि दौड़ाती हो कभी शृंगार संवारती हो कभी भूषण उतारती हो कभी कुछ कहना चाहती हो फिर कुछ सोच-विचार कर मौन हो रहती हो ।"

(संयोगिता स्वयंवर 4-1)

नायक को जब नायक के सम्मुख से उठना पड़ता है तब उसके मन की दशा क्या होती है इसका सुन्दर चित्रण नाटककार ने किया है । उसके मन का कथन - "रूकी रह, उधर माता की आज्ञा खींचती है कि नहीं, रूक मत । बेचारी बुरी फँसी है । आँखें कहती हैं देख, तो मन कहता है सावधान, अपने को वश में रख ।"

(प्रेम सुन्दर 1-3)

सरल शब्दों द्वारा वीर भाव की अभिव्यक्ति :-

> "कायर भागने का उपक्रम करते हैं । अर्द्धमृतकों का आर्तनाद कलेजा कम्पित करता है । छिन्न मस्तक

और धरातल खण्ड त्रास को द्विगुण कर देता
है ।"

(प्रेम सुन्दर 1-3)

4. **दृश्य-सूचक संवाद** :- जब पात्र कथन द्वारा किसी प्रासाद, ऋतु समय, वन सरिता इत्यादि का वर्णन करे अथवा अन्य दृश्य योजना की सूचना दे तो वहां संवाद दृश्य-सूचक है, जैसे -

"क्यों प्यारी आज क्या है जो भोर ही भोर आइना
देख रही हो और अपना मुँह आँसुओं से धो रही
हो ।"

(विवाहिता विलाप झांकी 4-42)

"यह पौन हमारी प्राण प्यारी त्रिभुवन
मोहनी का अंग स्पर्श करके आता है ।"
(भारतेन्दु - विद्यासुन्दर)

"प्राणनाथ तव मुखचंद्र की चकौरी हौं ।"
(खंड बहादुर मल्ल : रतिकुसुमायुध नाटक)

"मुसलमान की रोटी खाने से तो जात जाय और बाकी लुगाई रखने से कछू नाय ।"
(राधाचरण गोस्वामी : बुढ़े मुँह-मुँहासे)

इसके अतिरिक्त "यह कहना भी उनुपयुक्त न होगा कि यद्यपि तत्कालीन नाटकों की पद्धति में बाह्य दृष्टि से अनेक परिवर्तन हुए, किन्तु आत्मा अनेक अंशों में भारतीय बनी रही ।"[1]

---

1. डॉ. वीरेन्द्र शुक्ल : भारतेन्दु का नाट्य साहित्य (1955 ई.), पृ.-52 ।

5. **विचार-प्रकाशक संवाद** :- नाटककार पात्रों के माध्यम से भाव एवं विचार देता है जिसे संवाद-विचार प्रकाशक कहा जाता है, जैसे - 'श्री चन्द्रावली' नाटिका में भी हमें नारद जी के द्वारा चन्द्रावली की प्रेम-साधना की एक हल्की झांकी मिलती है । इसके बाद ललिता और चन्द्रावली के संलाप द्वारा चन्द्रावली के पूर्वानुराग प्र प्रकाश डाला जाता है और ललिता के रूष्ट होने पर चन्द्रावली कह ही उठती है - "नैना वह छबि नाहिंन भूलै ।" वह पूर्वानुराग अचल प्रेम में परिणत हो जाता है, सखियां जान जाती हैं और तरह-तरह के प्रश्न होने लगते हैं । वह दर्पण में जब अपना मुँह पीला देखती है, तो भगवान से प्रार्थना करती है "मै उस निर्दयी को चाहूं, पर वह मुझे न चाहे ।"

'नीलदेवी' में भी नीलदेवी के चरित्र की रूप-रेखा तराई वाली गोष्ठी में ही मिल जाती है । रानी के यह कहने पर कि 'सुना है कि ये दुष्ट अधर्म से बहुत लड़ते हैं", राजा उत्तर देते हैं - "हे प्यारी ! वे अधर्म से लड़ें, हम तो अधर्म नहीं कर सकते । हम आर्यवंशी लोग धर्म छोड़कर लड़ना क्या जानैं ? यहां तो सामने लड़ना जानते हैं । जीते तो निज भूमि का उद्धार और मरे तो स्वर्ग ।" तब रानी कहती है - "तो भी इन दुष्टों से सदा सावधान ही रहना चाहिए । आप लोग सब तरह से चतुर हैं, मैं इसमें विशेष क्या कहूं । स्नेह कुछ कहलाए बिना नहीं रहता ।"

यहीं हमें नीलदेवी के भावों से उसकी नीतिज्ञता, दूरदर्शिता और समयानुकूल कार्य करने की क्षमता का परिचय मिल जाता है ।

नाटककारों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ढ़ग से इसके प्रति हार्दिक घृणा और शत्रुता प्रकट की है । नाटकीय पात्र इस पर निन्दा, अपयश, नीचता, दुष्टता और मलीनता की गठरी लाद देते हैं । वीरणामा नाटक का वीरसिंह कहता है "इन वज्रहृदयी कृतघ्नी यवनों के मन में तनिक दया का संचार नहीं है । ईश्वर ही अन राक्षसों से बचायें ।" (वीरमामा, दृश्य-2) सत्यवती नाटक की लक्ष्मी इनसे घृणा प्रकट करती हुई कहती है "इन दुर्बुद्धि यवनों का दुराचरण और कुकर्म देखना योग्य नहीं ।" (सत्यवती, 5-2) भारतीहरण नाटक की नायिका भारती इसी पात्र की ओर संकेत कर के कहती है "यवन लोग कुल स्त्रियों पर बड़ा दुराचार फैलाये हैं, ऐसाकि जिसके यहां सुन्दरी नारी सुनते हैं उसके यहां से डोला मांगते हैं, कुछ दिन रख के तिरस्कार कर देते हैं ।" (5-1)

6. **देश-काल-ज्ञापक-संवाद :- नाटककार संवादों में तत्कालीन स्थिति का समावेश करता है जिसे देश-काल-ज्ञापक-संवाद कहा जाता है ।** नाटककार का ध्यान बरबस समाज, राष्ट्र, जाति, धर्म और भाषा की ओर गया । यह नवजागरण का युग था । देशकाल के अन्तर्गत वस्तु के सभी बाह्य उपकरण - आचार-विचार, रीति-नीति, वेश-भूषा, रहन-सहन, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि आ जाते हैं ।

जिस प्रकार कलाकार की ज्योत्सना महिमा मंडित राजप्रासादों और दीन कारागारों को समान रूप से आप्लावित करती है उसी प्रकार महान कलाकार की कला भी वैभव के व्यवधान से ऊपर उठकर देवेन्द्र की अलकापुरी और दीन-हीन कंगालों की जर्जर झोपड़ियों में एक रूप से संचरण करती है ।

समय वर्णन के अन्तर्गत तो संश्लिष्ट चित्रण की योजना बहुत हुई है । प्रातः काल का ऐसा एक चित्रण उदाहरणस्वरूप यहां दिया जाता है :-

वल्लभ :- पक्षी जो अपने-अपने बसेरे में बैठे शान्त हो तनिक शब्द होने से भयभीत हो जाते थे और गाढ़ी निद्रावश उनकी आहट भी किसी को न जान पड़ती थी सो अपने मधुर स्वरों से मनुष्यों का जी हुलसाते हुए एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर उड़-उड़ के जाते हुए दिखाई पड़ने लगे ।

(प्रेम सुन्दर 1-1)

वर्षा वर्णन :-

गरजत घन चमकत चपला बूँदन परत फुहार
ठौर-ठौर मिलि मोर नचत है झींगर रहे झिंगार
भाँति-भाँति के पक्षी बोलत शीतल चलत बयार
(लावण्यवती सुदर्शन 4-3)

मालती बसंत नाटक (1-2) और रामलीला (किष्किंधाकांड 3-2), शील सावित्री

नाटक (3-1), सीताहरण (2-3, 1-1) बाल्य खेल या ध्रुव चरित्र (अंक-4)गद्यात्मक वन व वर्षा का वर्णन । मिथिलेश कुमारी (अंक-1), सत्योंदय (दृश्य-6) में वाटिका का वर्णन, रामलीला (अरण्यकांड) में गोदावरी वर्णन है ।

वैसे नाटककार वातावरण के कारण सामन्तवादी थे परन्तु उनके विचारों में प्रगतिशीलता भरी थी । नाटकों में प्रगतिशीलता ही नहीं, कहीं-कहीं तो क्रान्तिकारी विचार मिलते हैं । राजा अपनी लड़की को समझाता है - "राजा कुछ ईश्वर नहीं, देवता नहीं । वो सब प्रजा की तरफ से एक अधिकारी मात्र है उसको प्रजा की रक्षा और भलाई के लिए प्रजा मे धरती की उपज का छठा हिस्सा मिलना है । उसको देश की रक्षा और प्रजा की भलाई के लिए सब तरह का अधिकार है परन्तु उसको प्रजा पर किसी तरह की अनीति करना अथवा प्रजा के रुपये को अपने देश ऐशो आराम के काम में खर्च करना उचित नहीं ।"

(रणधीर प्रेममोहिनी 4-3)

राजा ने यह सिद्धान्त अपनी पुत्री को पढ़ाया । वह पुत्री पिता से बढ़कर है और कहती है - "मेरी राय में तो बाप-दादों के नाम से बड़ाई पाने वालों के बदले अपनी मेहनत और बुद्धि से इज्जत पैदा करने वाले हजार दर्जे अच्छे हैं ।"

(रणधीर प्रेममोहिनी 5-2)

हिन्दु समाज संबंधी अन्य चित्र एवं विचार भी मिलते हैं । संध्यावदन का उदाहरण - सीता स्वयंवर (2-1-56), रणधीर प्रेममोहनी (2-2, 3-5), बन्दोदीन दीक्षित कृत सीताहरण (1-1), मयंक मंजरी (अंक-3), देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत सीताहरण (1-2), रति कुसुमायुध (1-1), शील सावित्री नाटक (3-1), विद्याविनोद (1-2), सत्यवती (6-2), सावित्री (दृश्य-8), प्रेम वाटिका (दृश्य-7), विद्यासुन्दर (2-2) आदि ।

'प्रारब्ध' संबंधी उदाहरण - अभिमन्यु (6-1), रणधीर प्रेममोहनी (1-2, 3-2), लावण्यवती सुदर्शन (1-1), मयंक मंजरी (अंक-2) दमयन्ती स्वयंवर (6-2), भारत आरत, खड़गबहादुर मल्ल कृत (1-1), विद्यासुन्दर (1-1), शील सावित्री (1-1), संयोगिता स्वयंवर (5-2), पुलिस नाटक (3-4), प्रेम सुन्दर (4-4) आदि ।

शकुन पर विश्वास करना के असंख्य उदाहरण भरे पड़े हैं - लावण्यवती सुदर्शन

(5-7), अभिमन्यु (5-2), रणधीर प्रेममोहनी (3-2), सत्यहरिश्चन्द्र (अंक-1) ।

'भारत दुर्दशा' तो अपने समय के हिन्दुस्तान का चलता-फिरता वाङमय चित्र है ही । पतनोन्मुख भारत का ऐसा खाका मिलना अन्यत्र दुर्लभ है । स्वतंत्रता के साथ धन और आत्म-गौरव ने भी विदाई ली । देशवासियों को कुछ झिझक, कुछ झुंझलाहट तो होती है, किन्तु 'संतोषम् परमं सुखम्' वाली उनकी धार्मिक प्रवृत्ति उन्हें अपनी दशा में ही संतुष्ट रखकर अकर्मण्य और पंगु बना देती है । ".....अब हिन्दूओं को खानेमात्र से काम, देश से कुछ काम नहीं । रोजगार न रहा, सूद ही सही । वह भी नहीं, तो घर ही सही 'संतोषम् परमं सुखम्' रोटी ही को सराह-सराह के खाते हैं ।"

(भारतेन्दु नाटकावली, पृ.-606)

कई नाटकों के संवादों से छुआछूत के भयावह भूत की झांकी, अंग्रेजी साम्राज्यशाही की नीति का नग्न-चित्र चित्रित किया है । भारतेन्दु युग में देशकाल की कितनी परख थी !

कथोपकथन और रससंचार

नाटक में मुख्यतः शृंगार अथवा वीर रस ही प्रधान होते हैं और अन्य रस उनके सहायक । निर्वहन संधि में अद्भुत रस का प्रयोग कर दिया जाय तो अच्छा है । हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति कथोपकथन से होती है और भावों की अभिव्यक्ति से रस-संचार । भारतेन्दु के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके कथोपकथन में रस-संचार की अद्भुत शक्ति है । भारतेन्दु ने करूण, शृंगार, वीर और हास्य रस के नांटक लिखे हैं । वे रसों के अनुरूप ही पात्रों का सृजन करते हैं । 'सत्यहरिश्चन्द्र' और भारत दुर्दशा में करूण रस की ही प्रधानता है । 'नीलदेवी' में वीर रस का समावेश हुआ है । 'अंधेर नगरी' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तो हास्य रसमय हैं ही । मुख्यत पात्रों के कथोपकथन के द्वारा ही नाटककार ने उक्त ग्रंथों में रस-संचार करने में सफलता पाई है । 'सत्यहरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र काशी की गलियों में अपने को बेच रहे हैं । रानी शैव्या का हृदय फआ जाता है और वह भिखारिणी की भांति अपने को बेचने पर उतारू हो जाती है ।

शैव्या - कोई महात्मा कृपा करके हमको मोल ले
तो बड़ा उपकार हो. ।

बा. - अमको बी कोई मोल ले तो बला उपकाल हो । नन्हें रोहित को जिसके दूध के दाँत भी अभी नहीं टूटे थे इस करूण सवर में पकारते सुनकर पाषाण हृदय भी पिघल जाएगा । 'चन्द्रकुलभूषण महाराज वीरसेन के नाती और सूर्यकुल की शोभा महाराज हरिश्चन्द्र के पुत्र' को इस कातर स्वर में चिल्लाते सुनकर हृदयहीन का भी हृदय पिघल जाएगा ।

शैव्या बिक गई है । वह अपने पति के पावन पदों से बिछुड़ रही है -

शैव्या - (रोकर) नाथ ! मेरे अपराधों को क्षमा करना ।

ह. - (अत्यन्त घबड़ाकर) अरे अरे विधाता ! तुझे यही करना था (आप ही आप) हां ! पहिले महारानी बनाकर अब दैव ने इसे दासी बनाया । यह भी देखना बदा था । हमारी इस दुर्गति से आज कुलगुरू भगवान सूर्य का भी मुख मलीन हो रहा है । (रोता हुआ प्रकट रानी से) प्रिये !सर्वभाव से उपाध्याय को प्रसन्न करना और सेवा करना ।

शै. (रोकर) नाथ ! जो आज्ञा ।

ह. (आंखों में आंसू भरके) देवी ! (फिर रुक कर अत्यंत सोच से आप ही आप) हाय ! अब मैं देवी क्यों कहता हूं, अब तो विधाता ने इसे दासी बनाया । (धैर्य से) देवि ! उपाध्याय की आराधना भली-भांति करना और इनके सब

शिष्यों से भी सौहार्द-भाव रखना, ब्राह्मण की स्त्री की प्रीतिपूर्वक सेवा करना, बालक का यथासम्भव पालन करना और अपने धर्म और प्राण की रक्षा करना । विशेष हम क्या समझावें, जो जो दैव दिखावे उसे धीरज से देखना (आंसू बहाते हैं) ।

शै. - जो आज्ञा (राजा के पैरों पर गिर के रोती है) ।

ह. - प्रिये ! देर मत करो, बटुका घबड़ा रहे हैं ।

रोहिताश्व की मृत्यु के उपरांत शैव्या और हरिश्चन्द्र का विलाप बड़ा करूण है ।

प्रहसन संवाद भी भारतेन्दु काल की विशेष देन है । इस काल में बहुत-से प्रहसन लिखे गए । भारतेन्दुकालीन नाटककारों ने नाट्यशास्त्र का अनुगमन न करके स्वतंत्र, पर समन्वित मार्ग पकड़ा है । इन प्रहसनों के द्वारा राजनैतिक दुरवस्थाओं पर प्रहार किया गया है, सामाजिक कुरीतियों की नग्नता प्रदर्शित की गई है और परिवारिक विषयों के व्यंग्यात्मक चित्र खींचे गए हैं । बाल-विवाह संबंधी संवाद कलियुगी विवाह नाटक में, मदिरा-मांस, वेश्यागमन, का कलिकौतुक रूपक, रक्षाबंधन, वेश्याविलास, आनन्दोत्सव मे व जुआ खेलने का वर्णन सैकड़े में दस-दस, दिवारी के ज्वारी और पर स्त्री पर कुदृष्टि डालने वालों को दंड दिलाने का वर्णन चौपट चपेट में दिया गया है ।

लल्लाबाबू और शिक्षादान या जैसा काम वैसा परिणाम में पारिवारिक प्रहसन संवाद दिए गए हैं । कलि-कौतुक में त्रिया-चरित्र संवादों में दिखाया गया है ।

अंधेर नगरी, मृत्युसभा, देसी कुत्ता बिलायती बोल में राजनैतिक प्रहसन संवादों से दृष्टिगत होता है । लाख सहानुभूति रहते हुए भी किसी मूर्ख की भद्दी मूर्खता पर हंसी आ ही जाती है । 'अंधेर नगरी' में भारतेनदु ने हास्य की उत्पत्ति के लिए 'चौपट राजा' को चुना

है । उसकी सभी बातें मूर्खता से भरी हैं । फरियादी उससे फरियाद करता है -

दोहाई

फ.	-	दोहाई है, महाराज है । हमारा न्याव होय ।
रा.	-	चुप रहो । तुम्हारा न्याव यहां ऐसा होगा कि जैसा जय के यहां भी न होगा - बोलो क्या हुआ ?
फ.	-	महाराज ! कल्लू बनियाँ की दीवार गिर पड़ी सो मेरी बकरी उसके नीचे दब गई । दोहाई है महाराज, न्याव हो ।
राजा	-	(नौकर से) कल्लू बनिया की दीवार को अभी पकड़ लाओ ।
मन्त्री	-	महाराज, दीवार नहीं लाई जा सकती ।
रा.	-	अच्छा, उसका भाई लड़का दोस्त आशना जो हो उसको पकड़ लाओ ।

भी इसी बुद्धि के

यह है राजा की न्याय-बुद्धि । फैसला भी इसी बुद्धि के अनुसार होता है । उपर्युक्त प्रकार से उत्पन्न हास्य निम्न कोटि का होता है । भारतेन्दु युगीन नाटकों में हास्य संबंधी संवादों में पर्याप्त शक्ति थी । प्रहसनों के संवाद बहुत ही जानदार है ।

कथोपकथन के दोष :- भारतेन्दु युगीन नाटकों में बहुत लम्बे-लम्बे स्वगत कथन नहीं हैं, उनमें स्वगत हैं ही बहुत कम और जो कुछ भी हैं वे बहुत छोटे हैं जिनको एकदम अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । इस युग के नाटककारों ने स्वगत कथनों के आधिक्य को दूर कर स्वाभाविकता को अपनाया है । भारतेन्दु युग के नाटकों में आकाशभाषित का भी कम प्रयोग हुआ है ।

भारतेन्दु युग के नाटकों के कथोपकथन के पूर्ण विवेचन के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ लम्बे नीरस वर्णनों को छोड़कर उनका कथोपकथन अधिकांश रूप में

सफल हुआ है । पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमान्टिक नाटकों के संवाद वातावरण के निर्माण और घटनाओं के विकास में सहायक है ।

भारतेन्दुयुगीन प्रमुख नाटककार :-

भारतेन्दु के समसामयिक और परवर्ती नाटककारों ने अपने नाट्यनेता का अनुसरण कहां तक किया, इस अध्ययन की सुविधा के लिए हम इस काल के नाट्य साहित्य को तीन कालों में बांट सकते हैं जो इस प्रकार हैं :-

1. **उदय काल** (सन् 1868-1885 ई.)
2. **विकास काल** (1885-1900 ई.)
3. **ह्रास काल** (1900-1910 ई.)

उदय काल के समवर्ती नाटककार
(सन् 1868-1885 ई.)

1. **लाला श्रीनिवासदास** (1851-1887 ई.)

दिल्ली-निवासी लाला श्रीनिवासदास भारतेन्दु मण्डल के एक सशक्त नाटककार थे । उन्हें भारतेन्दु की मित्रता का सौभाग्य प्राप्त था । इनके प्रमुख नाटक - तप्तासंवरण (1874), प्रह्लाद चरित्त्र, रणधीर और प्रेममोहिनी (1878), संयोगिता स्वयंवर (1885) है । हिन्दी में श्रीनिवासदास ही प्रथम नाटककार थे जिन्होंने यह अनुभव किया "दुखान्त नाटक का दर्शकों के चित्त पर बहुत देर तक असर बना रहता है क्योंकि इस संसार रूपी नाटक के सूत्रधार ने जगत को दुखान्त बनाया है - सबका अन्त दुख है इससे दुखान्त ही नाटक खेलो ।"[1]

---

1. लाला श्रीनिवासदास . रणधीर और प्रेममोहनी की प्रस्तावना, पृ. -9 ।

सामाजिक उपयोगिता से परिचित होकर ही इन्होंने 'तप्तसंवरण' नाटक में सूत्रधार का कथन है - "प्रथम तो मन बहलाने के लिए बहुत उत्तम उपाय है, दूसरे, नाटककार समय पर अपना रूप, वाणी और स्वभाव बदल सकता है, तीसरे, नाटक द्वारा सैकड़ों-हजारों वर्ष की बातें प्रत्यक्षत. दृष्टिगोचर हो जाती है ।" [1]

'विद्यासुन्दर' में भारतेन्दु ने जिस गंधर्व-विवाह का समर्थन किया था, उसे लाला जी ने भी 'तप्तासंवरण' में मान्यता दी है -

> "जो अपनी बेटी का दुःख-सुख नहीं देखते वे अपनी बेटी को जन्मभर का दुःख देते हैं । हमारे वंशवालों ने कन्या की प्रसन्नता के लिए स्वयंवर की रीति रखी है पर गंधर्वविवाह तो उससे भी उत्तम है ।"
>
> (तप्तासंवरण के भरतवाक्य से)

'प्रह्लादचरित' नाटक का हिरण्यकशिपु युग के नास्तिकों के स्वर में कहता है -

> "दुष्ट, मैं तेरा उपदेश सुनने नहीं आया, तुमको मारने आया हूं, तेरे सहायक हरि को मारने आया हूं बताव वह सर्वव्यापी है तो यहां कहां है ? इस खंभ में है, इस खड्ग में है, मुझमें है, तुझमें है ।"
>
> (प्रह्लादचरित, पृ.-14)

लाला श्रीनिवासदास के नाटकों की सबसे बडी विशेषता युगाभिव्यक्ति है । 'रणधीर और प्रेममोहनी' में लेखक ने तत्कालीन देशी नरेशों की कामुकता और निर्बलता पर अच्छा प्रकाश डाला है । इस नाटक का एक चरित्र रिपुदमन सुरतपति की राज्यसभा में उपस्थित

---

1. लाला श्रीनिवासदास · तप्तासंवरण की प्रस्तावना, पृ.-2 ।

राजाओं को संबोधित करते हुए कहता है -

> "जो राजा मतवाले होकर आठ पहर रणवास में बैठे रहते हैं, जो राजा वैश्यागामी होकर उनके पीछे-पीछे फिरते हैं, जो राजा अपनी प्रजा के दुख-सुख का कुछ विचार नहीं करता,.... उनके जीवन पर धिक्कार है ।" [1]

ऐतिहासिक नाटक होते हुए भी 'संयोगिता स्वयंवर' युग की सामाजिक समस्या से अपने को अलग नहीं रख सका । जयचन्द विवाह में कन्या की अनुभूति की आवश्यकता पर बल देते हुए कहता है -

> "निस्सन्देह विवाह का विषय ऐसा कठिन है कि इसमें जन्मभर के लिए एक मनुष्य के प्रारब्ध के संग दूसरे के प्रारब्ध को जोड़ दिया जाता है । इस कारण कन्या की अनुमति बिना संबंध करने में महा अनर्थ हो जाता है ।" [2]

भारतेन्दु के नाट्यादर्श को श्रीनिवासदास ने बहुत कुछ व्यावहारिक रूप दिया है । इनका सर्वाधिक सफल नाटक "रणधीर और प्रेममोहिनी' है । इस नाटक में सभी नाटकीय तत्त्व स्वाभाविक है । भाषा भी पात्रानुकूल है ।

2. पं. प्रतापनारायण मिश्र (1856-1894 ई.)

भारतेन्दु युग के जिन्दादिल लेखकों में पं. प्रतापनारायण मिश्र का नाम अग्रगण्य है । भारतेन्दु जी इनके साहित्यदेवता थे । इन्हें भारतेन्दु जी से हास्य और व्यंग्य की परंपरा मिली थी । इनके अधिकांश नाटक प्रहसन हैं । इनके नाटकों के संवादों, में जिन्दादिली, हास-परिहास और व्यंग्य की कुशलता उनके नाटकों में मिलर्ता है ।

---

1. रणधीर और प्रेममोहिनी, अंक- पृ.-84-85 ।
2. संयोगिता स्वयंवर, अंक- पृ.-92 ।

मिश्र जी के पाच नाटकों के नाम इस प्रकार हैं - (1) सांगीत शाकुन्तलम, (2) भारत दुर्दशा रूपक, (3) कलिप्रभाव, (4) जुआरी-खुआरी, (5) कलिकौतुक रूपक । इन नाटकों में प्रथम तीन ही उपलब्ध है । कलिकौतुक रूपक को छोड़ सभी नाटक मिश्र जी की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए ।

'संगीत शाकुन्तल' के अनुवाद नहीं बल्कि एक मौलिक नाटक है । "इसका ढांचा न तो संस्कृत नाटकों का है और न अंग्रेजी नाटकों का, यह नौटंकी का एक शुद्ध रूप है ।"[1] चौथे अंक में स्त्री-पात्रों के गीत 'चला दारू पियन' सुंदर बन पड़ा है । कंचुकी का यह गान - "हाय बुढ़ापा तोरे मारे अब तो हम नकुयाय गमन" आज भी प्रसिद्ध है ।

'भारत दुर्दशा रूपक' पर भारतेन्दु के 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति और 'भारत दुर्दशा' का प्रभाव परिलक्षित है । लेखक का स्वाभाविक और व्यंग्यपूर्ण हास-परिहास इस रूपक का प्राण है । भारत की औषधि के लिए पंडित जी द्वारा रूपये मांगे जाने पर सेठ जी कहते हैं - "पैसो कठैशै आवेगो ? फरंगिया तो सगड़ा धन्धा ले गयो ।" इसके अतिरिक्त इस रूपक के संवादों में साधुओं के वितंडावाद, दुराचारियों के दुर्व्यवहार, मांसभक्षियों और शराबियों के नग्नचित्र दशयि गए हैं । 'कलिकौतुकरूपक' (1886) मिश्र जी की सर्वश्रेष्ठ रचना है, जिसमें लेखक की निर्भीकता, यथार्थवादिता और नाट्यकला की निपुणता परिलक्षित है । "मिश्र जी ने बड़े साहस के साथ समाज में फैले अनाचार पर लेखनी उठायी है । उन्होंने इस अनाचार का संबंध एक ऐसे वर्ग विशेष से जोड़ा है जिसमें पैसे की आराधना मुख्य है ।"[2] इस रूपक का उद्देश्य नगर के तथाकथित संभ्रान्त व्यक्तियों और स्त्रियों के भ्रष्टाचरणों, कामुकता और लम्पटता के चलतें-फिरते चित्र दिखलाना है ।

हिन्दी नाटक साहित्य के इतिहास में पं. प्रतापनारायण मिश्र ने भारतेन्दु की प्रहसन-कला, हास-परिहास और यथार्थ शैली को विकसित किया और समाज की विकृतियां तथा असंगतियां खोलकर दिखलायी । मिश्र जी में नाट्य-निपुणता थी ।

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा . भारतेन्दु युग, तृतीय संस्करण, 1956, पृ. -62 ।
2. डॉ. रामविलास शर्मा : भारतेन्दुय-युग, पृ. -66 ।

3. पं. अम्बिकादत्त व्यास

भारतेन्दु युग के प्रतिभाशाली नाटककारों में पं. अम्बिकादत्त व्यास एक ही थे । इनके नाटकों के नाम इस प्रकार हैं - 1. ललिता नाटिका (1878), 2. गोसंकट नाटक (1882), 3. कलियुग और (1886), 4. मन की उमंग (1886) और 5. भारत सौभाग्य (1887) ।

'ललिता नाटिका' इनकी प्रथम कृति थी । उनका लक्ष्य रासलीला का उद्धार था । इसमें शुद्ध ब्रजभाषा प्रयुक्त की गई है । व्यास जी ने इसे 'हास्य रसमय गीतिरूपक' कहा है ।

'गोसंकट नाटक' (1882) भारतेन्दु जी के प्रेरणास्वरूप लिखा गया था । इसका आरंभ कलात्मक और नाटकीय है । लेखक ने अकबर के बहाने महारानी विक्टोरिया के शासन की उदारता और लॉर्ड इरविन की न्यायपियता सिद्ध की है । उनके नाटक में हिन्दूओं के प्रति अंग्रेजों की पक्षपातपूर्ण नीति को लक्ष्य करता हुआ कल्लू मिया का कथन - "इस बादशाह को खोदा ने न मालूम कैसा बनाया है कि हम जात की तरफदारी तो बिल्कुल छू ही नहीं गई ।"

(गोसंकट नाटक, अंक-3, पृ.-39) ।

नाट्य शिल्प की दृष्टि से इस नाटक का बाह्‌ कलेवर आधुनि[illegible] में खड़ी बोली गद्य का प्रयोग हुआ है । कहीं बनाव-सँवार नहीं - जो कुछ [illegible], सरल और स्वाभाविक ।

'कलियुग और घी' (1886) में भारत में कलियुग के कुप्रभावों [illegible] उद्‌देश्य है । सम्पूर्ण नाटक पाँच दृश्यों में विभाजित है ।

'मन की उमंग' (1886) में आधुनिक एकांकी जैसे - पाँच हिन्दी के और दो संस्कृत में लिखे छोटे-छोटे अभिनयोपयोगी रूपक संग्रहीत हैं । व्यास जी ने मन की उमंग नाटक में (जटिल वणिक प्रसंग में जटिल का कंदरा से निकलकर हो दौड़कर कथन कहना) सृजनात्मक कल्पना बड़ी ही सूक्ष्म की है । जटिल का कथन - "कोई मुझे खड़ग तो देना । मैं देखूँ कि किधर अलाउद्‌दीन की सेना झमक रही है और बाजे बज रहे हैं ।....लाओ ढाल का भी कुछ काम नहीं खड्ग लाओ खड्ग लाओ ।"

वणिक बातें सुनकर उसका परिचय पूछता है । जटिल उसे ललकारता है - "खड़ा रह चित्तौरनाशक अधम ! मुझे कोरा तपस्वी समझता है ? मै अभी तेरा विध्वंस करता हूं ।"

भारत सौभाग्य (1888) - भारतेन्दु कृत भारत दुर्दशा की प्रतिकात्मक चरित्र शैली का समुचित विकास व्यास नाटक में बड़ी सावधानी से हुआ है । इसकी रचना राजनीतिक प्रयोजन से की थी । इस नाटक की 'मूर्खता' पराजित मुस्लिम भावना के स्वर में कथन - "कौन रानी की जय करता है ? अरे जय ही करना हो तो फर्रूखसियर की जय क्यों नहीं करते ? - रानी क्या बकते हो ? तुम्हारी महारानी होगी मेरी तो पूरी देरन है हा ।"

(भारत सौभाग्य, प्रथम दृश्य, पृ.-2)

वैसे 'भारत सौभाग्य' विक्टोरिया के जुबिली महोत्सव के अवसर पर लिखा गया था । इसमें व्यास जी ने महारानी के शासनकाल की सुखद उपलब्धियों का विवरण उपस्थित किया है । भारतीयों को राजभक्ति का संदेश देते हुए कथान में लिखते हैं -

सौभाग्य :- भारत, अब क्यों उदास हो रहे हो । देखो यह तुम्हारी उन्नति का समय है । तुम अपनी ओर तो देखो तुम्हारा आकार ही और का और हो गया है ।

× × × ×

जागहु जागहु भारत प्यारे ।
जवनराज की रैनि गई ।
अब भरि विविध अधियारे ।।

अब रानी विक्टोरिया ही के धमके बजत नगारे ।
तासु प्रताप दिवाकर ऊग्यो सोहत किरन पसारे ।।

(भारत सौभाग्य, पृ.-27-28)

व्यास जी में मौलिक चिन्तन और सृजनात्मक कल्पना अवश्य थी, किन्तु उनकी साम्प्रदायिक वर्गचेतना अधिक उभरी है ।

4. पं. बालकृष्ण भट्ट (1849-1914 ई.)

भारतेन्दुयुगीन हिन्दी लेखकों में पं. बालकृष्ण भट्ट एक साथ पत्रकार, नाटककार, विचारक, आलोचक, निबंधकार, अभिनेता, रंगमंच संस्थापक और समाजसुधारक थे । वे अपने समय के मान्य नाटककार, सिद्धअभिनेता और कठोर नाट्य समीक्षक थे । भट्ट जी के प्रकाशित और अप्रकाशित 15 नाटक बतलाये जाते हैं । 'भट्ट नाटकावली' (1947) में तीन नाटक - जैसा काम वैसा परिणाम, बृहन्नला और वेणुसंहार संग्रहीत हैं । समस्त नाटकों की तालिका इस प्रकार है -

पौराणिक - चन्द्रसेन, दमयन्ती स्वयंवर, पृथुचरित्र, बृहन्नला, वेणुसंहार ।
प्रहसन - आचार-विडम्बन, जैसा काम वैसा परिणाम, नई रोशनी का विष ।
अनूदित - (बंगला से) पद्मावती शर्मिष्ठा (माईकेल मधुसूदन), (संस्कृत से) - मृच्छकटिक, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध ।

'जैसा काम वैसा परिणाम' (1876 ई.) - इसमें समाज के रईसों की कामुकता, विवाहिता नारी की दुरवस्था और वेश्याओं की नग्नता दिखलायी गई है । मालती कहती है -

> "पराधीन, तिसपर भी अनेक यातना, जैसे पिंजरे में बन्द पखेरू हो । ऊंची-ऊंची दीवालों से घिरा हुआ घर मानो पिंजरा है ।"
>
> (भट्ट नाटकावली, पृ.-91-92)

इस नाटक के पति-पत्नी के संवाद में दो युगों के संधिकाल की स्पष्ट ध्वनि सुनाई देती है -

मालती - हमने तो किसी को भी नहीं बोलाया और जो बुलावेंगी भी तो तुम हमारा क्या करोगे ? तुम अपना लच्छन तो देखो ।

रसिक - तो जैसा हम करते हैं तू भी वैसा ही करेगी, पापिनी ?

मालती - क्यों नहीं, क्या हमारा आदमी का चोला नहीं है ? या कि हमारी देह लोहू-मांस की नहीं है । क्या हमारे मन नहीं हैं ? क्या हमारे इन्द्रियां नहीं हैं ? क्या हमको सुख-दुख का ज्ञान नहीं है ? हम तो कोई चीज ही नहीं ठहरी और फिर तुम हमारा बड़ा सत्कार करते हो न ।"

(भट्ट नाटकावली, पृ.-123)

'नई रोशनी का विषय' (1884-85) भट्ट जी का एक सफल, सशक्त और सर्वश्रेष्ठ सामाजिक नाटक है । इसमें भाषा-शिल्प, चरित्र और कथानक सभी दृष्टियों से मौलिकता विद्यमान है ।

भट्ट जी के पौराणिक नाटकों में सबसे अत्यधिक 'दमयन्ती स्वयंवर' प्रसिद्ध नाटक है । इन नाटकों में हिन्दी गद्य अलंकृत और तत्समप्रधान है । विषय, देशकाल और वातावरण के अनुसार संवाद इस प्रकार है -

"कामदेव के सौन्दर्य को भी दबा देने वाली यह आपकी दमकती हुई देह की प्रभा है - तुम्हारी आकृति अग्नि में तपाये कुन्दन-सी दमकती हुई मन में खटक पैदा करती है ।"

(दमयन्ती स्वयंवर, पृ.-31) ।

भट्ट जी नाटक में यथार्थ के पोषक थे । उनका कहना था -

"नाटककार का काम लिखने का है यह कहने का नहीं कि आप ऐसा कीजिए । नाटक रचने वाले को उसी से मतलब है जो संसार में वास्तव

में क्या होता है - जो होना चाहिए उसमें
हमारे फिलॉस्फर्स और मोरॅलिस्ट को झगड़ने
दीजिए ।"

भट्ट जी के सामाजिक नाटक पौराणिक नाटकों से अधिक सफल है । उन्होंने अपनी रचनाओं को अतिशय शृंगारिकता से बचाया है ।

5. काशीनाथ खत्री (1849-1891 ई.)

इन्होंने भारतेन्दु जी के यथार्थवादी नाट्य परंपरा को जीवित रखा । इनकी रचनाएं इस प्रकार हैं - 1. बालविधवा संताप नाटक (1881), 2. ग्राम पाठशाला और निकृष्ट नौकरी (1883), 3. तीन परम मनोहर इतिहासिक रूपक (1884) है ।

राधाकृष्ण के 'दुखनीबाला' नाटक से प्रेरणा पाकर ही इन्होंने 'बाल विधवा विवाह नाटक' की रचना की ।खत्री जी ने विधवाओं के जीवन का गहरा अध्ययन किया था । एक विधवा के जीवन का परिचय देते हुए वह अपने नाटक में उसके मुँह से ही कथन कहलवाने का प्रयास करते हैं । वह कलपती हुई मन ही मन कहती है -

"हाय मैं अभागिन क्यों जनमी । माँ-बाप ने आठ
ही वर्ष की उमर में मेरा गला घोंट दिया ।"

नाटक का शिल्प एकांकी जैसा है जिसमें संवादों की प्रधानता है ।

'ग्रामपाठशाला और निकृष्ट नौकरी' (1883 ई.) दोनों नाटकों में युग-भावना मुखरित है । इस नाटक में बेचारे मजलूम का कथन है - "खुदाबंद दो रूपये मुझ गरीब को बहुत है, मैं मर जाऊंगा, माफ फरमाइये, सरकार मैं बिल्कुल बेकसूर हैं । .... हुजूर से मैं पहले ही कह चुका हूं कि इस गाँववालों को पढ़ने का शौक नहीं, मैं क्या करूं ... ठाकुर

साहब से पूछ देखिए मैं दस-दस वक्त पकड़ने जाता हूं, नहीं आते ।"

(ग्राम पाठशाला, पृ. -21-22)

सवादों के बीच कहीं-कहीं उपन्यास के वर्णनात्मक संकेत हुंए हैं, जैसे - "इसी प्रकार रोत-पीटते दो-अढ़ाई महीने बीत गए, एक दिन समीप के गाँव के मुदरिस ने आकर चैतन्य किया कि सबडिप्टी इन्सपेक्टर इस परगने में दौरा करते-करते आ गये हैं ।"

(ग्राम पाठशाला, पृ. -18)

"खत्री जी के संवाद बड़े प्रभावशाली, जीवन्त और स्वाभाविक हैं, संवाद योजना में उन्हें सबसे अधिक सफलता मिली है । नाटकों में भाषा सरल, मुहावरेदार और पात्रानुकूल है । पात्रों के मुँह से दो बातें सुनते ही उनका कल्पनाचित्र आंखों के सामने घुमने लगता है । निकृष्ट नौकरी भी ग्राम पाठशाला की टेकनीक पर लिखी गई है । तीन परम मनोहर इतिहासिक रूपक (1884) में तीन छोटे-छोटे रूपक संग्रहीत हैं । ये भारतेन्दु जी के अनुयायी होते हुए भी नयी दिशा की ओर अग्रसर हुए ।

6. पं. देवकीनन्दन त्रिपाठी (1840-1904 ई.)

त्रिपाठी जी भी भारतेन्दु जी के समसामयिक नाटककार थे । इनकी रचनाएं निम्न हैं -

1. सीताहरण, 2. रुक्मिणीहरण, 3. जयनार सिंह, 4. रक्षाबंधन, 5. एक-एक के तीन-तीन, 6. स्त्रीचरित्र, 7. कंसबध, 8. रामलीला, 9 लेखनी-सरस्वती-मिलन, 10. नंदोत्सव, 11. गोवधनिषेध, 12. बालविवाह, 13. सैकड़ों में दस-दस, 14. और बैल छै टके के, 15. कलयुगी जनेऊ, 16. भारतीहरण ।

विद्वानों का मत है कि त्रिपाठी जी के कुछ नाटकों को छोड़कर सभी शेष नाटक अप्रकाशित हैं । [1] 'कलियुगी जनेऊ' में उनके तीखे व्यंग्य ने पुरोहित का आसन डुला दिया है । पुरोहित गजबदन, जो स्वयं अशिक्षित है , मकरूराम को वेद पढ़ाता है । व्यंग्य संवाद दिल पर गहरी चोट करता है -

मकरूराम - लाला एक ऋचा हमहू पढ़वे, देखई कैसन बा ।
नैनितराम - (मकरूराम का हाथ पकड़कर) ऋचा स्वाहा,
धन स्वाहा, कुल स्वाहा, विद्या विनय स्वाहा
ढोल स्वाहा, ढमार स्वाहा, पंडित स्वाहा,
जिजमान स्वाहा, तथा स्वाहा हरिभजे, वेश्या
मनोजुंजे डफाली सेवे गजी प्रपद्मे स्वाहा ।"

'जयनार सिंह' एक प्रहसन है । देशभक्त होने के कारण 'भारतीहरण' नाटक में उन्होंने परम दुखी भारत को नायक और भारती सरस्वती को नायिका मानकर देश की पराधीनता और दयनीय अवस्था की मार्मिक व्यंजना की है । [2] इनके नाटकों में व्यंग्य, हास-परिहास और देशानुराग कूट-कूट कर भरे हैं ।

7. राधाकृष्णदास (1865-1907 ई.)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु के बाद राधाकृष्णदास ने ही हिन्दी के विभिन्न क्षेत्रों में साहित्य का नेतृत्व किया । बाबू राधाकृष्णदास 'भारतेन्दु की निशानी' थे । [3] इन्होंने चार मौलिक नाटक लिखे - 1. दुःखिनीबाला (1880), 2. महारानी पद्मावती (1882), 3. धर्मालाप (1885), 4. महाराणा प्रताप (1897) ।

'महारानी पद्मावती' में संवाद-योजना को अच्छी सफलता मिली है । संवाद

---

1. डॉ. बरसाने लाल चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य में हास्य रस, पृ.-94 ।
2. भारतीहरण की भूमिका, पृ.-2 ।
3. गंगाप्रसाद गुप्त : बाबू राधाकृष्णदास का जीवन चरित, पृ.-28 ।

ओजपूर्ण है । नाटक गद्य-पद्य मिश्रित है । मुसलमान पात्रों के संवाद गद्य में और हिन्दू पात्रों के संवाद पद्य में आये हैं । ओजपूर्ण संवादों में और उक्तियों में पद्यात्मकता नहीं खटकती । कहीं-कहीं अलाउद्दीन, रत्नसेन और पद्मावती के स्वगत-कथन दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में पद्मावती का स्वगत-कथन, तीसरे अंक में दूसरे दृश्य में रत्नसेन की करूण स्वगतोक्तियां और सूर्योदय-वर्णन - इसके कुछ उदाहरण हैं । इन स्वगत-कथनों में चरित्रों का आंतरिक रहस्य खुला है,इसलिए ये उतने नहीं खटकते ।

जातीय प्रेम और देशानुराग को जगाना है - "रत्नसेन देशभक्ति के स्वर में कहता है - यदि पामर शरीर अपनी मातृभूमि के कुछ भी काम आवे तो इससे बढ़कर और पुण्य का क्या फल है ।"

(राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृ.-583)

वास्तव में 'महाराणा प्रताप' नाटक एक उत्कृष्ट नाट्यरचना है । इसका कथोपकथन सजीव और सशक्त है । सर्वप्रथम बाबू राधाकृष्णदास ने ही नाटकीय चरित्रों में अन्तर्द्वन्द्व को स्थान दिया है । भावुक प्रेमी गुलाब सिंह का आत्मसंघर्ष इस कथन में व्यक्त है -

> प्रेम ! तेरा इतना बड़ा साहस कि तू पाषाणवत कठोर वीर हृदय पर भी अपना अधिकार जमा लेता है ? अरे जिस गुलाब सिंह ने कभी स्वप्न में शत्रु से पीछा न किया होगा आज तैने उसे डोर में बाँधकर अपना बंदी बना लिया ? किधर से आया, कब आया और कैसे इस दृढ़ हृदयगढ़ में समाया ?
>
> (महाराणा प्रताप, अंक-5/5, पृ.-78) ।

इनका नाट्य विधान सर्वथा आधुनिक है लेकिन नाटकों की आत्मा भारतीय है ।

इसके अतिरिक्त पं. केशवराम भट्ट (1854-1904 ई.) ने सज्जाद-सुंबुल (1877), शमशाद सौसन (1880) में लिखे तथा लाला खंग बहादुर मल्ल (1853-1890 ई.) ने महारास नाटक (1885), रतिकुसुमायुद्ध नाटक (1885), भारत-आरत (1885), हरितालिका नाटिका (1887), कल्पवृक्ष नाटक (1888), भारत-ललना (1888) लिखे ।

मल्ल जी का महाराज नाटक पौराणिक है । इस नाटक में श्रीकृष्ण गोपियों को 'मतयगन्द मन' पर ज्ञान का अंकुश' रखने का उपदेश देते हैं, लेकिन स्वयं कामुकता के शिकार हैं । वे गोपियों से कहते हैं - "प्यारियों, अंचल संभालो, नहीं तो मेरा मन बेहाथ होता है ।"

उपर्युक्त नाटकों में क्रमिक विकास के चिन्ह दीख पड़त हैं । उनमें पाश्चात्य और भारतीय नाट्यकला का अच्छा समन्वय हुआ है ।

xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

विकास काल (सन् 1886-1900 ई.)

****

भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाटक साहित्य का समुचित विकास इसी काल में हुआ - अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त नवयुवकों का दल तैयार हुआ और नाट्य रचना में प्रवृत्त हुआ । बंगला, संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद इसी समय हुआ । भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने जिस आधनिक नाटक के पौधे को सींच-सींचकर बड़ा किया था उसे इस काल के छोटे-बड़े नाटककारों ने पल्लवित और पुष्पित किया । इन हिन्दी नाटककारों का लक्ष्य नाटक के माध्यम से जन-मन का मनोरंजन और समाज सुधार था ।

1. पं. राधाचरण गोस्वामी (1858-1925 ई.)

गोस्वामी जी के साहित्य-देवता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे । गोस्वामी जी ने स्वयं लिखा है - "भारतेन्दु जी के लेखग्रथ हमको वेदवाक्यत् प्रमाणमान्य थे, वे मानो ईश्वर के

एकादश अवतार थे । हमारे सब कामों में वह आदर्श थे ।"[1]

पं. राधाचरण गोस्वामी जी की निम्न नाटक रचनाएं हैं - 1. बूढ़े मुँह मुँहासे (1887), 2. तन-मन-धन गुसाईं जी के अर्पण (1890), 3. सतीचन्द्रावली (1890), 4. भंगतरंग (1892), 5. अमरसिंह राठौर (1894), 6. श्रीदामा (1904) ।

इन नाटकों को तीन वर्गों में बांटा है -

क. प्रहसन -बूढ़े मुँह मुँहासे, तन-मन-धन गुसाईं जी के अर्पण, भंगतरंग ।
ख. ऐतिहासिक - सतीचन्द्रावली, अमर सिंह राठौर ।
ग. पौराणिक -श्रीदामा ।

'बूढ़े मुँह मुँहासे' प्रहसन में गोस्वामी जी ने किसान और जमीन्दार के संघर्ष के साथ ही मुसलमान और हिन्दू किसानों की एकता दिखलायी है । इसमें कथोपकथन सशक्त, प्रभावशाली और सजीव हैं । बनावटीपन कहीं नहीं है ।

संवाद छोटे-छोटे और स्वाभाविक हैं । इसके अतिरिक्त तन-मन-धन गुसाईं के अर्पण और भंगतरंग प्रहसन नाटकों के संवाद बड़े मनोरंजक हैं ।

ऐतिहासिक नाटकों में गोस्वामी जी का सर्वश्रेष्ठ नाटक 'अमरसिंह राठौर' है । इसकी मूलकथा अमरसिंह से संबंधित है । नाटक दुखान्त है । सूर्यकुमारी से लेखक ने देशभक्ति संबंधी कथन कहलवाये हैं - "इन बातों को देखकर हताश न हों, जिस प्रकार बने, देश का कल्याण कीजिए और परस्पर ऐक्य करके फिर देश के स्वाधीन होने की चेष्टा कीजिए ।"

(अमरसिंह, दृश्य-15, पृ.-42) ।

गोस्वामी जी राष्ट्रीयता के पोषक थे । कहीं-कहीं मुसलमानों के विरुद्ध गहरी प्रतिक्रिया हुई है, जैसे -

"मेरे हृदय की अग्नि तो बादशाह बेगमों के अश्रुओं से ही बुझेगी । चित्तौड़ और सोमनाथ का बदला बिना लिए अमर सिंह न मानेगा ।"

(अमर सिंह, पृ.-8)

× × × ×

"जो मुसलमानों के रक्त से हाथ लाल न करे उसे धिक्कार ।"

(अमरसिंह, पृ.-8)

गोस्वामी जी के प्रहसन जितने आकर्षक और प्रभावकारी हैं, उतने ऐतिहासिक नाटक नहीं हैं । संवाद सजीव और भाषा पात्रानुकूल है । उनका अंतिम नाटक 'श्रीदामा'एक पौराणिक नाटक है ।

2. **बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'** (1855-1922)

भारतेन्दु जी के अभिन्न मित्र तथा नाट्य समीक्षक 'प्रेमघनजी' की रचनाएं निम्न हैं -

पूर्ण नाटक - भारत सौभाग्य (1888), प्रयाग रामागमन (1904)
अपूर्ण नाटक - माधवी माधव (1878), शुद्ध विलाप (1878) और वारांगना-रहस्य (1885) ।

प्रेमघन जी का 'भारत सौभाग्य' नाटक 1850 से 1885 ई. तक की भारतीय राजनीति का जीवित इतिहास प्रस्तुत करता है । देश की आर्थिक दुर्दशा के लिए प्रेमघन जी ने पश्चिम को जिम्मेदार ठहराया है । लक्ष्मी का कथन -

"नाहिं गई इत सौं मैं अबलौं लाख निरादर पाई ।
पै अब वे खींचत निसिवासर पश्चिम को अकुलाई ।।"

बाबू ब्रजरत्नदास ने इस नाटक को 'वस्तु-संगठन, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण आदि सभी दृष्टियों से अत्यंत शिथिल और विफल"[1] कहा है ।

'प्रयाग-रामगमन' में लेखक का उद्देश्य लीला-नाट्यशैली में श्रीराम का प्रयाग-आगमन दिखलाना है । रामलीला नाट्य-परंपरा में पद्यमयता का मोह छोड़ने से यह नाटक एक नया प्रयोग है ।

पं. किशोरीलाल गोस्वामी (1865-1932 ई.)

पं. किशोरीलाल गोस्वामी ने भारतेन्दुयुग की नाट्यपरंपरा को जीवित रखा । गोस्वामी जी ने तीन नाटकों की रचना की - 1. मयंकमंजरी, 2. नाट्य संभव और 3. चौपट चपेट ।

'मयंकमंजरी' एक प्रेमाख्यानक नाटक है जिसमें रीतिकाव्य की अतिशय शृंगारिकता अपने पूरे वैभव के साथ अभिव्यक्त हुई है । यद्यपि इस नाटक का आरंभ और अंत संयोग-शृंगार के रोमान्टिक वातावरण में हुआ है फिर भी युग की सामाजिक चेतना को भी वर्णित किया है । पुनर्विवाह के विरोध में होनेवाली प्रतिक्रिया इस कथन में प्रकट हुई है -

"अरे पुनर्विवाह ! राम राम राम ! ऐसी सत्यानाशी व्याभिचारिणियों की रीति तो कभी भी नहीं सुनी थी ।"

(मयंक मंजरी, अंक-2, पृ.-47)

---

1. बाबू ब्रजरत्नदास : हिंदी नाट्य-साहित्य, पृ.-91 ।

'नाट्य संभव' रूपक (1891) नाटक में भारतीय नाटक की प्राचीनता, उसकी उपयोगिता और सामाजिक महत्ता पर प्रकाश डाला है । इस नाटक के 'अंकावतार' में राजा इन्द्र का शची को देखकर बोल उठना -

> "इन्द्र - हा हन्त, हा हन्त ! यह तो इन्द्राणी के बोल है । (घबड़ाकर उठना चाहता है ।)
> वृहस्पति - सावधान, सुरेश ! यह नाटक है ।
> इन्द्र - हाय ! नाटक में इतनी सजीवता है । हे भरताचार्य तुम धन्य हो ।"
> (नाट्यसंभव रूपक, अंकावतार, पृ.-84-85)

'चौपट चपेट' नाटक प्रहसन है । नाट्यसंभव के पद्यात्मक संवाद और शृंगारिक अतिशयता पर उसका प्रभाव देखा जा सकता है ।

4. गोपालराम गहमरी (1866-1946)

गहमरी जी ने 1884 में बलिया में हुए भारतेन्दुकृत 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'अंधेर नगरी' और 'भारत जननी' नाटकों का अभिनय देखकर हुई थी । गहमरी जी के सभी नाटकों का नाम इस प्रकार है - 1. विद्या विनोद (1892), 2. देशदशा नाटक (1892), 3. यौवन योगिनी (1893), दादा और मैं (1893), 5. चित्रांगदा (1995), 6. वर्तमान वंचक चपेट (एकांकी) 7. बभ्रुवाहन, 8. जन्मभूमि और 9. वनवीर (1893) ।

'विद्याविनोद' नाटक में जिस नारी का चित्रण हुआ है वह विदुषी है । वह वृद्ध-विवाह के समर्थक पिताओं को सम्बोधित करती हुई कहती हैं -

"हे प्रभो ! ऐसे पिता का मुख देखना भी पातक
है, क्या करूं असमर्थ हूं ।"
(अंक-4, गर्भांक-2, पृ.-40)

'यौवन योगिनी' नाटक एक दुखान्त ऐतिहासिक नाटक है । इसकी कथा संदिग्ध है । पृथ्वीराज और उसके मित्र समर सिंह के बीच हुए निम्नलिखित संवाद नायक की विलासिता सिद्ध करते हैं -

समर - महावीर होकर इतना चंचल होत हैं ?
पृथ्वी - सुन्दरियों की सुन्दरता के आगे वीरता नहीं चलती ।
समर - मुहम्मद गोरी लाहौर में डेरा डाले पड़ा है, इस समय अब भारत की रक्षा चाहिए कि -
पृथ्वी - बस ! बस ! अब उस बात को मत उभाड़ो । भारत की रक्षा तुमलोग करो । मैं अब पृथ्वीराज नहीं काठ का पुतला हूं ।
(यौवन योगिनी, अंक-6, गर्भांक-2, पृ.-101-102)

गहमरी जी को कथोपकथन लिखने में अच्छी सफलता मिली है । अन्य नाटकों की तरह इस नाटक के संवाद सजीव, पात्रानुकूल और कथाविस्तारक हैं । लेकिन स्वगत कथनों स वे भी नहीं बच सके ।

'बनवीर नाटक' चरित्रप्रधान नाटक है । इसमें 'हैमलेट' और 'मैकबेथ' का प्रभाव दिखाई देता है । संवाद में मनोवैज्ञानिक पहलू की परिणति देखिये -

"मैं वही दासी की दासी और मेरा पुत्र दासीपुत्र

रहेगा ? ना, ना, यह कभी नहीं होगा । कभी नहीं । हरगिज नहीं । जरूर मैं राजमाता हूंगी । जरूर ।"

(बनवीर, अक-2, दृश्य-1, पृ.-42)

इसमें पन्नाधाई का मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ । संवादों में नाटक के नायक का आत्मसंघर्ष इन पंक्तियों मे प्रकट हुआ है -

"एं ! अरे यह किसकी मूर्ति ! यह कौन है ? हाथ पसारे कटे सिर की धड़वाली खून से डूबी कबन्धमूर्ति जो देखते रहे उसके बदले यह नन्दनवन से उतरा हुआ पारिजात कैसा ?"

(बनवीर, पृ.-126)

"क्यों छाया ? तुम जब बात कर सकती हो तब इतने दिन तक बोली क्यों नहीं थी ? अच्छा यह तो कहो कि परलोक कैसा है ? पापी वहां कहां रहते हैं ?"

(बनवीर, पृ.-127)

गहमरी जी को हम भारतेन्दुयुग और प्रसादयुग के संधिकाल का नाटककार कह सकते हैं । उनके नाटकों पर कालिदास और शेक्सपियर का प्रभाव पड़ा है ।

5. लाला शालिग्राम वैश्य

ये भारतेन्दुयुग के एक जागरूक नाटककार थ । उनके लिखे छः नाटक मिलते हैं - 1. इश्क चमन (1854), 2. अभिमन्यु नाटक (1880), 3. मोरध्वज नाटक (1890), 4. लावण्यवती सुदर्शन (1890), माधवानल कामकंदला नाटक (1904), 6. पुरविक्रम नाटक (1904) । बाबू ब्रजरत्नदास का कहना है कि ये सभी नाटक "अतिसाधारण और अत्यंत शिथिल हैं ।"[1]

'इश्क चमन' अर्थात् स्वांग बिर्समिल परिवार का लालाजी की प्रथम नाट्यरचना है ।

---

1. बाबू ब्रजरत्नदास : हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ.-99 ।

यह स्वांग-नाट्य लोकनाटकों की दीर्घ परंपरा की देन है । इस नाटक में नाटककार का उद्देश्य प्रेम का सूफियाना आदर्श प्रस्तुत करना है, यथा -

"इश्क जिसका है पुख्ता, वह नहीं मरत कभी हर्गिज ।
वह अपना नाम कवियों से किताबों में लिखाते हैं ।"
(इश्क चमन, पृ.-60) ।

'अभिमन्यु' की कथा महाभारत से ली गई है । संवाद-योजना में भी लाला जी को पर्याप्त सफलता मिली है । नाटक का तीन चौथाई भाग गद्य में और शेष भाग पद्य में लिखा गया है । संवादों की भाषा सुबोध और स्वाभाविक है । वैसे यह नाटक अभिनेय कम पठनीय अधिक है ।

इनके 'मोरध्वज नाटक' का उद्देश्य श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व को प्रभावित करना है । इसके माध्यम से गीता के मूलभूत दर्शन का प्रचार करना है ।

'पुरूविक्रम नाटक' में लेखक ने पुरू के माध्यम से प्रेम की उद्भावना की है -

"अपने देश का उद्धार करने के लिए जो पुरूष मरने से डरता है, उसे धिक्कार है - पराधीन पुरूषों का संसार में प्राण धारण करना निष्फल है - पराधीन होकर जो प्राण रखें उसको भी बारम्बार धिक्कार है ।"
(पुरूविक्रम, अंक-3, गर्भांक-1, पृ.-60)

इस नाटक में कविता का प्रयोग अधिक नहीं हुआ । लेकिन स्वगत कथनों और लम्बे-लम्बे संवादों से नाटक का कलेवर बढ़ गया है । शालिग्राम वैश्य जी भारतेन्दुयुग में एकमात्र वीर रस के नाटककार थे ।

6. जैनेन्द्र किशोर (1871-1900 ई.)

जैनन्द्र जैनेन्द्र किशोर जी के जीवनीकार पंडित सकलनारायण पाण्डेय ने उनके लिखे 11 नाटकों का उल्लेख किया है,[1] जिनके नाम इस प्रकार हैं - 1. सोमासती (प्रहसन), 2. कलिकौतुक नाटक, 3. मनोरमा सती नाटक, 4. बाल-चरित्र नाटक, 5. प्रद्युम्न चरित नाटक, 6. ज्ञानप्रकाश (प्रहसन), 7. वेश्याविहार, 8. कृपणदास (प्रहसन), 9. हुस्नआरा नाटक (उर्दू), 10. चन्द्रहास नाटक (उर्दू), 11. सत्यहरिश्चन्द्र नाटक (उर्दू) इत्यादि । "आरा (बिहार) निवासी श्री राजेन्द्र प्रसाद के पास उनके सभी नाटक सुरक्षित हैं ।"[2]

7. रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' (1868-1914 ई.)

इनका सर्वप्रमुख नाटक 'चन्द्रकला भानुकुमार नाटक' है, जिसमें उन्होंने अपने नाट्य-सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप दिया है । इस नाटक का सबसे अधिक रसिक पात्र प्रताप कुमार हैं । उसकी सरसता और रसिकता का एक छोटा-सा उदाहरण इस प्रकार है - उसकी पत्नी चन्द्रावली पति के माथे पर गुलाल लगाना चाहती है । दोनों के संवाद निम्नलिखित हैं -

> चन्द्रावली - महाराज, आप कृपा करके कुछ झुक जाइये
> तो मैं अपना अभिप्राय सिद्ध कर लूं ।
> प्र. कुमार - (हंसकर) नहीं, मैं तो और भी तनकर बैठूंगा - तुम हाथ उठाकर
> गुलाल लगाओ, मेरा भी तो कुछ अभिप्राय है ।"

यह नाटक पूर्णरूप से साहित्यिक है । इसमें लम्बे-लम्बे स्वगत कथन और ब्रजभाषा काव्य के उद्धरण हैं । वैसे 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक ने हिन्दी नाट्य-साहित्य

---

1. पं. सकलनारायण पाण्डेय : बाबू जैनेन्द्र किशोर की जीवनी, पृ.-8-9 ।
2. रामलोचन शरण : जयन्ती स्मारक ग्रंथ, पृ.-541 ।

को नई दिशा की ओर मोड़ा, एक नवीन पथ का निर्माण किया जो भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की नाट्य-परंपरा से भिन्न था जिसे आगे चलकर जयशंकर प्रसाद ने प्रशस्त किया ।

ह्रास काल (1900-1910)

किसी भी वस्तु का ऊपर जाकर नीचे आना स्वाभाविक है, वही नाटकों की परंपरा में भी हुआ । इस काल तक नाट्य-परंपरा का स्वाभाविक प्रवाह अचानक रूक गया और उपन्यासों की भरमार से नाटकों का ह्रास अवश्यम्भावी हो गया । पं. जीवानन्द शर्मा के निम्नलिखित निष्कर्ष से इस आशय की पुष्टि होती है -

> "नाटक लिखना तो मानो हमारे हिन्दी के लेखकगण भूल ही गए हैं । जो ही कलम उठाते हैं वे उपन्यास ही लिखने लग जाते हैं ।.... आजकल उपन्यास पढ़ने की चाट लोगों को ऐसी पड़ गई है कि नाटक की कुछ पूछ ही जाती रही ।"

इस काल में हिन्दी नाटकों के ह्रास का सबसे बड़ा कारण पारसी का प्रभाव और भाषा को व्याकरण के सांचे में ढालने की सामान्य प्रवृत्ति थी जिससे वे भारतेन्दुयुग की नाट्य-परंपरा से विश्रृंखलित हो गए । सर्वप्रथम पं. किशोरी लाल गोस्वामी को नाटकों के पतन का आभास मिला । उन्होंने 'चौपट चपेट' (1891) नामक प्रहसन की भूमिका में ये पंक्तियां लिखी -

> "हिन्दी के अभाग्यवश जबसे भारतेन्दु बाबू

डॉ. बलवन्त लक्ष्मण कातमिरे : हिन्दी गद्य और विकास, पृ.-107 ।

> हरिश्चन्द्र जी परलोक सिधारे हैं तबसे साहित्य की बड़ी दुर्दशा हो रही है - नाटक विद्या को तो कदाचित् बाबू साहिब अपने संग ही ले गए हों, उनके पीछे दो-एक रूपक कि जिनसे घंटाभर जी लगे, छोड़के और आजतक कोई नाटक नहीं बने जिससे हिन्दी भाषा की पुष्टि होय, यह अमान्य नहीं तो क्या है ?

इसके उपरान्त भी नाटकों का लेखन, प्रकाशन और प्रदर्शन बिल्कुल बंद नहीं हुआ था ।

चतुर्थ अध्याय

प्रसाद-युग (वि.सं.-1977-2010)

पुराण तथा समाज से कथानक लेकर उनके द्वारा अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को मुखरित करने की चेष्टा भारतेन्दु जी ने अवश्य की है, पर "कल्पना की कुशल कारीगरी, मानव और प्रकृति का सामंजस्य, नाट्यशली में शिल्प, मनोवैज्ञानिक व सजीव चरित्र-सृष्टि, समग्र व शाश्वत् मानव जीवन की व्याख्या आदि उन बहुमूल्य नाट्य-तत्त्वों की ओर वे उतना ध्यान नहीं दे सके जो नाटक को श्रेष्ठतम साहित्यरूप एवं जीवन की विशद व्याख्या बना देते हैं ।"[1] यद्यपि भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने भी भारतेन्दु निर्मित मार्ग का ही अनुसरण किया और भारतेन्दु युग के अन्त तक हिन्दी नाटकों का रूप-विधान मुख्यतः शास्त्रीय बना रहा । द्विवेदी-युग नाटकों के क्षेत्र में कोई क्रांतिकारी कदम नहीं उठा सका बल्कि इस युग में विगति ही हुई प्रगति नहीं । भारतेन्दु जी के दिवंगत होने के तीन वर्ष उपरान्त प्रसाद जी का जन्म काशी के एक प्रसिद्ध घराने में हुआ । प्रसाद जी के बाल्यकाल में भारतेन्दु-मण्डल के उज्ज्वल नक्षत्र एक-एक करके अस्त हो चुके थे । प्रसाद जी अधिक प्रभावित थे भारतेन्दु से ।

नाटक में शास्त्रीय नाटक-तत्त्वों का परित्याग सर्वप्रथम भारतेन्दु जी ने 'विद्यासुन्दर' नाटक से कर दिया था । 'रणधीर प्रेममोहनी' (श्री निवासदास) हिन्दी का प्रथम दुखान्त नाटक था । इस नाटक में शौर्य, प्रेम तथा त्याग की स्वच्छन्दधारा प्रवाहित हुई है । इसी प्रकार द्विवेदी युग में भी कुछ नाटक, जैसे - 'महाराना प्रताप' (राधाकृष्णदास), 'दुर्गावती' (बद्रीनाथ भट्ट) 'कृष्णार्जुनयुद्ध' (माखनलाल चतुर्वेदी) आदि देश-प्रेम, जातिप्रेम, मानव-प्रेम तथा वैयक्तिक प्रेम की भावना से ओत-प्रोत हैं । द्विवेदी युग अंग्रेजी रोमांटिक ड्रामा का प्रभाव पड़ता रहा ।

---

1. भारतीय नाट्य साहित्य (सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रंथ), पृ.-302 ।

भारतेन्दु-युग की जिंदादिली के साथ नाटक-रचना का जोश मिट चुका था । मौलिक नाटक तो कहीं विरल दिखाई पड़ जाते थे, अन्यथा बंगला नाटकों के अनुवाद का साम्राज्य था ।

सन् 1916 में लखनऊ कॉंग्रेस के अधिवेशन पर पहली बार विभिन्न राजनीतिक दलों में मेल हुआ और एक वर्ष बाद सरकार की दमन-नीति ने फिर राष्ट्रीय जागृति में सहायता दी । 1919 में रौलेट ऐक्ट द्वारा भारतवासियों की स्वतंत्रता पर और भी अधिक प्रतिबन्ध लगाकर भारतीयों की स्वतंत्रता को कुचलने का उद्योग किया गया जिससे प्रांतीय भाषाओं के साहित्यकारों ने बड़े कटु और कठोर शब्दों में इस नीति का विरोध किया । कल्पना और रसोत्कर्ष को छोड़कर हिन्दी साहित्य तत्कालीन जनता की रुचि का अभिव्यंजक बना । यद्यपि ये उद्‌गार अधिकतर कविताओं द्वारा ही प्रदर्शित होते थे परन्तु बाद में नाटकों द्वारा भी जनता के सामने आये ।

सन् 1920 में 'स्वराज्य-युग' का आरंभ हुआ और सन् 28 तक वह बिना किसी रोक-टोक चलता रहा । 1930 में गांधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सूत्रपात किया जिससे देश की आंखें और सब समस्याओं से हटकर एकबारगी इसी ओर आ गईं । देश के साहित्य ने भी उनके दृश्य को उदात्त बनाया और कष्टों को सहने की प्रेरणा दी । दूसरी ओर शोषक और शोषित वर्ग के अन्तर्युद्ध का प्रारंभ हुआ जिसने आगे चलकर प्रगतिशील साहित्य को जन्म दिया ।

सब प्रकार से यह जन-जागृति का युग था हिन्दी साहित्य में एक नया दृष्टिकोण दिखाई देने लगा । साहित्य सम्मेलन ने हिन्दी प्रचार और काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने अनेक पुस्तकों के प्रकाशन द्वारा हिन्दी की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित कर बहुत-से हिन्दी लेखक उत्पन्न किए । इस युग में लेखकों ने विभिन्न भाषाओं के नाटकों का अनुवाद करके हिन्दी नाट्य-साहित्य में शक्ति का संचार किया । शेक्सपियर के नाटकों से भावुकता का संचार हुआ । अन्तर्द्वन्द्व और क्लाइमेक्स को रस-प्रतिपादन से अधिक महत्व मिल रहा था । एक ओर तो नवयुग प्रवर्तक भारतन्दु जी प्राचीनता के प्रतिनिधि के रूप में खड़े थे, और दूसरी ओर पश्चिमी नाटकों की अभिनयकला अपनी नवीन मोहनी शक्ति का जादू डाल रही थी । ऐसे सन्धिकाल में प्रसाद जी ने साहित्य-सृजन का कार्य प्रारंभ किया । प्रसाद जी ने समन्वयात्मक शैली का अनुगमन किया ।

हिन्दी नाट्य-क्षेत्र में प्रसाद का प्रादुर्भाव एक नवीन धारा के साथ हुआ है । प्रसाद असाधारण व्यक्तित्व वाले पुरूष थे । नवीन नाट्य-शैली, नूतन-संवाद-योजना, वैयक्तिक गुण-संपन्न चरित्र-सृष्टि, सांस्कृतिक उत्थान की प्रखर भावना आदि उनके स्वतंत्र विचारणा एवं चिन्तना के परिचायक हैं । प्रसाद बहुत बड़े जीवन-द्रष्टा और भविष्य-स्रष्टा थे । उनकी प्रतिभा मूलतः रोमान्टिक थी । "प्रसाद जी के नाटक-क्षेत्र में नाटक को नये चरित्र, नई घटनाएं, नया इतिहास, नया देशकाल, नया आलाप-संलाप, संक्षेप में सम्पूर्ण नया सम्भारण दिया ।"[1]

आरंभ में प्रसाद केवल कवि थे । उनमें कल्पना, अनुभूति और काव्यत्व की प्रधानता थी । वर्तमान छायावादी और रहस्यवादी कविता के जन्मदाता भी वही थे । इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन और मनन ने भारतीय संस्कृति के संबंध में प्रसाद की धारणाओं को दृढ़ बनाने में बड़ी सहायता की । भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार तो था ही । भाषा, भाव, विचार, अन्वेषण, अध्ययन आदि सभी आवश्यक ज्ञान संबंधी मान्यताओं से सुसज्जित होकर प्रसाद ने नाटकभूमि में प्रवेश किया । नाटक मे क्षेत्र में प्रसाद जी एक युग-प्रवर्तक कलाकार के रूप में आये । उन्होंने संस्कृत नाटकों के रस सिद्धान्त, पाश्चात्य नाटकों के अन्तर्संघर्ष, बाह्संघर्ष तथा शीलवैचित्र्य की परंपरा, बंगला नाटकों के भाव-संवेदन को अपनाकर अपनी प्रतिभा के समन्वय से - हिंदी नाटकों के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी अभिनय नाट्यकला को जन्म दिया । प्रसाद ने अपने नाटकों में वस्तु, चरित्र, रस, टेकनीक तथा वातावरण में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया ।

काल-निर्णय

प्रसाद ने नाट्यकला का जब प्रारंभ किया उस समय छोटे-छोटे घटनाक्रमों को लेकर भारतेन्दु की नाट्यकला के आधार पर कुछ एकांकी रूपकों का प्रणयन किया परन्तु प्रसाद का व्यक्तित्व कभी शास्त्रीय परंपरा में बंध नहीं सकता था, अतः इनके बाद के नाटक ऐतिहासिक भूमि पर विराट संस्कृति एवं व्यापक मानवीय संवेदनाओं का संभार लेकर स्वतंत्र नाट्यशिल्प का स्वरूप स्वीकार करके आए । प्रसादयुगीन नाटकों का काल निर्धारित करने के लिए प्रसाद

के नाटकों के रचनाक्रम पर ध्यान देना आवश्यक है । प्रसाद ने सन् 1910 से नाटक रचना का क्रम आरंभ किया और सन् 1933 तक लिखते रहे । इन चौबीस वर्षों में उन्होंने 13 नाटक लिखे । कालक्रम के अनुसार उनके नाम इस प्रकार हैं - सज्जन (1910-11), प्रायश्चित (जनवरी सन् 1912), कल्याणी परिणय (सन् 1912), करूणालय (फरवरी सन् 1913), राज्यश्री (जनवरी, सन् 1915), विशाख (सन् 1921), अजातशत्रु (सन् 1922), जनमेजय का नागयज्ञ (1923), कामाना (1923-24), स्कन्दगुप्त (1928), चन्द्रगुप्त (1928), एक घूंट (1929), ध्रुवस्वामिनी (1933) आदि ।

इसके अतिरिक्त प्रसाद ने 'यशोधर्मदेव' (अप्रकाशित), 'अग्निमित्र' (अपूर्ण), तथा 'इन्द्र' (संयोजनमात्र) नाटक लिखे ।

डॉ. जगन्नाथ शर्मा ने प्रसाद के नाटकों को दो कालों में विभाजित किया है -

1. परीक्षा काल - सन् 1910 से 1915 तक।
2. उत्तरकालीन नाटक - सन् 1921 से 1933 तक ।

डॉ. दशरथ ओझा ने प्रसादयुगीन नाटक का काल सन् 1910 से 1934 तक माना है । डॉ. सोमनाथ गुप्त ने निश्चित विचारधारा पर आश्रित और विशेष 'टेकनीक' के साथ नाटक लिखने के कारण प्रसाद युग का प्रारंभ 1915 से माना है ।

उपर्युक्त विवेचन से प्रसाद के नाटकों का रचनाकाल 1910 से 1933 तक है । प्रसादयुगीन नाटकों के अध्ययन में सन् 1910 से 1933 तक के नाटक और नाटककार आते हैं । अतः प्रसाद का काल था - स्वतंत्रता संग्राम का वह चरण, जहां भारतीय जनमानस राष्ट्रीय चेतना और गौरव से अभिभूत था । इसीलिए प्रसाद का सारा नाट्य-संसार, अभिजात्य, सामंतीय परिवेश और वातावरण के बावजूद कहीं से भी न तो प्रतिक्रियावादी है, न संकीर्ण है, न संकुचित है । इसमें सर्वत्र यथार्थबोध और युगबोध है - यही सत्य प्रसाद को महत्वपूर्ण नाटककार का दर्जा देता है ।

****
प्रसादयुगीन नाट्य परंपरा : संवाद
****

इस युग के नाटकों को भी विषयगत प्रवृत्तियों की दृष्टि से चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :-

1. ऐतिहासिक परंपरागत नाटक
2. पौराणिक परंपरागत नाटक
3. कल्पनाश्रित परंपरागत नाटक
4. अनूदित नाटक

1. ऐतिहासिक परंपरागत नाटक

प्रसादयुगीन नाटककारों ने अपने देशवासियों में आत्म-गौरव, स्वाभिमान, उत्साह एवं प्रेरणा का संचार करने के लिए अतीत के गौरवपूर्ण दृश्यों को अपनी रचनाओं में चित्रित किया है । यही कारण है कि उनके अधिकांश नाटकों का कथानक उस बौद्धयुग से संबंधित है जबकि भारत की सांस्कृतिक-पताका विश्व के विभिन्न भागों में फहरा रही थी । प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति को प्रसाद युग के नाटककारों ने बड़ी सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है, उसमें केवल उस युग की स्थूल रेखाएं ही नहीं मिलतीं, तत्कालीन वातावरण के सजीव अंकन की रंगीनी भी मिलती है । धर्म की बाह्-परिस्थितियों की अपेक्षा उन्होंने दर्शन की अन्तरंग गुत्थियों को स्पष्ट करना अधिक उचित समझा है । इस युग के सर्वप्रमुख नाटककार जयशंकर प्रसाद ने मुख्यतः ऐतिहासिक नाटकों की ही रचना की थी । उनके नाटकों का रचनाक्रम - सज्जन, कल्याणी-परिणय, करूणालय, प्रायश्चित्त, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, एक घूंट, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि है । इस युग के अन्य ऐतिहासिक नाटकों में बद्रीनाथ द्वारा रचित 'चन्द्रगुप्त', 'दुर्गावती', 'तुलसीदास', सुदर्शन द्वारा रचित 'दयानन्द',

मुन्शी प्रेमचन्द का 'कर्बला', पांडेय बेचन शर्मा का 'महात्मा ईसा', जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा', गोविन्द वल्लभ पंत कृत 'वरमाला', चन्द्रराज भण्डारी कृत 'सम्राट अशोक' आदि उल्लेखनीय है ।

प्रसाद जी ने नाटकों के पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करत हुए उनमें परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन व विकास दिखलाया है । नाट्यशिल्प की दृष्टि से प्रसाद जी के नाटकों में पूर्वी और पश्चिमी तत्त्वों का सम्मिश्रण मिलता है । जहां उनके नाटकों में कथावस्तु, रस, नायक, प्रतिनायक, विदूषक, [illegible] निरूपण, सत्य और न्याय की विजय में भारतीय नाट्य-साहित्य की परंपराओं का पालन हुआ है । मालव और कान्यकुब्ज के आधार पर प्रसाद जी ने 'राजश्री' नाटक में कामवासना एवं उसकी विकृति का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है -

> "विश्वास करो ! मैं आजीवन किसी राजा की विलासमालिका बनाती रहूं - ऐसा मेरा अदृष्ट कहे तो भी मैं मान लेने में असमर्थ हूं । मेरे प्राणों की भूख, आंखों की प्यास, तुम न मिटाओगे ?"
>
> - राजश्री, आठवां संस्करण, पृ.-11

इन नाटकों में भारतीय नाटकों की रसात्मकता भरपूर मिलती है तो दूसरी ओर पाश्चात्य नाटकों की-सी कार्य-व्यापार की गतिशीलता भी विद्यमान है । भारतीय नाटककार सुखान्त को पसन्द करते हैं लेकिन पाश्चात्य कलाकार दुखान्त को, प्रसादयुगीन नाटककारों ने अपने नाटकों का अन्त इस ढंग से किया है कि हम उन्हें सुखान्त भी कह सकते हैं और दु:खान्त भी । 1930 तक नवीन भारत की जिस राष्ट्रभावना तक हम पहुंच चुके थे, इन इतिहासवृत्तों में वह अपने समुज्ज्वल रूप में प्रकट हुई है । चाणक्य अपने शिष्यों को यही उपदेश देता है - "मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह (आत्मसम्मान) मिलेगा ।" और सिंहरण के इन शब्दों में - "परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं गांधार भी है, यही क्या समग्र आर्यावर्त है ।" इसमें अखण्ड भारत की भावना ही प्रतिध्वनित

हो रही है ।

गोविन्द वल्लभ पन्त ने 'वरमाला' नाटक मार्कण्डेय पुराण के एक आख्यान के आधार पर लिखा है । प्रेम एवं संघर्ष का एक अत्युत्तम मनोवैज्ञानिक चित्र इस नाटक में साकार हुआ है । उपवन में भूमण्डल का राजकुमार अवीक्षित स्वयंवर के एक दिन पूर्व वैशालिनी से सम्पर्क स्थापित करता है । वैशालिनी क्रोध के संवेग में ग्रस्त हुई है ।तदुपरान्त अवीक्षित उससे कहता है - "महाराज करंघम के राजकुमार के हाथ देवता से वरदान मांगने में संकुचित होते हैं, उन्हीं से वह तुम्हारी प्रेम-भिक्षा मांगता है । सुन्दरी ! अपने सौन्दर्य की ज्योति से मेरे प्रासाद को उद्भाषित करो । मैं अपने बाहुबल से लोक जीतकर तुम्हें उनकी अर्धाश्वरी बनाऊंगा ।"

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' के 'प्रताप-प्रतिज्ञा' (1928) की कथावस्तु भी ऐतिहासिक है । मिलिन्द जी ने नाटक की भूमिका में लिखा है - "मेरे 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक की रचना के समय प्रसिद्ध इतिहासकार श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनेक ऐसे ऐतिहासिक अनुसंधान मेरे सामने आ चुके थे, जिन्होंने प्रताप सिंह के जीवन के अनेक महत्वपूर्ण नाटकीय अंशों की भावनात्मक नाटकीयता पूर्णतया नष्ट कर दी थी । फिर भी जान-बूझकर मैंने उस नये उपलब्ध ऐतिहासिक ज्ञान का उपयोग नहीं किया ।" इस नाटक की कथा का उद्देश्य स्वतन्त्रता की प्रगति के लिए प्रयत्न करना है । परतन्त्र भारत की पृष्ठभूमि में लिखे गए राष्ट्रप्रेम के इस नाटक में भारतीयता, राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता के स्वर सर्वत्र व्याप्त है । चन्द्रावत जनता के प्रतिनिधि की हैसियत से विलासी राणा जगमल से राजमुकुट लेकर वीर और स्वातन्त्र्यप्रेमी राणाप्रताप को देते हैं - "

> "आज मैं प्रजा के प्रतिनिधि की हैसियत से वीरमल
> बाप्पा रावल का यह उज्ज्वल राज इसलिए नहीं
> कि इसे पहनकर राजा प्रजा पर अत्याचार करें,
> इसलिए नहीं कि इसे पहनकर सेवक प्रभू बन
> जाएं । मैं इसे सैनिक प्रताप को देता हूं - वीर
> प्रताप को देता हूं - व्रती प्रताप को देता हूं ।"

बद्रीनाथ के नाटकों में 'दुर्गावती' सर्वश्रेष्ठ है । इसकी घटनाएं ऐतिहासिक है तथा चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता है । संवाद एवं भाषा-शैली की दृष्टि से भी यह उत्कृष्ट रचना है । सुदर्शन का 'दयानन्द' चरित्रप्रधान नाटक है । चरित्र-चित्रण एवं घटनाक्रम के विकास की दृष्टि से तो ठीक है किन्तु अभिनय की दृष्टि से यह भी एक सफल ऐतिहासिक नाटक है । प्रेमचन्द का 'काबा-कर्बला' पाठ्य-रचना की दृष्टि से तो ठीक है किन्तु अभिनय की दृष्टि से दोषपूर्ण है । इस परंपरा के नाटकों में 'महात्मा ईसा', 'वरमाला', 'प्रताप-प्रतिज्ञा' आदि अवश्य उच्च कोटि के नाटक हैं । इनमे ऐतिहासिकता, स्वाभाविकता एवं कल्पना का सुन्दर संयोग हुआ है । कई नाटककारों ने ऐतिहासिक नाटक लिखते हुए भी प्रसाद के अनेक दोषों का अनुसरण नहीं किया है । पद्यात्मक संवाद अवश्य इनमें से कुछ में यत्र-तत्र मिलते हैं, जैसे - चन्द्रगुप्त नाटक में सुसिनी के गीत और ध्रुवस्वामिनी में मन्दाकिनी के गीत हैं जो इन स्त्रियों की आन्तरिक स्थिति के द्योतक हैं । अपने कुछ गीतों में प्रसाद ने प्रेम और सौन्दर्य के बड़े सजीव वर्णन किए हैं -

"तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक छिपकर चलते हों क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के धन, रस कन ढरते,
हे लाज भरे सौन्दर्य ! बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?

उपर्युक्त गीत में यौवन के संकेत और सौन्दर्यानुभूति का कितना भावपूर्ण वर्णन है ।

2. **पौराणिक परंपरागत नाटक**

पौराणिक नाटकों की रचना दो दृष्टियों से की जाती है - एक तो अपने पूर्व पुरूषों की याद दिलाकर प्राचीन गौरव को उद्बुद्ध करने के लिए और दूसरे पौराणिक चरित्रों

के आधार पर उच्च भारतीय आदर्शों की पुनः प्रतिष्ठा तथा नवीन युगचेतना को परिभाषित करने के लिए । वैसे तो पौराणिक नाटकों की एक परंपरा का प्रवर्तन प्रसाद युग से बहुत पूर्व ही भारतेन्दु-मंडल के विभिन्न लेखकों द्वारा हो चुका था, जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है । इस युग के पौराणिक नाटक व नाटककार इस प्रकार हैं - गंगाप्रसाद कृत 'रामाभिषेक नाटक' (1910), ब्रजनन्द कृत 'रामलीला नाटक', गिरिधरलाल का 'रामवनयात्रा' (1910), नारायण सहाय का 'रामलीला नाटक' (1911), रामगुलाम का 'धनुष-यज्ञ लीला' (1912), महावीर सिंह का 'नलदमयन्ती' (1905), ब्रजनन्दन सहाय का 'उद्धव' (1909), लक्ष्मी प्रसाद का 'उर्वशी' (1910), शिवनन्दन सहाय का 'सुदामा नाटक' (1907), हरिनारायण का 'कामिनी-कुसुम' (1907), रायदेवी प्रसाद का 'चन्द्रकला भानुकुमार' (1904) । ये नाटक सामान्यतः साधारण कोटि के हैं ।

जिस प्रकार सूर और तुलसी की रचनाओं के पश्चात् उनके प्रतिपादित विषयों पर लिखे गए अन्य ग्रंथों पर विशेष ध्यान नहीं जाता ठीक उसी प्रकार प्रसाद युग की रचनाओं के बाद ऐतिहासिक नाटकों को पढ़ने की रुचि नहीं होती । हिन्दी लेखकों में उतना अध्ययन और मननशील लेखक नहीं हुआ जो अपने उद्योग से इस बुद्धिवादी युग में शिक्षित समुदाय के सामने कोई नवीन वस्तु रखता । यों तो देश की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियां भी किसी अंश तक जनता को अपने में ही व्यस्त रखने के कारण इस अभाव के कारणों में गिनाई जा सकती हैं परन्तु यह कोई बलशाली तर्क नहीं है । साहित्य का सृजन स्थितियों के विपरीत भी हुआ है । प्रसाद के युग में उनके समकालीन लेखकों ने जो साहित्य सृष्टि की वह अधिकतर रंगमंचीय साहित्य था । पौराणिक नाटकों में अनेक पर उस युग के पारसी रंगमंच की विभिन्न प्रवृत्तियों का भी प्रभाव परिलक्षित होता है ।

पौराणिक नाटकों की परंपरा में निम्नलिखित परिवर्तन और परिवर्द्धन हुए :-

प्रसाद युग में रामचरित धारा प्रायः नहीं के बराबर रही । इसके अन्तर्गत केवल दो नाटकों का उल्लेख किया जा सकता है - दुर्गादत्त पांडेयकृत 'राम नाटक' (1924), और कुंदनलाल शाह का 'रामलीला नाटक' (1927) । राम नाटक की रचना साहित्यिक दृष्टि से

न होकर कार्य-व्यापार की दृष्टि से हुई है । प्रत्येक दृश्य एक छोटी-सी घटना है । पात्र अधिकतर कविता में बात करते है और कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग हो जाता है । शाह जी का नाटक भी कुछ इसी प्रकार है । उसमें कार्य-व्यापार अंकों में विभाजित है ।

कृष्णधारा में केवल एक ही नाटक उल्लेखनीय है । वह हरिप्रसाद 'वियोगीहरि' लिखित 'छद्मयोगिनी' ﴾1923﴿ है । भगवान श्री कृष्ण की छद्मलीला वाली कथा के आधार पर इसकी रचना हुई है । इसमें नाटक के सब गुण हैं परन्तु कविता की अधिकता और कार्य-व्यापार की कमी है जिसके कारण यह भक्तिभावना का अच्छा पठनीय दृश्य काव्यमात्र रह गया है । अन्य पौराणिक आख्यान धारा में निम्नलिखित नाटक लिखे गए -

> हश्र के नाटकों में गंगावतरण, बन देवी, सीताबनवास, श्रवण कुमार, भीषण प्रतिज्ञा आदि उल्लेखनीय है । हश्र के नाटकों में घटनाओं की योजना तथा कथाप्रवाह, कौतूहल, विस्मय एवं रसिकता से परिपूर्ण है । राधेश्याम कथावाचक ने 'वीर अभिमन्यु', 'कृष्णावतार', 'रुक्मिणी मंगल', 'श्रवण कुमार' आदि तथा नारायण प्रसाद ने 'महाभारत', 'कृष्ण-सुदामा', 'गणेश जन्म', शकुन्तला आदि नाटकों की रचना की है ।

इन नाटककारों ने जनसाधारण के मनोरंजन के लिए पौराणिक नाटक लिखे किन्तु उनमें सुरुचि और स्वाभाविकता का निर्वाह सर्वत्र नहीं मिलता ।

इस वर्ग की प्रौढ़ साहित्यिक कृतियों में बद्रीनाथ भट्ट के 'कुरुवन-दहन' और 'वेन-चरित' ﴾1921﴿, मैथिलीशरण गुप्त के 'चन्द्रहास' ﴾1916﴿, तिलोत्तमा ﴾1916﴿, 'अनघ' ﴾1916﴿, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक कृत भीष्म ﴾1918﴿, द्वारिकाप्रसाद गुप्त कृत 'अज्ञातवास' ﴾1921﴿, मिश्र बंधुओं का 'पूर्वभारत' ﴾1922﴿ और 'उत्तरभारत' ﴾1923﴿, सुदर्शन कृत 'अंजना'

(1923), माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन' एवं कामता प्रसाद गुरु कृत 'सुदर्शन' (1931) आदि उल्लेखनीय हैं ।

मैथिलीशरण का तिलोत्तमा पौराणिक आख्यान को लेकर लिखी गई है । बलशाली सुन्द और उपसुन्द दानवों से जब देवता भय खाने लगे तो उनके विनाश में सलग्न हुए । सदा की तरह ब्रह्मा जी उनके सहायक बने । तिलोत्तमा नामक अप्सरा की सृष्टि हुई । इसी अप्सरा के नाम से नाटक का नाम तिलोत्तमा रखा गया । इस नाटक में कार्य-व्यापार में बड़ी शिथिलता है जिसके कारण नाटक नाटक न रहकर एक नाटकीय कवितामात्र रह गया है । इस दृष्टि से यह हिन्दी साहित्य के लिए नवीन वस्तु है । अनघ एक भावनाट्य है और चन्द्रहास मे भक्त बालक चन्द्रहास का चित्र है । नाटक मे गांधीवाद की पूर्ण पुट है ।

'सुदर्शन' की 'अंजना' सब दृष्टि से कुशल नाटक है । इसमें पतिपरायणा अंजना और पवन के प्रेम की कथा है । लेखक ने अपने वस्तु-विन्यास को बड़ा जटिल बना दिया है । कहीं-कहीं भावुकता की भी गहरी छाप संवादों पर लगी हुई है । लम्बे भाषणों को छोटा कर नाटक अभिनय और साहित्य दोनों दृष्टियों से सुदर्शन जी की सफल रचना है ।

उपर्युक्त नाटकों के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लेखक अपने कथानक के लिए पौराणिक आख्यानमात्र लेते हैं । उनके पात्रों और घटनाओं का रूप तो ज्यों का त्यों रहता है । प्रसादयुग में पौराणिक नाटकों का कलात्मक दृष्टि से अधिक विकास नहीं हुआ किन्तु जनसाधारण में उनका प्रचार इतना अधिक हुआ है कि उनकी उपेक्षा करना उचित नहीं होगा ।

3. कल्पनाश्रित परंपराभुक्त नाटक

प्रसादयुग में जिन नाटकों की कथावस्तु इतिहास, पुराण पर आधारित न होकर विशुद्ध कल्पना पर आश्रित है, उन्हें इस वर्ग में स्थान दिया जा सकता है । इस वर्ग के

नाटकों के भी दो भेद किए गए हैं -

1. प्रहसन
2. सामाजिक नाटक

1. **प्रहसन** :- प्रहसन के विषय में प्रायः एक परंपरा यह चल गई थी कि प्रहसन का अंश या तो पृथक रूप से नाटक में जोड़ दिया जाता था अन्यथा हंसी और व्यंग्य को मूल नाटक में परिस्थिति के अनुकूल स्थान दे दिया जाता था । प्रसाद के नाटकों में व्यंग्य का स्थान पात्रों के वार्तालाप में ही सन्निहित है । स्वतंत्र रूप से जो प्रहसन लिखे गए उनमें से उल्लेखनीय हैं - जी.पी. श्रीवास्तव द्वारा रचित 'उलटफेर' (1918), दुमदार आदमी (1919), मर्दानी औरत (1920), गड़बड़ झाला (1919), भूल-चूक (1920), कुरसी मैन, न घर का न घाट का, साहित्य का सपूत आदि ।

बद्रीनाथ भट्ट द्वारा रचित - 'चुंगी की उम्मीदवारी' (1919), लवड़ घोंघों (1926), विवाह-विज्ञापन (1927) और 'मिस अमेरिकन' (1929) आदि । बेचेन शर्मा के दो नाटक - 'उजबुक' और 'चार बेचार', सुदर्शन कृत ऑनरेरी मजिस्ट्रेटी (1929), राधेश्याम मिश्र कृत कॉन्सिल की मेम्बरी (1920), हरिशंकर प्रसाद उपाध्याय कृत भारत दर्शन नाटक का कॉन्सिल का उम्मीदवार (1921), गोवन्द वल्लभ पन्त का कंजूस की खोपड़ी (1923) आदि नाटक लिखे गए ।

इन नाटकों में कहीं-कहीं समाज के विभिन्न वर्गों की कुत्सित एवं सामाजिक प्रवृत्तियों पर तीखा व्यंग्य किया गया है किन्तु सामान्यतः उनका स्तर बहुत ऊंचा नहीं है ।

जी.पी. श्रीवास्तव का हास्य बहुत निम्न कोटि का है । उसका क्षेत्र बेतुके नामों, स्त्री-पुरूष की जूती-पैजारी और भौंड़े वार्तालाप तक सीमित है । किन्तु पूरबी भाषा के प्रयोग से संवादों में जागृति अधिक आ गई है । भट्ट की रचनाएं अधिक सुरूचिपूर्ण एवं सोद्देश्य हैं । उन्होंने अपने 'चुंगी की उम्मीदवारी' में 'चुनाव बाजी पर', 'विवाह विज्ञापन' में वृद्ध विवाह पर तथा मिस अमेरिकन में पाश्चात्य सभ्यता एवं फैशनपरस्ती पर व्यंग्य किया है ।

'उग्र' जी ने अपने नाटक में सम्पादक, अध्यापक, सुधारक एवं प्रचारक की विभिन्न परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों को अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाते हुए उच्च कोटि के हास्य की सृष्टि की है ।

सुदर्शन का 'ऑनरेरी मजिस्ट्रेट' बहुत अच्छा है जिसमें अशिक्षित एवं अल्पबुद्धि ऑनरेरी मजिस्ट्रेटों की दयनीय दशा का चित्र रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है । अन्य प्रहसनों की अपेक्षा इनमें जो विशेष विशेषता है वह यही है कि लेखक उपदेशक या सुधारक नहीं बना है । अरस्तु अनेक दोषों के होते हुए भी इन प्रहसनों ने समाज-सुधार एवं लोकरंजन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति में न्यूनाधिक योग अवश्य दिया है ।

2. **सामाजिक नाटक** :- दूसरे वर्ग में सामाजिक नाटकों में भी कई धाराएं हैं, जैसे - राष्ट्रीय धारा, समस्या नाटक धारा एवं प्रेमप्रधान नाटक धारा आदि । सामाजिक नाटकों का लक्ष्य भी मुख्यतः अपने युग और समाज की विभिन्न बुराइयों का उद्घाटन करना है किन्तु इनकी शैली प्रहसनों की अपेक्षा गम्भीर और प्रौढ़ है । डॉ. वेदपाल खन्ना के शब्दों में - "जहां प्रहसनों में हास्य की सृष्टि करने के उद्देश्य से, जीवन का अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण किया गया है, वहां (इन) गम्भीर नाटकों में जीवन के सभी पक्षों का वास्तविक एवं यथार्थ चित्रण किया गया है । बीच-बीच में कहीं पर शिष्ट और संयत हास्य की अवतारणाएं भी इन नाटकों में की गई है ।" डॉ. खन्ना ने नाटकों को यथार्थवादी विशेषण प्रदान किया है, किन्तु हमारे विचार से इनकी मूल प्रेरणा आदर्शवादी है, अतः इन्हें आदर्शवादी या आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी कहना अधिक उचित होगा ।

राष्ट्रीय धारा के नाटक उल्लेखनीय हैं - काशीनाथ वर्मा का 'समय' (1917), मुन्शी प्रेमचन्द का 'संग्राम' (1922), कन्हैयालाल कृत 'देश-रक्षा' (1923), और लक्ष्मण सिंह कृत गुलामी का नशा (1924) इत्यादि ।

उपर्युक्त नाटकों में प्रेमचन्द का 'संग्राम' वास्तव में नाटक न होते हुए भी अपनी चिंताधारा का प्रतिनिधि नाटक है । कांग्रेस के आदर्श का प्रतिच्छाया इस नाटक में प्रस्तुत की गई है । इस धारा के अन्य नाटक रंगमंचीय श्रेणी के हैं ।

समस्या नाटक धारा की प्रमुख रचनाएं हैं - गोपाल दामोदर तामस्कर कृत 'राधामाधव' (1922), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी कृत 'मधुर मिलन' (1923), छविनाथ पांडे कृत 'समाज' (1920), अनंदी प्रसाद श्रीवास्तव कृत अछूत (1930), जयगोपाल कविराज कृत 'पश्चिमी प्रभाव' (1930), घनानंद बहुगुणा का 'समाज' (1930), लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सन्यासी' (1931), राक्षस का मंदिर (1931), मुक्ति का रहस्य (1932), नरेन्द्र कृत 'नीच' (1931), आनन्दस्वरूप ही महाराज का संसार-चक्र (1932) तथा प्रेमचन्द का प्रेम की बेदी (1933) आदि उल्लेखनीय है ।

अधिकांश नाटकों के विषय नाम से ही प्रतीत हो जाते हैं परन्तु उनमें किसी में कर्मयोग का वर्णन है, कुछ में अछूतोद्धार की समस्या है । प्रेम की वेदी में एक मध्यम ईसाई परिवार का दृश्य है दूसरी ओर योगराज नामक पुरूष की अल्पज्ञता और अधिक भोगलिप्सा के परिणामस्वरूप उसकी स्त्री उमा की मृत्यु भी दिखाई है । यह नाटिका विवाह की समस्या को लेकर लिखी गई है । प्रेम की वेदी में जेनी कहती है -

> "लोगों ने यह तरह-तरह के मत बनाकर संसार में कितना विष बोया है, कितनी आग लगाई है, कितना द्वेष फैलाया है । क्या धर्म इसीलिए आया है कि आदमियों की अलग-अलग टोलियां बनाकर उनमें भेद-भाव भर दे ? ऐसा धर्म लुटेरों का हो सकता है, ईश्वर का नहीं हो सकता ।"

इस नाटक में लेखक ने यह नहीं दिखाया कि अन्त हुआ क्या ? अन्त में फिर जेनी कहती है -

> खुदा का धर्म प्रेम है और मैं इसी धर्म को स्वीकार करती हूं, शेष धोखा है । आप फौरन मोटर मंगवाइये......मैं .....मोटर से जाऊंगी । सबेरे तक पहुंच जाऊंगी । वहीं प्रभात के शुभ

> मुहुर्त में रज्जन से मेरा विवाह होगा, बड़ी धुम-धाम के साथ, हवन कुण्ड की परिक्रमा करके, श्लोक और मन्त्र पढ़कर । मेरे लिए आल्टर और हवन कुण्ड में कोई अन्तर नहीं रहा । मुझे शक्ति दो, ईश्वर ! कि आजीवन इस व्रत को निभा सकूं.....।"

प्रेमचन्द जी का यह नाटक मात्र आदर्शवादी होकर रह गया है । कथा का विकास न होने से पात्रों का चरित्र-चित्रण भी अधूरा ही रह गया है ।

संसारचक्र में धार्मिकता और साम्प्रदायिकता का पुट है । लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में सर्वप्रथम व्यक्ति की समस्याओं पर उग्र रूप में लिखा है । मिश्र जी ने तर्क और बुद्धि को अपना शस्त्र बनाया है । वह समस्या की गहराई तक जाने का प्रयास करते हैं और वहीं से उसका कारण व समाधान खोजते हैं । उनका अस्त्र बुद्धि-विकास है । इसीलिए उनके नाटकों की समस्याएं व्यक्तिविशेष की समस्याएं हैं, समस्त समाज की नहीं । मिश्र जी के 'सन्यासी' नाटक में दो समस्याएं दर्शायी गई हैं । पहली - नारी की समस्या । इसमेंस नारी के अधिकारों का वर्णन है । सभी पात्रों (मालती, किरणमयी, दीनानाथ, विश्वकान्त) ने अपने जीवन की विगत घटनाओं को बुद्धिवाद और सांसारिक उपयोगितावाद की कसौटी पर घिसा है । वे इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि भावुकता एक आवरण है जिसे बुद्धि और विचारो द्वारा अलग कर देना चाहिए । इस नाटक में दूसरी समस्या जाति-रक्षा की है । वर्तमान की दासता से छूटकर स्वतंत्रता के वातावरण में सांस लेने के लिए एशियाई संघ की स्थापना करने का उद्योग करते हैं ।

मिश्र जी का राक्षस का मन्दिर और मुक्ति का रहस्य भी नारी की समस्या के ही विषय को लेकर चला है । मिश्र जी प्रसादयुग का अपवाद है । समस्या नाटकों में उनका अपना अलग स्थान है ।

प्रेमप्रधान नाटक धारा में दुर्गादत्त पांडे का चन्द्राननी (1917), ब्रजनन्दन सहाय का

उर्षागिनी (1925) और धर्नीराम का प्राणेश्वरी (1931), जगन्नाथ प्रसाद चतर्वेदी का 'मधुर-मिलन' (1923), जमुनादास मेहरा का पाप-परिणाम आदि उल्लेखनीय है ।

उर्षागिनी संस्कृत प्रणाली का नाटक है । नाटक में संयोगात्मक और वियोगात्मक प्रेम की तुलना निस्वार्थ प्रेमोद्गार एवं स्वार्थपरायणा इन्द्रिय-लिप्सा से की गई है । लेखक का दृष्टिकोण आदि से अन्त तक सुधारवादी का दृष्टिकोण है । अतएव नाटक में स्वाभाविकता की अपेक्षा उपदेश का आधिक्य है । 'स्वगत' के प्रयोग भी पर्याप्त हैं । प्रेम का बहुमुखी प्रदर्शनमात्र ही इस नाटक का लक्ष्य है ।

अपने चारों ओर असंतोष की लहर को देखकर नाटककार उसके मूल में जाने का प्रयत्न करते हैं और अपने उत्तर को नाटक का रूप दे देते हैं । जीवन के गंभीर पहलुओं पर इस प्रकार का विचार नाटक साहित्य में प्रसाद युग की ही देन है और वह बड़ी उपयोगी और समीचीन है । प्रसाद केवल ऐतिहासिक नाटक-लेखक ही नहीं थे । उन्होंने ध्रुवस्वामिनी (1933) में नारी-समस्या पर नया प्रकाश डालकर उसे 'मोक्ष' पाने का अधिकारी बताया है । सामाजिक विच्छृंखलता की परिस्थिति में उनकी यह खोजपूर्ण नाटिका पुरातन जीवन का उद्घाटन भी करती है और वर्तमान को प्रेरणा भी देती है । ध्रुवस्वामिनी संवाद की दृष्टि से उत्कृष्ट नाटक है । बाह्य परिस्थितियों से टक्कर लेते हुए पात्रों के अन्र्द्वन्द्व का चित्रांकन संवादों द्वारा बहुत ही सुन्दरता और धारावाहिकता के साथ हुआ है ।

4. अनूदित नाटक

प्रसादयुग में संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के विभिन्न नाटकों के अनुवाद भी विभिन्न लेखकों द्वारा हुए - संस्कृत के अनुवादों में भवभूति के मालती-माधव (1918), का सुन्दर अनुवाद पं. सत्यनारायण ने किया । महाकवि भास की स्वप्नवासवदत्ता के दो अनुवाद हुए -

पहला मैथिलीशरण गुप्त ने (1928) में और दूसरा इंडियन प्रेस से 1930 में निकला । मध्यम व्यायोग के भी दो अनुवाद क्रमशः सन् 1925 और 1928 में गंगा पुस्तकमाला लखनऊ एवं राँची से निकले । राँची से ही सबसे पहले उसी वर्ष पंचरात्र का अनुवाद प्रकाशित हुआ । दिङनाग की कुन्दमाला का अनुवाद डॉ. हरदत्त ने दिल्ली से (1931) प्रकाशित किया । इसके अतिरिक्त हर्ष के नागानन्द को अनुवाद हरदयालु सिंह से 1935 में किया ।

इन अनुवादों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी नाटक रचना पर नहीं पड़ा ।

अंग्रेजी में सबसे अधिक शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया गया और सभी अनुवाद ला. सीताराम ने किया । लाला जी के अनुवाद वास्तव में भावानुवाद हैं । अंग्रेजी न जानने वाले के लिए लाला जी के अनुवाद अच्छे हैं । वह शेक्सपियर की अतुकान्त कविता का अनुवाद उसी छन्द में नहीं कर सके हैं । सबसे प्रमुख बात है कि लाला जी ने अनुवादों का भारतीय रूप देने का प्रयास बिल्कुल नहीं किया ।

रूसी लेखक महात्मा टालस्टाय के तीन नाटकों का अनुवाद 'कलवार की करतुत' (1926), अंधेरे में उजाला (1928) और जिंदा लाश (1929), सस्ता साहित्य मण्डल, अजमेर से निकले । ठीक यही दशा फ्रांसिसी लेखक मोलियर के प्रहसनों की है । यों तो जी.पी. श्रीवास्तव के मार-मारकर हकीम (1917), आँखों में धूल (1917), हवाई डाक्टर (1917), नाक में दम (1918), साहब बहादुर (1918) और लाल बुझक्कड़ (1918), सभी को मोलियर से अपनाया है किन्तु इन्होंने अपने रूपान्तरों में देसी पुट दे दिया है । व्यंग्य और हास्य की दृष्टि से डॉ. लक्ष्मणस्वरूप के अनुवाद अधिक सुसंस्कृत हैं । अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक और नाटककार जान गाल्सवदी के तीन नाटकों का अनुवाद प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडमी ने कराया है । Strife और Justice का अनुवाद हड़ताल (1930) और न्याय (1931) नाम से मुंशी प्रेमचन्द ने किया था । सिल्वर बॉक्स (Silver Box) का अनुवाद चाँदी की डिबिया (1931) के नाम से ललिता प्रसाद जी शुक्ल ने किया । ये तीनों अनुवाद यथासंभव मूलरूप में किए गये हैं । बेल्जियम के प्रसिद्ध कवि मारिस मेटर लिंक की दो छोटी नाटिकाओं Sister Beatrice व The useless Deliverance का मर्मानुवाद पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने प्रायश्चित और उन्मुक्ति का बन्धन नाम से 1916 में किया । ये दोनों

अनुवाद भारतीयता से ओत-प्रोत हैं । जर्मन कवि शीलर के नाटकों का अनुवाद पं. रामलाल अग्निहोत्री ने किया जिसका नाम प्रेम-प्रपंच (1927) है ।

अनुवादों में सबसे अधिक बँगला के नाटकों की रही । सबसे अधिक लोकप्रियता द्विजेन्द्र बाबू और रविन्द्रनाथ के नाटकों को मिली । बाबू रामचन्द्र वर्मा एवं रूपनारायण पांडेय ने द्विजेन्द्रलाल राय के ऐतिहासिक नाटकों, जैसे - राणाप्रताप, मेवाड़ पतन, दुर्गादास, नूरजहां, शाहजहां, भीष्म, चन्द्रगुप्त आदि तथा रविन्द्रनाथ टाकुर के नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए हैं । गिरीशचन्द्र घोष के दो नाटकों का हिन्दी में रूपान्तर हुआ । द्विजेन्द्र बाबू के सभी नाटक 1916 से लेकर 1925 तक अनुवादित हो चुके थे । इनके नाटकों में तीन विशेषताएं मिलती हैं - बाह्द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व, हिन्दू मुस्लिम एकता और नारी की महत्ता ।

रवीन्द्रबाबू के भी कई नाटकों के अनुवाद समय-समय पर हिन्दी में प्रकाशित हुए - डाकघर (1920), विसर्जन (1924), व्यंग्य कौतुक (1924), मुक्तधारा (1925), राजारानी (1925), चिरकुमार सभा (1928) और मुंशी अजमेरी द्वारा अनुवादित चित्रांगता (1928) आदि है । गुजराती और मराठी से भी एक-दो नाटकों के अनुवाद हुए हैं । इस प्रकार अनुवादों के माध्यम से भी हिन्दी का नाटक साहित्य विश्व साहित्य की विभिन्न प्रतिभाओं के संपर्क में आया तथा उससे न्यूनाधिक योग अवश्य मिला है ।

****

(ख)

****

****

प्रसाद के नाटक और संवाद

हिन्दी नाट्य-क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले प्रसाद जी शुद्ध सृजन स्तर से भारतेन्दु और महावीर प्रसाद द्विवेदी युग की काव्य चेतना और रंगमंच से प्रभावित थे । पर प्रसाद जी को एक सौभाग्य भी मिला । द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया और राष्ट्रीय संग्राम भारतीय स्वतंत्रता के संघर्षों से उत्पन्न राष्ट्र के तारूण्य की स्वप्निल उमंगों ने छायावाद को जन्म दे दिया था ।

प्रसाद के नाट्य साहित्य का दो कालों में विभाजन किया गया है -

1. **परीक्षण काल या प्रयोग काल अथवा आरंभ काल ।[1]**
2. **उत्तरवर्ती काल ।[2]**

सबसे पहले प्रसाद जी ने 'उर्वशी' नामक कथा नाटक की रचना की है । 'उर्वशी' कथा नाटक की विधा में भारतेन्दुकालीन नाटक, उनके समसामयिक पारसी थियेटर और लोकनाट्यमंच शैलियों का मिश्रित उपयोग किया गया है ।[3] इसके उपरान्त **'बभ्रुवाहन'** नामक

---

1. डॉ. जगन्नाथ शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ.-2 ।
2. डॉ. दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास, पृ.-301 ।
3. हिन्दी साहित्य का वृत्त इतिहास (एकादश भाग) नागरी प्रचारिणी सभा प्रकाशन,पृ.-143

रचना का क्रम आता है । 'बभ्रुवाहन' की रचना तो बिल्कुल पारसी थियेटर के नाटकों के समानान्तर हुई है । कथानक-चयन, प्रतिपादन-शैली - सभी दृष्टियों से वह आगाहश्र कश्मीरी के 'रूस्तम सोहराब' के समकक्ष रखी जा सकती है ।[1]

प्रसाद के नाटकों का अगला सोपान उनके एकांकियों - सज्जन, प्रायश्चित, करूणालय, कल्याणी परिणय आदि में मिलता है । इन कृतियों को एकांकी इसलिए कहा गया है क्योंकि ये इस विधा के समीप हैं । प्रसाद जी ने साहित्य-सृजन के लिए जब प्रथम बार लेखनी उठाई तो महाभारत का कथानक लेकर भारतेन्दु की नाट्य-परंपरा के अनुसार नान्दी सूत्रधार को 'सज्जन' नामक नाटक में स्थान दिया । इस नाटक में प्राचीन नाट्यशैली का पूर्ण निर्वाह है लेकिन इनमें यथार्थ-बोध और संघर्ष का पूर्ण अभाव है । इनकी कथा पर शुद्ध पुनरूत्थानवादी चेतना का आग्रह है और हरिश्चन्द्र काल की नाट्यशैली अपनायी गयी है । पद्यात्मक संवादों की अस्वाभाविक प्रणाली भी इसमें पाई जाती है । किन्तु प्रसाद जी ने इस एकांकी रूपक में गद्य तो खड़ी बोली में रखा है, किन्तु पद्यों में ब्रजभाषा का व्यवहार किया है ।

प्रसाद जी का दूसरा एकांकी रूपक है 'प्रायश्चित' । इसमें न नान्दीपाठ है, न सूत्रधार, न प्रस्तावना है, न भरतवाक्य । इस नाटक में संवाद-योजना में भी परिवर्तन पाया जाता है । यहीं से प्रसाद जी के नाटकों में पद्यात्मक कथोपकथन का पूर्णतया तिरोभाव हो गया है । इस नाटक में दो नवीनताएं हैं - पहली आकाशभाषित और दूसरी पात्रों की भाषा में सामाजिक स्थिति के अनुकूल परिवर्तन । यह प्रसाद जी का द्वितीय ऐतिहासिक नाटक है ।

'प्रायश्चित' से पहले प्रसाद जी ने कल्याणी-परिणय (1970 वि.सं.) की रचना की थी । यह नाटक नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका में संवत् 1970 में प्रकाशित भी हुआ । इसका कथानक संक्षिप्त और सरल है । इस एकांकी नाटक का प्रारंभ नान्दीपाठ से और पर्यावसान भरतवाक्य के साथ होता है । इस नाटक में एक ही घटना आद्योपान्त ऋजुगति से चलती रहती है और इसमें पद्यात्मक संवाद-योजना मिलती है ।

---

1. हिन्दी साहित्य का वृत्त इतिहास (एकादश भाग) ना.प्र.सभा, पृ.-145-146 ।

'सज्जन' (1968 वि.सं.), कल्याणी परिणय (1970 वि.सं.), प्रायश्चित (1971 वि.सं.) के अतिरिक्त करूणालय (1969 वि.सं.) में एक और एकांकी लिखा । यह नाटक 'इन्दू' में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था ।

सम्पूर्ण नाटक पांच दृश्यों में विभक्त हैं और पद्यात्मक कथोपकथन गीतिनाट्य की शैली पर किया गया है । इसमें भी आकाशभाषित का प्रयोग हुआ है । यह भी प्राचीनता की परंपरा से मुक्त नहीं हो पाया है, यह भी भरतवाक्य के साथ ही समाप्त होता है ।

'करूणालय' नाटक को कुछ लोग काव्य कहना चाहते हैं । प्रसाद जी ने इसका उत्तर स्वयं अपने ग्रन्थ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में दिया है । उनके अनुसार, "गीतिनाट्य हमारे देश में अतिप्राचीन काल से चले आ रहे हैं । इनकी परंपरा बहुत पुरानी है । अभिनव गुप्त ने जिन 'राघव विजय' और 'मारीच-वध' नामक राग काव्यों का उल्लेख किया है"[1] ये प्रचलित राग काव्य ही आजकल की भाषा में गीतिनाट्य कहे जाते हैं ।

1. प्रयोगकाल के नाटकों में संवाद

प्रसाद की नाट्यकला तथा नाटकों के विकास की प्रक्रिया की दृष्टि से हम प्रयोगकालीन नाटकों के बाद लिखे गए नाटकों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं -

1. अन्तर्वती काल या विकास काल और
2. प्रौढ़ काल

1. अन्तर्वती काल या विकास काल :- इस काल में 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'कामना', 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'एकघूंट' नाट्यकृतियां हैं ।

---

1. प्रसाद : काव्य और कला एवं अन्य निबन्ध, पृ.-82-83 ।

2. प्रौढ़ काल : इसके अन्तर्गत 'स्कन्दगुप्त' (1928), 'चन्द्रगुप्त', और ध्रुवस्वामिनी (1933) आते हैं ।

1. राज्यश्री (1915 ई.)

'राज्यश्री' के दो संस्करण मिलते हैं । प्रथम संस्करण परीक्षण काल की नाटिकाशैली पर लिखा गया है, परन्तु द्वितीय संस्करण परवर्ती नाटकों से अधिक मिलता है । प्रथम संस्करण में नान्दीपाठ और भरतवाक्य हैं, किन्तु दूसरे संस्करण में इनका बहिष्कार । अन्तर्वर्ती काल या विकास काल की रचनाओं में 'राज्यश्री' पहली नाट्यरचना है । स्वयं प्रसाद जी ने अपनी पुस्तक में लिखा है -

> "इस दृश्यकाव्य का पूर्वरूप 'इन्दू' में पहले निकला, फिर 'चित्राधार' के संग्रह में वह पुनर्मुद्रित हुआ । एक प्रकार से मैं इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक समझता हूं । उस समय यह अपूर्ण-सा ही था । इसका वर्तमान रूप कुछ परिवर्तित और परिवर्धित है ।"

अर्थात् पूर्व निश्चित 'कल्याणी परिणय' और प्रार्यश्चित को वे पूर्ण रूप से ऐतिहासिक रूपक कहना उचित नहीं समझते, क्योंकि इनमें इतिहास की मर्यादा का उतना पालन नहीं किया गया जितना 'राज्यश्री' में । मालव और कान्यकुब्ज के आधार पर प्रसाद जी ने यह नाटक लिखा है । इस ऐतिहासिक नाट्यकृति में नाटककार ने कामवासना एवं उसकी विकृति का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है । प्रथम अंक में नाटक का प्रारंभ शांतिदेव और सुरमा के प्रणयालाप से हुआ है । सुरमा नामक मालिन में फ्रायड प्रणति कामजन्य लिविडो प्रवृत्ति विद्यमान है । इस भावाधिक्य के कारण वह शान्तिदेव से कहती है "विश्वास करो ।

मैं आजीवन किसी राजा की विलासमालिका बनाती रहूं - ऐसा मेरा अदृष्ट कहे तो भी मैं मान लेने में असमर्थ हूं । मेरी प्राणों की भूख, आंखों की प्यास, तुम न मिटाओगे ?"* आगे शान्तिदेव नामक भिक्षु उसे बता देता है कि अभिलाषा के लिए इतना चंचल नहीं होना चाहिए । फिर भी सुरमा कहती है "तुम निर्दय हो, मेरी आराधना का मूल्य नहीं जानते भिक्षु ! इतना ही नहीं गृहवर्मा अपनी रानी राज्यश्री से कहता है "तब भी यही कि यह सुदूरव्यापी नील आकाश कितने कुतूहलों का, परिवर्तनों का क्रीड़ा-क्षेत्र है । यह आवरण है भी कितना काला - कितना ..... ।" ** इससे उसका कमजोर अहम् विदित होता है । उसके आत्मकथन से विदित होता है कि वह राज्यश्री आकर्षक, सौन्दर्यमय रूप पर मुग्ध है ।

द्वितीय अंक में इसी घटना का प्रतिकार दिखाई पड़ता है । शान्ति भिक्षु कामवासना की तृप्ति के लिए इतना आकुल है कि उसके सिवा उसके मन में दूसरा विचार मंडराता नहीं । वह अपने आत्मकथन में कहता है -

> "मैं संसार से अलग किया गया था - किसलिए ? कि पिता ने मुझे
> भिक्षु संघ में समर्पण पिता ने मुझे भिक्षु संघ में समर्पण किया था व्यतीत करूँ ? मेरे लि.
> क्या इसलिए कि मैं धार्मिक जीवन व्यतीत करूँ ?
> मेरे लिए उस हृदय में दया या सहानुभूति न थी !
> जब हृदय-कानन की आशा-लता बलवती हुई तो
> मैं देखता हूं कि कर्मक्षेत्र में मेरे लिए कुछ
> अवशिष्ट नहीं । सुरमा - जीवन की पहली
> चिनगारी - वह भी किधर गई । धधक उठी एक
> - ज्वाला - राज्यश्री ! - (सोचकर) - मूर्ख !
> मैं निश्चय नहीं कर पाता कि सुरमा या राज्यश्री
> मेरे जलते हुए ग्रहपिण्ड के भ्रमण का कौन
> केन्द्र है !" ***

इस तरह उसकी दमित कुण्ठाएं उसे अस्वस्थ कर रही हैं ।

---

*. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री, आठवां संस्करण, पृ.-11 : **. वही, पृ.-15 ।
***. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री, पृ.-30 ।

एक दृश्य में राज्यश्री विमला के साथ अपना दुख प्रस्तुत करते हुए कहती हैं -

> "वेदना रोम-रोम में खड़ी है, विमला ! चेतना ने तो भूली हुई यातनाओं, अत्याचारों और इस छोटे-से जीवन पर संसार के दिए हुए कष्टों को फिर से सजीव कर दिया है । सखी ! औषधि न देकर यदि तू विष देती तो कितना उपकार करती ।"[1]

राज्यश्री के पतिदेव की युद्ध में मृत्यु हो जाती है । उसका नैतिक (सुपर इगो) प्रबुद्ध होने से निर्लज्ज, प्रवंचक आदि शब्दों में देवगुप्त की भर्त्सना करती हुई कहती है -

> "बस मैं सचेत हूं, देवगुप्त ! मुझे अपने प्राणों पर अधिकार है । मैं तुम्हारा वध न कर सकी, तो क्या अपना प्राण भी नहीं दे सकती ।"[2]

एक दृश्य में देवगुप्त और सुरमा का प्रेमालाप देखिए - देवगुप्त सुरमा से कहता है -

> "सुरमा ! मेरे जीवन में ऐसा उन्मादी अवसर कभी न आया था । तुम यौवन, स्वास्थ्य और सौन्दर्य की छलकती हुई प्याली - पागल न होना ही आश्चर्य है, मेरे इस साहस की विजय लक्ष्मी ।"[3]

इसी अंक में देवगुप्त राज्यश्री को बन्दी बना लेता है । लेकिन मालवराज की दुर्नीति से क्षुब्ध होकर स्थाणीश्वर कुमार राज्यवर्धन उस पर आक्रमण करते हैं । परिणामतः

---

1. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री, पृ.-36 । 2. वही पृ.-38 ।
3. वही, पृ.- 42 ।

देवगुप्त की मृत्यु होती है ।

'राज्यश्री' नाटक का तीसरा अंक भी विरोध से ही प्रारंभ होता है । विकटघोष और सुरमा गौड़ के शिविर में राज्यवर्धन की मृत्यु के लिए षड्यन्तत्र रचाने की बातचीत सुनकर सुरमा भयभीत हो जाती है । वह विकटघोष से कहती है -

> "जो करो मैं प्रस्तुत हूं । (अलग) हाय दूसरा पथ नहीं, यदि मैं कहती हूं कि नहीं तो, उहूँ.. फिर, यही सही, इस ओर से भी प्राण नहीं बचता ।" [1]

सुरमा के इस सम्भाषण में जीभ की फिसलन (स्लीप ऑफ थॉट) दिखाई देती है जो उसके अन्तर्मन का परिचायक है । अन्त में हर्षवर्धन के विचारों से उसमें विस्थापन की प्रक्रिया होती है । उसके 'इह' और अहम् में समझौता है । वह अपने भाई हर्षवर्धन से कहती है -

> "चलो भाई ! जहां तक बन पड़े, लोक-सेवा करके अन्त में हम दोनों साथ ही काषाय लेंगे ।" [2]

चतुर्थ अंक में सभी की ईश्वरोपासना मनोविज्ञान की दृष्टि से ध्यान देने लायक है । फ्रायड के मतानुसार -

> "ईश्वरी मान्यता केवल कल्पना है । ईश्वर की सत्ता में विश्वास का मनोवैज्ञानिक अर्थ मानव की मानसिक दुर्बलता है ।"

---

1. राज्यश्री, पृ.-43 ।
2. " , पृ.-66 ।

परन्तु वात्स्यायन के मतानुसार -

> "लोक यात्रा की दृष्टि से धर्म का महत्व अनन्य साधारण है । धर्म की नैतिकता केवल निषेधात्म ही नहीं, अपित रचनात्मक भी है ।"

अतः जयशंकर प्रसाद जी ने वात्स्यायन प्रणीत धर्म-कल्पना को स्वीकारकर नाटकों के माध्यम से इसका प्रसार भी किया है । शान्ति भिक्षु और सुरमा दोनों की कामुक प्रवृत्ति का उदात्त्तीकरण हुआ है । इस तरह के उदात्तीकरण के बाद भक्तिभावना का निर्माण होता है । इसके इस कथन में प्रतीति होती है - नरेन्द्रगुप्त, भण्डि, सुरमा, विकटघोष आद सभी जो राज्यश्री एवं हर्षवर्धन के द्वारा क्षमा की जाती है । लोक-सेवा के लिए नत होकर मुकुट और राजदण्ड ग्रहण कर लेता है । 'करूण-कादम्बिनी बरसे !'

प्रसाद जी के प्रायः सभी नाटकों में बौद्ध धर्म विकसित अथवा पतनशील अवस्था में दिखाई पड़ता है । 'राज्यश्री' में जहां एक ओर सुएनच्वांग शत्रु-मित्र सभी को धर्म और शान्ति वितरित करता है, वहीं दूसरी ओर शान्तिभिक्षु धर्म और शान्ति का इस प्रकार उपहास करता है -

> "मूर्ख, शान्ति को मैंने देखा है । कितने शवों में वह दिखाई पड़ी । शान्ति को मैंने देखा है, दरिद्रों के भीख मांगने में । मैं उस शान्ति को धिक्कारता हूं । धर्म को मैंने खोजा जीर्ण-पत्रों में । पंडितों के कूट तर्कों में उसे बिलखते पाया, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं ।"

शान्ति और धर्म को हेय समझनेवाला शान्ति भिक्षु प्रारंभ में इस प्रकार संशयात्मक स्थिति में पड़ा था - "मैं क्या चाहता हूं ? यह मैं अभी स्वयं नहीं समझ सका हूं ।"[1]

---

1. राज्यश्री, पृ.-11

तदुपरान्त वह पतन की ओर दृष्टि लगाए सुरमा से कहता है -

> "पतन की चरम सीमा तक चले सुरमा । बीच में रुकने की आवश्कता नहीं । अब शील-सकोच का डर मुझे नहीं भयभीत कर सकता । यहां तक बढ़ आने पर अब लौटना असम्भव है ।"[1]

प्रसाद जी के इस प्रथम ऐतिहासिक नाटक में उनके शेष ऐतिहासिक नाटकों की प्रायः समस्त विशेषताएं बीज-रूप से विद्यमान है । 'राज्यश्री' इस नाटक की नायिका है, जिसके चरित्र में पतिपरायणता, साहस, उदारता एवं आत्मगौरव आदि गुण विद्यमान हैं । वेसे 'राज्यश्री' चरित्रप्रधान न होकर घटनाप्रधान नाटक है । इसीलिए घटनाओं की आंधी में पात्रों के व्यक्तित्व पत्तों की तरह उड़ते फिरते हैं । 'राज्यश्री' के नाम पर नाटक है पर वह नियति और भाग्य के थपेड़े खाती परिस्थितियों की सरिता में बहने वाली नारी है । 'सुरमा' के व्यक्तित्व में निजता है, पर वह कल्पितमात्र है । शान्तिभिक्षु घटनाक्रम के सहायक के रूप में ही चित्रित है ।

'राज्यश्री' के व्यक्तित्व-चित्रण में प्रसाद जी ने व्यवस्था और 'यथाक्रम' का परिचय दिया है । 'घटनाओं' और नियति के बवण्डर में पड़ी यह 'अबला' कभी संघर्ष करती है, जूझती है, कभी निराश होकर विक्षिप्त हो जाती है । पतिपरायणा भविष्य के प्रति पति की आशंकाओं को धैर्यपूर्वक निर्मूल करती है, पर वही राज्यश्री मन्दिर में मूर्ति के अट्ठास करने पर बेहोश हो जाती है । 'विधवा' होने पर भी क्षत्रियोचित दर्प से दृढ़ता के साथ वह कहती है -

> "तुम देवगुप्त ? मुझसे बातें करने के अधिकारी नहीं हो । मैं तुम्हारी दासी नहीं हूं । एक निर्लज्ज प्रवंचक का इतना साहस !"

---

1. राज्यश्री, पृ. -59 ।

कभी-कभी उसे निराशा जकड़ लेती है । उसके इस कथन में कितनी वेदना है -

> "इस विस्तीर्ण विश्व में सुख मेरे लिए नहीं, पर जीवन ? आह ! जितनी सांसें चलती हैं, वे तो चलकर ही रुकेंगी ।.. . तब अच्छा हो कि मेरे जीवन का अन्त हो जाय ।"

निराशा के सुखद क्षणों में भी वह स्नेह-शून्य नहीं हो जाती । चिता पर जलने के लिए तैयार राज्यश्री, जब हर्ष को देखती है तो कह उठती है -

> "कौन ? भैया हर्ष ....आओ, हर्ष, इस अन्तिम समय में तुम आ गए । मेरा सारा विषाद चला गया ।"

'राज्यश्री' बुद्ध की करुणा और त्याग से प्रभावित है । उसमें अद्‌भुत उदारता है । वह राज्यवर्धन के हत्यारे को क्षमाकर देती है । शान्तिभिक्षु को क्षमा करके कहती है -

> "आज महाव्रत का उद्यापन है । क्या यही दान रह जाय ? इसे प्राणदान दो भाई !"

इस प्रकार, राज्यश्री का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी संवेदन प्रकार का है ।

'राज्यश्री' के कथोपकथनों में काव्यत्व और जीवन का सूक्ष्म दर्शन प्रतिबिम्बित हुआ है । छोटे-छोटे एवं अर्थग्राही संवाद इस नाटक का वैशिष्ट्य है, उदाहरण के लिए -

राज्यश्री - भिक्षु, तुमने प्रवज्या ग्रहण कर ली है, किन्तु तुम्हारा हृदय अभी .....

शान्तिदेव - कल्याणी ! मैं, मेरा अपराध......

राज्यश्री - हां तुम ! भिक्षु ! तुम्हें शील सम्पदा नहीं मिली, जो सर्वप्रथम मिलनी चाहिए ।

शान्तिदेव	-	मैं सब ओर से दरिद्र हूं देवि ! - (स्वगत) -विश्व में इतनी विभूति ? और मैं - सिर ऊंचा करके अत्यन्त ऊंचाई की ओर देखता हुआ केवल उल्टा होकर गिर जाता हूं - चढ़ने की कौन कहे !
राज्यश्री	-	क्या सोचते हो, भिक्षु !
शान्तिदेव	-	केवल अपनी क्षुद्रता
राज्यश्री	-	तुम संयत करो अपने मन को भिक्षु ! श्लाघा और आकांक्षा का पथ तुम बहुत पहले छोड़ चुके हो । यदि तुम्हारी कोई अत्यन्त आवश्यकता हो तो मैं पूरी कर सकती हूं, निश्चित उपासना की व्यवस्था करा दे सकती हूं ।"[1]

अर्थात् राज्यश्री में नैतिकाहं का प्राबल्य एवं शान्तिदेव में कामजन्य मनोग्रस्तता का आविष्कार हुआ है । 'राज्यश्री' की भाषाशैली अत्यन्त ठोस, स्पष्ट एवं परिष्कृत है । मुहावरों का भी यथोचित प्रयोग हुआ है । डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने स्पष्ट लिखा है -

> "राज्यश्री नाटक का वस्तु-विन्यास साधारण, चरित्रांकन एकांगी और अविकसित रह गया है । इसका कारण बहुत ही स्पष्ट है । पुरानी इमारत का सुधार बहुत पुष्ट नहीं होता । नींव से जो ही जो अपुष्ट है उसकी बाहरी तड़क-भड़क से कहां तक काम चल सकता है ।"

नाटक में अनेक स्वच्छन्दतावादी तत्त्व घनीभूत होकर विद्यमान हैं । 'राज्यश्री' में

---

1. राज्यश्री, पृ.-21

अतृप्त-दमित कामवासना एवं वात्स्यायन कृत धर्म उत्पत्ति का सुस्पष्ट चित्र अंकित हुआ है ।

2. विशाख (सन् 1921 ई.)

प्रसाद के पूर्ववर्ती और परवर्ती नाटकों में 'विशाख' (1921 ई.) एक महत्वपूर्ण कड़ी है । प्रसाद के नाटकों की कड़ी में इसी नाटक से पूर्णतया परिपक्वता आई । इसका प्रकाशन सन् 1921 में हिन्दी ग्रन्थ भण्डार, काशी से हुआ । यह ऐतिहासिक नाटक काश्मीर के राजा नरदेव से संबंधित है ।

इस नाटक के प्रथम अंक में अहिंसा का चोंगा पहनने वाले बौद्धों के पापयुक्त अंधेरे का निदर्शन है । 'विशाख' नाटक का प्रथम वाक्य, जिसे नायक बिशाख स्वगत कथन में अपने विगत जीवन पर विचार करते हुए कहता है -

> "शैशव ! जबसे तेरा साथ छूटा तबसे असन्तोष, अतृप्ति और अटूट अभिलाषाओं ने हृदय को घोंसला बना डाला । इन विहंगमों का कलरव मन को शान्त होकर थोड़ी देर भी सोने नहीं देता । यौवन सुख के लिए आता है, यह एक भारी भ्रम है । आशामयी भावी सुखों के लिए इसे कठार कर्मों का संकलन ही कहना होगा । उन्नति के लिए मैं भी पहली दौड़ लगाने चला हूं ! देखूं, क्या अदृष्ट में है ।" [1]

---

1. जयशंकर प्रसाद : विशाख, सप्तम संस्करण, पृ. -12

'विशाख' का यह स्वगत-भाषण होते ही नाटक की नायिका चन्द्रलेखा सामने आती है जबकि विशाख के अन्तर्मन में द्वन्द्व चल रहा है । चन्द्रलेखा की पैतृक सम्पत्ति अपहृत की जा चुकी है । परिवार का भरण-पोषण करने के लिए सेम की फलियां तोड़ती हुई वह दरिद्रता की क्रुरता का इस प्रकार स्मरण करती है -

"सखी री, सुख किसको हैं कहते ।
बीत रहा है जीवन सारा केवल दुख ही सहते ।
करुणा कान्त कल्पना है बस, दया न पड़ी दिखाई ।
निर्दय जगत्, कठोर हृदय है, और कहीं चल रहते ।"

बहिन इरावती और चन्द्रलेखा का सुन्दर रूप एवं उनके मलिन वस्त्र देखकर विशाख का ध्यान उसकी ओर खींचता है । वे दोनों सुश्रुवा नाम की कन्याएं हैं, यह जानकर वह कह उठती है -

"घने घन-बीच कुछ अवकाश में यह चन्द्रलेखा सी ।
मलिन पट में मनोहर है निकष पर हेम-रेखा सी ।।"

प्रसाद जी को पिता के स्वर्गवास व पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के कारण कई आपत्तियों का सामना करना पड़ा । ऐसी विकराल परिस्थिति में यह स्वाभाविक था कि शैशव की सुखद स्मृतियां प्रसाद के यौवन में कसक पैदा करें । आश्चर्य नहीं कि उन्हीं को अभिव्यक्त करने के लिए प्रसाद ने विशाख और चन्द्रलेखा आदि पात्रों की सृष्टि की हो । 'विशाख' नाटक की रचना में उस समय के राजनीतिक आन्दोलन का भी हाथ हो सकता है, क्योंकि इसका संकेत हमें इस नाटक की भूमिका में इस प्रकार मिलता है -

"मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है, और जिनपर कि

वर्तमान साहित्यकारों की दृष्टि कम
पड़ती है ।"

प्रसाद जी उसी समय की घटना को लेकर 'विशाख' नाटक की रचना की । नाग जाति की लक्ष्मी चन्द्रलेखा के उपभोग के लिए भावुक किन्नर नरदेव आतुर है और जैसे-तैसे उसका अपहरण भी कर लेता है । समस्त नाग जाति विद्रोह कर देती है । इस नाटक में महात्मा गांधी ही प्रेमानन्द के रूप में इस संदेश को सुना रहे हैं -

"निर्बल भी हो, सत्य पक्ष मत छोड़ना,
शुचता से इस कुहक जाल को तोड़ना ।"[1]

विशाख के आग्रह पर नरदेव न्याय के लिए भिक्षु और चन्द्रलेखा को बुलाता है । चन्द्रलेखा को देखते ही नरदेव का इड उसकी ओर चक्कर काटने लगता है । वह अपने आत्मकथन में कहता है -

"आह ! ऐसा रंग तो मेरे रंगमहल में भी
नहीं... रूप की सत्ता ही ऐसी है । कौन
इससे बच सकता है ।"[2]

राजा विहारों को आग लगवाकर नष्ट करने का आदेश देता है । राजा और जनता की श्रद्धा न रहने से समस्त बौद्ध-विहार राज-कोपाग्नि में भस्म कर दिए गए । प्रमाण के लिए 'विशाख' और राजा नरदेव का वार्तालाप देखिए -

"कानीर-विहार का बौद्ध महन्त जिसे राज्य की
ओर से बहुत-सी सम्पत्ति मिली है, प्रमादी हो

---

1. विशाख, प्रथम अंक, चतुर्थ दृश्य, पृ.-38 ।
2. " पृ.-40

> गया है । दीन-दुखियों की कुछ नहीं सुनता । मोटे निठल्लों को एकत्र करके विहार कर रहा है । एक दरिद्र नाग की कन्या को अकारण पकड़कर अपने मठ में बन्द कर रखा है । उसका पिता दु:खी होकर द्वार-द्वार विलाप कर रहा है ।"[1]

राजा नरदेव विहारों को भस्म करने की आज्ञा देता हुआ बौद्ध महन्त से कहता है -

> "किन्तु सत्यशील तुम तो अधम कीट हो । तुम्हारे लिए यहां दण्ड है कि तुम लोगों का अस्तित्व पृथ्वी पर से उठा दिया जाय, नहीं तो तुम लोग बड़ा अन्याय फैलाओगे । सेनापति, सब विहारों को राज्य भर में जलवा दो ।"[2]

द्वितीय अंक में विशाख और चन्द्रलेखा में प्रथम दर्शन से उद्भूत प्रेम की परिजाति परिणय रूप में दिखाई पड़ती है । विशाख चन्द्रलेखा से कहता है -

> "प्रिये । आज मैं भी क्या उस आशामय भविष्य का आनन्द मनाऊं, हृदय में रशीली वंशी बनाऊं ? क्या मैं ..... ।"[3]

---

1. विशाख नाटक, प्रथम अंक, तृतीय दृश्य, पृ.-29 ।
2. विशाख नाटक, प्रथम अंक, पंचम दृश्य, पृ.-40 ।
3. विशाख नाटक, प्रथम अंक, पंचम दृश्य, पृ.-42 ।

यहीं पर चन्द्रलेखा पर नरदेव की आसक्ति भी प्रकट हो जाती है । वह अपने आत्मनिवेदन में कहता है -

> "यह हृदय ही दूसरा हो गया है समय ही । मन अकस्मात् एक मनोहर मूर्ति का एकान्त-भक्त होता जा रहा है । चित्त में अलस उदासी विचित्र मादकता फैला रही है । आप ही आप चुटीला मन और भी घायल होने के लिए ललच रहा है । राजा नियम बनाता है, प्रजा उसको व्यवहार में लाती है । उन्हीं नियमों में मकड़ी और जाल की तरह मुक्ति नहीं, किन्तु कभी-कभी उल्टा लटक जाता है । उस रमणी को वरजोरी अपने वश में करने के लिए जी' मचल रहा है, किन्तु नीति नियम ! आह ! हमारा शासन मुझे ही बोझ हो रहा है, मन की यह उच्छृंखलता क्यों है ।"[1]

राजा नरदेव के अन्तर्मन में संघर्ष चल रहा है । यहां अहं और नैतिकाहं का द्वन्द्व देखने योग्य है । एक दृश्य में महापिंगल की पत्नी तरला उसके बुढ़ापे का स्मरण दिलाकर सन्मार्ग पर चलने का उससे अनुरोध करती है । महापिंगल राजा नरदेव के साथ रमण्या वी की ओर मृगया खेलने के बहाने चन्द्रलेखा के पास जाता है । उसकी कलुषित भावना को समझ लेने के पश्चात् वह कहती है - "राजन, मुझसे अनादृत न हुजिए, बस यहां से चले जाइये ।"[2] तात्पर्य यह कि विशाख के प्रेम के सम्मुख उसे कोई राजा भी व्यर्थ है । अंधेरी रात में चन्द्रलेखा चैत्य के सम्मुख रहकर प्रार्थना करती है -

---

1. जयशंकर प्रसाद : विशाख, पृ.-50-51 ।
2. जयशंकर प्रसाद . विशाख, पृ.-66 ।

"मेरा वसन्तमय जीवन है । प्रभो ! इसमें पतझड़ न आने पावे । मेरा कोमल हृदय छोटे सुख में संतुष्ट है, फिर बड़े सुखवाले उसमें क्यों व्याघात डालते हैं । क्या उन्हें इतने में भी ईर्षा है, जो संसारभर को अपनाना चाहते हैं ? इसका क्या उपाय है ? हमारे सम्बल, तुम्हीं हो नाथ ।"[1]

तभी मूर्ति कहती है -

"तू नरदेव की रानी हो ना । राजरानी हो जा ।"[2]

ऐसे अवसर पर भी चन्द्रलेखा अपने प्रण से विचलित नहीं होती । वह आत्मविश्वास के साथ कहती है -

"तब तू अवश्य इस चैत्य का कोई दुष्ट अपदेवता है । मैं जाती हूं, आज से इस राख के टीले पर, कभी नहीं आऊंगी ।"[3]

और, इसके बाद कथानक का द्वितीय अंक समाप्त हो जाता है ।

तृतीय अंक का प्रारंभ वितस्ता के तट पर नरदेव और महापिंगल के वार्तालाप से होता है । नरदेव अपने मनोभावों को प्रदर्शित करते हुए कहता है -

"पिंगल ! तुम जानते हो कि प्रतिरोध से बड़ी शक्तियां रुकती नहीं, प्रत्युत उनका वेग और भी

---

1. जयशंकर प्रसाद : विशाख, पृ.-66 2. जयशंकर प्रसाद : विशाख, पृ.-66
3. जयशंकर प्रसाद : विशाख, पृ.-67

भयानक हो जाता है । वही अवस्था मेरे प्रेम की है । इसने कोमलता के स्थान में कठोरता का आश्रय लिया है । माधुर्य छोड़कर भयानक रूप धारण किया ।"[1]

यहां उसकी दमित कुण्ठाएं दृष्टिगोचर होती हैं । उपेक्षित महारानी, महापिंगल से कहती हैं -

महारानी - क्या कहता है पिंगल ।
महापिंगल - जंगल में मंगल ।
महारानी - दूर हो गया कहीं मन से
क्या हुआ तन लगा रहे तन से ।

एक दृश्य में चंद्रलेखा अत्याचारी नरदेव के बच्चे को निज प्राणों की परवाह न कर प्रचण्ड अग्नि से निकाल राजा के सामने रखती है, उस समय प्रेमानन्द स्त्री जाति की प्रशंसा करते हुए कहता है -

"मूर्तिमती करूणे, तुम्हारा जीवन सफल हो । स्त्री जाति का सुन्दर उदाहरण तुमने दिखाया ।"[2]

नरदेव अन्त में चन्द्रलेखा से क्षमा-याचना करते हुए कहता है -
"देवी, क्षमा करो । अधम के अपराध क्षमा हो ।"[3]

ऐसी कितनी ऐतिहासिक प्रेमकथाएं हैं जिनमें कलुषित और अत्याचारी राजा का

---

1. विशाख, पृ.-67 ।
2. विशाख नाटक, तृतीय अंक, पंचम दृश्य, पृ.-91 ।
3. विशाख नाटक, तृतीय अंक, पृ.-71 ।

जीवन प्रायश्चित की अग्नि में तपकर शुद्ध और निर्मल हो गया है -
प्रायश्चित की अग्नि में तपकर शुद्ध और निर्मल हो गया है -

> "नरदेव - हाय ! हाय ! - मैंने क्या किया, एक पिशाचग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी । ..... इसीलिए प्रकृति के दास मनुष्य को आत्मसंयम, आत्मशासन, की पहली आवश्यकता है ।"

'विशाख' नाटक का वस्तु-विन्यास साधारण है । नाट्यकला का स्वच्छन्दतावादी रूप इस नाटक की वस्तु-योजना में उभरा है । इसका कथानक साधारण होते हुए भी युगीन अभिव्यक्ति से ओत-प्रोत है । उनका यह कथन देखिए -

> "क्या अन्याय का प्रतिफल अन्याय है ? क्या राजा मनुष्य नहीं है ? क्या उसे भ्रम नहीं हो सकता ? देश की शांति भंग करना और निरपराधों को दण्ड देना - इसमें तुम्हें क्या मिलेगा ?"

इसमें नरदेव के अत्याचारों के रूप ब्रिटिश शासन के अत्याचारों को अंकित किया है ।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी प्रसाद का यह नाटक साधारण है । इसमें चरित्र विषयक गाम्भीर्य कम है । विशाख जो कि इस नाटक का नायक है उसी के नाम से नाटक का नामकरण हुआ । विशाख के स्वभाव का अक्खड़पन, उसके व्यक्तित्व को निजता से भर देता है । वह भिक्षु से यह कहता है -

> "मैंने अच्छी तरह विचार कर लिया है कि आपको इतनी भूमि का अन्न खाकर मोटा होने

---

1. विशाख, तृतीय अंक, पृ.-90 ।

की आवश्यकता नहीं ।"

विशाख का उपर्युक्त कथन उसके स्वभाव की अव्यावहारिकता, अक्खड़पन तथा निजता का प्रतीक है । नरदेव में कामुकता और उच्छृंखलता तथा बुद्धि-दौर्बल्य है ।

इस नाटक में नारी का चरित्र प्रशंसनीय है । चन्द्रलेखा तो मूर्तिमती करूणा है ही, इरावती भी पतिपरायणा है । रानी के स्वभाव में स्पष्टता, निर्भीकता और पतिपरायणता का पूर्ण मिश्रण है । केवल तरला की प्रकृति में क्षुद्रता है । वह प्रलोभन देने पर सब कुछ करने के लिए तैयार है । चित्रलेखा आदर्श पत्नी के रूप में चित्रित है । उसने स्पष्ट शब्दों में विशाख से कह दिया [illegible] आदर्श [illegible] में चित्रित है । उसने [illegible] शब्दों

"मैं तुम्हें पाकर अपने सुख में कोई कमी नहीं
देखती हूं....मुझे तो जीवनधन, तुम्हें पा जाने
पर और किसी की आवश्यकता नहीं है । मैं तो
केवल तुम्हें चाहती हूं । मेरे संकीर्ण हृदय में
तो इतना स्थान नहीं कि संसार की बातें
आ जाएं ।"

चन्द्रलेखा इस नाटक की नायिका है । सारे कार्य-व्यापार उसी के लिए होते हैं । एक दृश्य में तरला का कथन -

"अभी क्या कहते थे, बैल के भाई ! हम लोगों
ने तो कभी दूसरे की ओर हंसकर देखा कि प्रलय
मचा, व्याभिचारिणी हुई, और तुम्हारे ऐसे [illegible]
वर्ष के खपट्टों को प्रेमवाले दूध के
दांत लगे ।" [1]

---

1. विशाख, द्वितीय अंक, पृ.-47 ।

इसके अतिरिक्त इस नाटक के पात्र गौण हैं । महापिंगल विदूषक है ।

संवाद-शिल्प का अपेक्षाकृत विकसित रूप हमें 'विशाख' में दिखाई पड़ता है । यह नाटक शिल्प की दृष्टि से पूर्व और परवर्ती नाटकों की विभेदक रेखा है । विशाख' के कथोपकथनों में रोचकता, स्वाभाविकता एवं पात्रोपयुक्तता का यथार्थ प्रयोग हुआ है । संवाद योजना में स्वगत कथनों का आधिक्य है । मनोविज्ञान की दृष्टि से निंम्नलिखित कथोपकथन महत्वपूर्ण है -

विशाख - अच्छा तो प्रिये ! अब मैं जाता हूं, शीघ्र ही लौटकर यह मुखचन्द्र देखुंगा ।

चन्द्रलेखा - ना-ना-मैं न जाने दूंगी, तुम्हें कहीं जाने की क्या आवश्यकता है ? मैं कैसे रहूंगी ?

विशाख - मुझे कभी तो किसी बात की नहीं है, फिर भी उद्योगहीन मनुष्य शिथिल हो जाता है । उसका चित्त आलसी हो जाता है, इसलिए कुछ थोड़ा भी इधर-उधर कर आऊंगा तो मन भी बहल जाएगा और कुछ लाभ भी हो जाएगा ।

चन्द्रलेखा - क्या इतने ही दिनों मैं तुम्हारा मन ऊब गया ? क्या मुझसे घृणा हो गयी ! लाभ, यह तो केवल बहाना है, हां ![1]

इस संवाद में विशाख एवं चन्द्रलेखा के चेतन, अवचेतन भाव उमड़ पड़े हैं, जिनमें प्रेम को घृणा और घृणा को प्रेम में परिवर्तित कर डालने की महान् शक्ति है । इस नाटक में कई स्थल पर संवाद काव्यत्व की ओर झुके हुए हैं । प्रेम-प्रसंग के संवादो में प्रसाद की दृष्टि अधिक रमी है किन्तु युवकोचित हृदय की अभिव्यक्ति के कारण उनमें गुरूता नहीं आ

---

1. विशाख, पृ.-54 ।

पायी है । इन संवादों में पारसी थियेटर के छिछले संवादों की झलक है । चन्द्रलेखा का यह कथन इस बात का प्रमाण है :-

"अकेली छोड़कर जाने न दूंगी ।
प्रणय को तोड़कर जाने न दूंगी,
बनाकर आंख की पुतली तुम्हें बस,
तुम्हारे साथ में खेला करूंगी ।"

"मधुपान कर चुके मधुप, सुमन मुरझाय, शीतल मलयानिल गया - कौन सिंचवाएं ।
पत्ते नीरस हो गए सुखाकर डाली, चलती उपवन में लूह कहां हरियाली ।"[1]

'विशाख' नाटक संवादों की विविधता के दृष्टिकोण से प्रसाद के परवर्ती नाटकों की कोटि में नहीं पहुंचता, किन्तु हास्य की जैसी छटा इस नाटक में मिलती है किसी अन्य नाटक मे उपलब्ध नहीं होती है । तत्कालीन युग के 6 वर्षों के राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का यथातथ्य चित्रण है ।

3. अजातशत्रु (सन् 1922)

हिन्दी ग्रन्थ-भण्डार, काशी, द्वारा प्रकाशित 'अजातशत्रु' अन्तः और बाह संघर्ष पर आधारित हिन्दी-साहित्य का प्रथम नाटक है । बौद्धकालीन इतिहास के आधार पर प्रसाद जी ने 'अजातशत्रु' की रचना की है । इसमें प्रसाद जी ने मानवीय मन की द्वन्द्वात्मक अवस्था का यथार्थ चित्र खींचा है । नाटक का प्रारंभ 'अजातशत्रु' के शिकारी के एक प्रसंग से करते हैं ।

---

1. विशाख, तृतीय अंक, पृ.-71 ।

संवादों के द्वारा लुब्धक और अजात में वाद-विवाद हो रहा है । इतने में पद्मावती (जो कि उसकी बहिन है) का बातों द्वारा बढ़ाबढ़ी उसे असह होती है । और फिर, अजात की मां आकर पद्मावती से कहती है "पद्मावती यह तुम्हारा अविचार है । कुणीक (अजात) का हृदय छोटी-छोटी बातों में तोड़ देना, उसे डरा देना, उसकी मानसिक उन्नति में बाधा देना है ।" यहां नाटककार ने बाल मनोविज्ञान की दृष्टि से बाल्य ·जीवन में क्रियात्मक योग्यताओं का महत्व विशद किया है । भाई योगेन्द्रजीत ने 'बाल-मनोविज्ञान' में लिखा है "आत्मनिर्भरता, पाठशालीय, समायोजन, सामाजिक संपर्क, 'स्व' को समझना आदि कारणों से बालकों में क्रियात्मक योग्यताओं का विकास होता है ।" इस नाटक में सर्वत्र क्रान्ति का विकट घोष सुनाई पड़ता है । वह क्रान्ति राजनीतिक क्षेत्र मे राजाओं के विरूद्ध राजकुमारों की है । सामाजिक क्षेत्र में अभिजात के विरूद्ध निम्नवर्ग की है, धार्मिक क्षेत्र में रूढ़िवाद के विरूद्ध सुधारवाद की है । पुरूषों के प्रति स्त्रियों की है । सामाजिक क्षेत्र की क्रांति प्रसेनजित की रानी दासी-पुत्री महामाया तथा उसके पुत्र विरूद्धक के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है -

" रानी - ' दासी की पुत्री होकर भी मैं राजरानी बनी और हठ से मैंने इस पद को ग्रहण किया और तुम राजा के पुत्र होकर इतने निस्तेज और डरपोक... । पुरूषार्थ करो । इस पृथ्वी पर जिया तो कुछ होकर जियो, नहीं तो मेरे दूध का अपमान कराने का तुम्हें अधिकार नहीं ।

विरूद्धक - बस मां ! अब कुछ न कहो । आज से प्रतिशोध लेना मेरा कर्तव्य और जीवन का लक्ष्य होगा । मां, मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि तेरे अपमान के कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूंगा और उनके रक्त में नहाकर, इस कौशल के सिंहासन पर बैठकर तेरी वन्दना करूंगा ।"[1]

---

1. अजातशत्रु, पृ.-56-57 ।

एक दृश्य में गौतम बुद्ध बिम्बसार से गृह-कलह की वजह से कहते हैं -

"राजन ! समझ लो, इस गृह-विवाद और
आन्तरिक झगड़ोंसे विश्राम लो ।"

एक दृश्य में कौशाम्बी मे मागधी उदयन की एक रानी होते हुए भी अपमान का जीवन व्यतीत कर रही है, वह अपने आत्मकथन में कहती है -

"इस रूप का इतना अपमान ! सो भी एक
दरिद्र भिक्षुक के हाथ । मुझसे ब्याह करना
अस्वीकार किया । यहां मैं राजरानी हुई, फिर
भी वह ज्वाला न गयी, यहां रूप का गौरव
हुआ, तो धन के अभाव से दरिद्र-कन्या होने के
अपमान की यन्त्रणा में पिस रही हूं ! अच्छा
इसका भी प्रतिशोध लूंगी, अबसे यही मेरा व्रत
हुआ । उदयन राजा है, तो मैं भी अपने हृदय
की रानी हूं । दिखला दूंगी कि स्त्रियां क्या कर
सकती हैं ।"[1]

इस प्रकार, इससे विदित होता है कि हीनता-ग्रंथि एवं इसका प्रबल भाव उसे अस्वस्थ कर रहा है ।

द्वितीय अंक में ही सेनापति बन्धुल की पत्नी मल्लिका के शान्त और गम्भीर स्वभाव तथा सहिष्णुता का परिचय मिलता है । अजातशत्रु की राजसभा में समुद्रदत्त कह देता है कि काशी की प्रजा राज-कर देने के विरोध में है । तब अजातशत्रु समुद्रगुप्त से कहता है -

---

1. अजातशत्रु, पृ.-39 ।

"ओह ! अब समझ में आया । वह काशी की प्रजा का कंठ नहीं, इसमें हमारी विमाता का व्यंग्य-स्वर है । इसका प्रतिकार आवश्यक है । इस प्रकार अजातशत्रु को कोई अपदस्थ नहीं कर सकता ।"

यहीं अजातशत्रु के दुर्बल अहम् पर प्रकाश पड़ता है । धार्मिक क्रान्ति का नेता देवदत्त और अजातशत्रु के वार्तालाप से गौतम के नवविचारों का विरोध स्पष्ट झलकता है -

"देवदत्त - सम्राट, कल्याण हो, धर्म की वृद्धि हो, शासन सुखद हो ।

अजातशत्रु - कोशल के दांत जम रहे हैं । वह काशी की प्रजा में विद्रोह करना चाहता है । वहां के लोग राजस्व देना अस्वीकार करते हैं ।

देवदत्त - पाखण्डी गौतम आजकल उसी ओर घुम रहा है, इसलिए कोई चिन्ता नहीं । गौतम की कोई चाल नहीं चलेगी । यदि मुनिव्रत धारण करके भी वह ऐसे साम्राज्य के षड्यन्त्रों में लिप्त हैं तो मैं भी हठवश उनका प्रतिद्वन्द्वी बनूंगा ।परिषद् का आह्वान करो ।

अजातशत्रु - जैसी आज्ञा ।"[1]

एक दृश्य में मागधी श्यामा नामक वेश्या के रूप में विचरण कर रही है । फ्रायडियन लिबिडो वृत्ति एवं अनियंत्रित आवेग के कारण उसने वेश्यावृत्ति को अपनाया है । वह अपने आत्मकथन में कहती है -

---

1. अजातशत्रु, दूसरा अंक, पहला दृश्य, पृ.-63 ।

> "किन्तु मैं शैलेन्द्र से मिलने आयी हूं - वह डाकु है तो क्या, मेरी भी अतृप्त वासना है । मागधी ! चुप, वह नाम क्यों लेती है । मागधी कौशाम्बी के महल में आग लगाकर जल मरी - अब तो मैं श्यामा, काशी की प्रसिद्ध वार विलासिनी हूं । बड़े-बड़े राजपुरूष और श्रेष्ठी इसी चरण को छूकर अपने को धन्य समझते हैं । धन की कमी नहीं, मान का कुछ ठिकाना नहीं, राजकुमारी होकर और क्या मिलता था, केवल सापत्न्य ज्वाला की पीड़ा ।"[1]

राज्य क्रांति का समाधान मल्लिका के इन शब्दों से हो जाता है -

> "क्षमा से बढ़कर दण्ड नहीं है, और आपकी राजनीति इसी का अवलम्बन करें ।"[2]

एक दृश्य में गौतम धर्म-क्रान्ति का समाधान इन शब्दों में करते हैं -

> "हमें अपना कर्तव्य करना चाहिए, दूसरों के मलिन कर्मो को विचारने से भी चित्त पर मलिन छाया पड़ती है । शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म करना चाहिए । दूसरों की ओर से उदासीन हो जाना ही शत्रुता की पराकाष्ठा है। आनन्द, दूसरों का अपमान सोचने से भी अपना हृदय कलुषित होता है ।"[3]

---

1. अजातशत्रु, दूसरा अक, पृ.-७४ ।
2. अजातशत्रु, दूसरा अंक
3. अजातशत्रु, दूसरा अंक, पृ.-82 ।

अजातशत्रु में अमिताभ की धर्मक्रांति का नया स्वरूप मल्लिका के शब्दों में इस प्रकार है -

> "तुम्हारे उपदेशों से हृदय निर्मल हो जाता है । तुमने कीट से लेकर इन्द्र तक की समता घोषित की, अपवित्रों को अपनाया, दुखियों को गले लगाया, अपनी दिव्य करुणा की वर्षा से विश्व को प्लावित किया, अमिताभ तुम्हारी जय हो ।"[1]

गौतम ने तीन वाक्यों में धर्म का सार और स्वर्ग की प्राप्ति को स्पष्ट कर दिया -

> "असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है । इस दुख समुद्र में कूद पड़ो । यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हंसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे ।"

अजातशत्रु के तीसरे अंक में संघर्ष का उतार और सभी घटनाओं का समाहार प्रस्तुत किया गया है । अजातशत्रु के युद्ध में हारना तथा उसके बंदी होने से छलना को मातृत्व की गरिमा का बोध होता है । दुश्चरित्र व्यक्तियों में असफलता के कारण मतभेद प्रकट हो जाता है । यहां देवदत्त को दुत्कारती हुई छलना कहती है -

> "धूर्त ! तेरी प्रवंचना से मैं इस दशा को प्राप्त हुई । पुत्र बन्दी होकर विदेश चला गया और पति को मैंने स्वयं बन्दी बनाया । पाखण्डी !

---

1. अजातशत्रु, दूसरा अंक, पृ.-83 ।

तूने ही यह चक्र रचा है ।"[1]

यहां छलना के इड का मार्गान्तरीकरण देखने लायक है । यहीं से नाटक की कथाधारा अपना मार्ग - मंगल की ओर बदलती है । अजातशत्रु की मुक्ति होती है । उसमें नैतिकाहं की जागृति होती है । इसी कारण वह वासवी से कहता है -

"कौन ! विमाता ? नहीं, तुम मेरी मां हो । मां ! इतनी ठंढी गोद तो मेरी मां की भी नहीं है । आज मैंने जनता की शीतलता का अनुभव किया । मैंने तुम्हारा बड़ा अपमान किया है, मां ! क्या तुम क्षमा करोगी ?"[2]

इस कथन में विकासोन्मुखता उस स्थल पर दिखाई पड़ती है, जहां वासवी उसे बन्दी-गृह से मुक्त कराकर अंक में लिपटा लेती है । अजातशत्रु के मुख से सहसा मां ! शब्द निकलता है ।

इस नाटक में नारी की क्रान्ति भी कथनों में कई स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है । उसका बोध कारायण और शक्तिमती में निम्नलिखित वार्तालाप से इस प्रकार हो सकता है -

"देवि, तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है और पुरूष की संकीर्ण । कठोरता का उदाहरण है पुरूष और कोमलता का विश्लेषण है स्त्रीजाति । पुरूष क्रूरता है तो स्त्री करूणा है जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं । .... क्रूरता अनुकरणीय नहीं है, उसे नारी-जाति

---

1. अजातशत्रु, तीसरा अंक, पृ.-104 ।
2. अजातशत्रु, तीसरा अंक, पृ.-111 ।

एक दृश्य में मल्लिका का सुझाव पुरुषों के प्रति, शक्तिमती को इस कथन में है -

"स्त्रियों का कर्तव्य है कि पाशववृत्ति वाले क्रुरकर्मा पुरूषों को कोमल और करूणायुक्त करें, कठोर पौरूष के अनन्तर उन्हें जिस शिक्षा की आवश्यकता है, उस स्नेहशीलता, सहनशीलता और सदाचार का पाठ उन्हें स्त्रियों से ही सीखना होगा । हमारा यह कर्तव्य है । व्यर्थ स्वतंत्रता और समानता का अहंकार करके उस अपने अधिकार से हमको वंचित न होना चाहिए । चलो, आज अपने स्वामी से क्षमा मांगो ।"[2]

उपर्युक्त कथनों से श्री प्रसाद का 'अजातशत्रु' नाटक अमर है, क्योंकि इसमें एक ऐसी विचारधारा प्रवाहित होती है जो संतप्त मानव-जीवन को शान्ति प्रदान करती है । इस नाटक के कथानक का संघर्ष राजकीय है । संघर्ष की घटनाएं विविध स्थानों और ऐतिहासिक सन्दर्भों के साथ जुड़ी हुई है किन्तु उनका समाहार उचित ढंग से नहीं हुआ है । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने ठीक ही लिखा है -

"सभी स्थलों के अलग-अलग संघर्षों के साथ मुख्य संघर्ष की योजना करने में लेखक को पर्याप्त सफलता नहीं मिली है । संघर्ष का विकास दिखाते-दिखाते लेखक इतना आगे बढ़

---

1. अजातशत्रु, तीसरा अंक, पृ.-137 । 2. अजातशत्रु, तीसरा अंक, पृ.-137 ।

> जाता है कि सहसा अंतिम अंक में उसे कथानक को समेटना और संघर्ष की समाप्ति कर देना कठिन होता है ।"

अजातशत्रु में ऐतिहासिकता और कल्पना की प्रचुरता है ।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सभी पात्रों के कथनों से लगता है कि नाटक के सभी पात्र विरोध और संघर्ष के वातावरण में पनपते और बढ़ते हैं । अजातशत्रु इस नाटक का नायक है जिसके नाम से इस नाटक का नामकरण हुआ है । गृह-कलह के कारण प्रारंभ से ही उसमें वीररूप क्रुरता एवं कठोरता दिखाई देती है । अजात के मानसिक द्वन्द्व को देखकर डॉ. गणेशदत्त गौड़ ने उसकी तुलना मैकबेथ के साथ की है ।[1] बचपन में लुब्धक से यह कहना "क्यों रे लुब्धक ! आज तू मृगशावक नहीं लाया । मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा ?" और फिर अधिकार, दर्प तथा क्रुरता से यह कहना - "हां तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूं । समुद्र ! ला तो मेरा कोड़ा ।" से उसके स्वभाव को सही रूप में चित्रित करते हैं ।

अजातशत्रु का शासक हो जाने पर प्रजा के प्रति भी क्रुर स्वभाव यह उद्‌गार प्रकट करने को विवश करता है -

> "मैं यह क्या सुन रहा हूं । प्रजा भी ऐसा कहने का साहस कर सकती है । चींटी भी पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है । राज-कर मैं न दूंगा, यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ वह भी क्यों न निकाल ली गयी ।"

---

1. डॉ. गणेशदत्त गौड़ : आधुनिक नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ.-179 ।

महात्मा गौतम के प्रति अशिष्ट व्यवहार उसके अनुचित संस्कार और त्रुटिपूर्ण शिक्षण का परिणाम है । वह स्वयं स्वीकार करता है -

> "मुझे भ्रम हो गया था । मुझे अच्छी शिक्षा नही मिली थी । मिला था जंगलीपन की स्वतंत्रता का अभिमान, अपने को विश्वभर से स्वतन्त्र जीव समझने का झूठा सम्मान ।"

मल्लिका के व्यक्तित्व से टकराकर वह दुर्घर्ष और क्रोधान्ध सर्प सहसा शान्त हो जाता हे । बंदी रूप में बाजिरा को देखकर उसके सुकुमार मनोवृत्ति को उत्तेजना मिलती है और वह कह उठता है -

> "सुनता था कि प्रेम द्रोह को पराजित करता है । आज विश्वास भी हो गया । तुम्हारे उदार प्रेम ने मेरे हृदय को विजित कर लिया ।"

आगे वह आत्म-स्वीकार में कहता है -

> "यह जंगली हिरन इस स्वर्गीय संगीत पर चौकड़ी भरना भूल गया है ।"

इतना ही नहीं, पिता बन जाने के बाद वह पितृस्नेह की धारा में बहकर मनुष्य बन जाता है । अजात अपने पिता से क्षमा-याचना करता है -

> "नहीं पिता, पुत्र का यही सिंहासन है । अपने सोने का झूठा सिंहासन देकर मुझे इस सत्य अधिकार से वंचित किया । अक्षम्य पुत्र को भी

कौन क्षमा कर सकता है ?"

विरूद्धक भी अपने पिता से विद्रोह करने वाला युवक है । प्रतिशोध की आग में जलकर वह प्रतिज्ञा करता है -

> "तेरे अपमान के मूल कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूंगा और उनके रक्त में नहाकर इस कोशल के सिंहासन पर बैठकर तेरी वन्दना करूंगा ।"

लक्ष्यसिद्धि के लिए घोर अन्धकार में भी वह अपना रास्ता बनाता है । श्यामा के सौन्दर्य की तृष्णा में डूबकर भी सजग होकर कहता है -

> "मैं भूल गया था कि मैं कौन था, मेरा उद्‌देश्य क्या था .... वह प्रेम दिखाकर मेरी स्वतंत्रता हरण कर रही है । इस गर्त में अब नहीं गिरूंगा ।"

अजातशत्रु का विश्वासपात्र बन जाने के बाद वह दृढ़-निश्चय और अडिग आत्म-विश्वास के साथ कहता है -

> "जब मैं पदच्युत और अपमानित व्यक्ति हूं तब मुझे अधिकार है कि सैनिककार्य में किसी का पक्ष ग्रहण कर सकूं, क्योंकि यही क्षत्रीय की धर्मसम्मत आजीविका है ।"

---

1. अजातशत्रु, पृ.-163 ।

वह स्वावलम्बन, दृढ़ता, पराक्रम, साहस और निर्भीकता के कारण लक्ष्यसिद्धि को प्राप्त करता है ।

अजातशत्रु का पिता भी इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति है । उसकी मानसिक दुविधा 'एकान्त निर्जन' में भी चैन नहीं लेने देती । मगध और कोशल के युद्ध के संबंध में उसका यह कथन -

"युद्ध में क्या हुआ (मुंह फिराकर) अथवा मुझे क्या ?

अर्थात् फल जानने की उत्सुकता और प्रपंचों से तटस्थता, साथ-साथ उसके हृदय में है । इसी प्रकार उद्यान के एकांत में, वाणप्रस्थ स्वीकार करने वाला बिम्बसार - जब छलना द्वारा वासवी के प्रति व्यंग्योक्तियां सुनता है तो क्रोधावेश में उग्र हो जाता है । वह कहता है -

> "छलना, मैंने राजदण्ड छोड़ दिया है, किन्तु मनुष्यता ने अभी मेरा परित्याग नहीं किया है । महन की भी सीमा होती है । अधम नारी चली जा । तुझे लज्जा नहीं । बर्बर लच्छिवि रक्त !"

आगे बिम्बसार जीवक से कहता है -

> "नहीं जीवक, मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं, अब वह राष्ट्रीय झगड़ा मुझे नहीं रूचता "

वह सम्राट की गरिमा का बोझ छोड़कर 'मनुष्य' होना चाहता है :-

"सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल
किसलयों के झुरमुट का अधखिला फूल होना
अधिक अच्छा है ।"

जीवक उसे जब सम्राट कहकर पुकारता है तो वह डांटकर कहता है -

"चुप, यदि मेरा नाम न जानते हो तो मनुष्य
कहकर पुकारो । यह भयानक सम्बोधन मुझे
नहीं चाहिए ।"

और, अन्त में, सम्राट की गरिमा के परित्याग का द्वन्द्व ही उसे इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है -

"मैं मनुष्य हूं और इन मायाविनी स्त्रियों के
हाथ का खिलौना हूं ।"

अन्य पुरूष-पात्रों में बन्धुल, गौतम, प्रसेनजित, देवदत्त, विदूषक आदि हैं । इनके व्यक्तित्व की झलक इनके नाटक संवादों में मिलती है ।

अजातशत्रु में कई नारी पात्र हैं । इनके व्यक्तित्व का वर्णन संवादों द्वारा कर सकते हैं - मल्लिका, भारतीय नारी का आदर्श चरित्र उसमें अन्तर्भूत है । उसे अपने पति पर विश्वास है, वह कहती है -

"वे तलवार की धार हैं, अग्नि की भयानक
ज्वाला हैं और वीरता के वरेण्य दूत हैं । मुझे
विश्वास है कि सम्मुख युद्ध में शक भी उनके
प्रचण्ड आघातों को रोकने में असमर्थ है ।"

वह अपने पति के महान हृदय को केवल विलास की मदिरा पिलाकर मोह लेना

ही अपना कर्तव्य नहीं मानती । पति के वध का गुप्त षड्यन्त्र सुनकर भी वह विचलित नहीं होती है । वह कहती है -

> "सेनापति का राजभक्त कुटुम्ब कभी विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा, जब तक स्वयम् राजा राष्ट्र का द्रोही न प्रमाणित हो जाय ।"

हत्यारे विरूद्धक की वह प्राण-रक्षा करती है । प्रतिहिंसा की बलवती बर्बरता से विक्षुब्ध कारायणा उसके प्रति ठीक ही कहता है -

> "आप देवी हैं । सौरमण्डल से भिन्न जो केवल कल्पना के आधार पर स्थिर है, उस उच्च जगत की बातें सोच सकती हैं ।"

प्रसाद जी की मल्लिका सदैव दिव्यता और आदर्शनिष्ठा के कारण अविस्मरणीय रहेगी ।

रूपगर्विता मागन्धी एक महत्वाकांक्षी नारी है । उसने अपना चरित्र स्वयं अपने मुँह से संवाद में कहा है -

> "वाह री नियति ! कैसे-कैसे दृश्य देखने में आये - कभी बैलों को चारा देते-देते हाथ नहीं थकते थे, कभी अपने हाथ से जल का पात्र तक उठाकर पीने में संकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर चलने में रोकता था और कभी निर्लज्ज गणिका का आमोद मनोनीत हुआ - अपनी

> परिस्थिति को संयत न रखकर व्यर्थ महत्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया । काल्पनिक सुख-लिप्सा में पड़ी, उसी का परिणाम है । स्त्रीसुलभ स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गए ।"

इसके अलावा एक दृश्य में - यौवन-काल में बुद्ध से तिरस्कृत होकर वह आजीवन वात्याचक्र में भटकती रही, अन्त में उसे बुद्ध के चरणों में ही शान्ति मिली । वह कहती है -

> "अन्त में मेरी विजय हुई नाथ ! मैंने अपने जीवन के प्रथम वेग में ही आपको पाने प्रयास किया था किन्तु वह समय ठीक भी नहीं था । आज मैं अपने स्वामी को, अपने नाथ को, अपनाकर धन्य हो रही हूं ।"

इससे व्यक्ति-वैचित्र्य के चित्रण का मोह और कल्पना की उर्वराशक्ति का उदाहरण मिलता है ।

अजातशत्रु के कथोपकथन सोद्देश्य हैं । उनमें कहीं-कहीं विस्तार एवं दार्शनिकता दिखाई देती है । मनोभावों को प्रदर्शित करने में उनको अत्युत्तम सफलता मिली है, उदाहरण के लिए -

> प्रसेनजित - नहीं - मैंने अपराध किया है । सेनापति बन्धुक के प्रति मेरा हृदय शुद्ध नहीं था - इसलिए उनकी हत्या का पाप मुझे भी लगता है ।

मल्लिका - यह अब छिपा नहीं है महाराज ! प्रजा क साथ आप इतना छल, इतनी प्रवंचना और कपट-व्यवहार रखते हैं ! धन्य हैं ।

प्रसेनजित - मुझे धिक्कार दो - मुझे शाप दो - मल्लिका ! तुम्हारे मुखमण्डल पर तो ईर्ष्या और प्रतिहिंसा का चिह्न भी नहीं है । जो तुम्हारी इच्छा हो वह कहो, मैं उसे पूर्ण करूंगा ।

मल्लिका - (हाथ जोड़कर) कुछ नहीं महाराज ! आज्ञा दीजिए कि आपके राज्य से निर्विघ्न चली जाऊं या किसी शान्तिपूर्वक स्थान में रहूं । ईर्ष्या से आपका हृदय प्रलय के मध्याह्न का सूर्य हो रहा है, उसकी भीषणता से बचकर किसी छाया में विश्राम करूं और कुछ भी मैं नहीं चाहती ।"

उपर्युक्त कथोपकथनों में प्रसेनजित में विस्थापन कार्य पद्धति और मल्लिका में प्रबल नैतिकाहं उद्भूत हुआ है । अजातशत्रु में काव्यात्मकता और अलंकारों की भरमार होने के कारण संवादों की भाषा में कहीं-कहीं जटिलता आई है । संवाद-सृष्टि की दृष्टि से प्रौढ़तर प्रयोग अजातशत्रु से ही आरंभ होता है और यहीं से संवाद की भाषा में प्रगीतात्मक तत्त्व समाविष्ट होने लगता है । इसके संवाद पात्रों के चरित्र को गति देने वाले हैं । लेकिन छायावादी काव्यात्मक भाषा, नाटक की रंगमंचीय आवश्यकता के लिए अव्यावहारिक हो गयी है । इस सन्दर्भ में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत द्रष्टव्य है -

> "शैली और वस्तु दोनों में प्रसाद जी के नाटकों में काव्यत्व दृष्टिगोचर होता है । उनकी शैली काव्यात्मक और पात्रों द्वारा कथित संवादों में भी काव्य की प्रमुखता है । उनमें काव्य-भावना

---

1. अजातशत्रु, पृ.-81 ।

> की विशेषता है ...... प्रसाद ने अपने नाटकों को यथार्थवादी भूमि पर नहीं रखा ।"

प्रसाद नाट्यकला के जिस रूप की खोज में अब तक चिन्तन कर रहे थे वह 'अजातशत्रु' में उन्हें प्राप्त हो गया, क्योंकि उनके परवर्ती नाटक इसी शैली पर विरचित हैं ।

4. कामना (सन् 1927)

'कामना' नाटक प्रसाद जी ने प्रतीक योजना के सहारे लिखा है । इसमें मानव-समाज की आदिम प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है । इसका प्रकाशन 'जनमेजय का नागयज्ञ' के बाद हुआ । इस नाटक में प्रसाद ने मनोविकारों का मानवीकरण किया है ।

इस नाटक की कथा फूलों के द्वीप से विकसित हुई है । समुद्र तट पर बैठी कामना अपने मनोगत में कह रही है -

> "विशाल जलराशि के शीतल अंक से लिपटकर आया हुआ पवन इस द्वीप के निवासियों को कोई दूसरा संदेश नहीं, केवल शान्ति का निरन्तर संगीत सुनाया करता है । सन्तोष ! हृदय समीप होने पर भी दूर है, सुन्दर है, केवल आलस के विश्राम का स्वप्न दिखाता है । परन्तु अकर्मण्य संतोष से मेरी पटेगी ? नहीं ! इस समुद्र में इतना हाहाकार क्यों है ?"[1]

---

1. जयशंकर प्रसाद, कामना, पृ.-7 ।

अर्थात् कामना में यौवनजन्य उद्याम वासना तथा कुछ प्राप्त करने की असीम चाह है । उसके अन्तर्मन में द्वन्द्व चल रहा है । वह लीला से भी कहती है -

"मेरा कुछ नहीं है, तू जा मैं चूप रहना चाहती हूं, मेरा हृदय रिक्त है । मैं अपूर्ण हूं ।" 1

विलास के प्रभावशाली व्यक्तित्व को देखकर वह उसपर अनुरक्त हो जाती है । उससे वह कहती है -

"हम लोग बड़ी दूर से आए हैं । जब विलोड़ित जलराशि स्थिर होने पर यह द्वीप ऊपर आया, उसी समय हम लोग शीतल तारिकाओं की किरणों की डोरी के सहारे नीचे उतरा गये । इस द्वीप में अब तक तारा की सन्तानें बसती हैं ।" 2

सब सुनकर विलास विस्मित हो जाता है । सुरीले पक्षी के शब्द सुनकर कामना विलास से कहती है -

"पिता का सन्देश सुन रही थी । मैं उपासना-गृह में जाती हूं, क्योंकि कोई नवीन घटना होने वाली है । तुम चाहे ठहरकर आना ।"3

यहां नाटककार ने रहस्यात्मक भाव का प्रस्फुटीकरण किया है जिसमें विशिष्ट

---

1. जयशंकर प्रसाद, कामना, पृ.-15 ।
2. जयशंकर प्रसाद, कामना, पृ.-16 ।

तरह की मानसिक अवस्था दृष्टिगोचर हुई है । विलियम जेम्स के अनुसार

> "नई आदत बनाने के लिए यथासंभव शक्तिशाली
> प्रेरणा-शक्ति से कार्य आरंभ होना चाहिए ।"

इस तत्त्व के आधार पर कामना को द्वीप की रानी बनाता है । लेकिन उससे विवाह नहीं करना चाहता । वह उससे कहता है -

> "अब तो तुम इस द्वीप की रानी हो । रानी को
> क्या व्याह करके किसी बन्धन में
> पड़ना चाहिए ।"

विलास की स्त्री लालसा एक सैनिक के साथ यह कहते हुए चल पड़ती है -

> "तुम्हारे सदृश पुरूष के साथ चलने में किस
> सुन्दरी को शंका होगी ।"

विलास स्त्री की दुर्वासना का समाचार सुनकर उसके वध करने को उत्सुक होता हुआ कहता है -

> "ओह ! अविश्वासिनी स्त्री, तूने मेरे पद की
> मर्यादा, वीरता का गौरव और ज्ञान की गरिमा
> सब डुबा दी । जी चाहता है इस अतृप्त हृदय
> में छुरा डालकर नचा दूं ।"

शान्तिदेवी की मृत्यु के उपरान्त चोरी, हत्या जैसे अपराध दिन-दहाड़े हो रहे हैं । कई दुर्वृत्त मद्यप करूणा का पीछा करते हैं । इस सन्दर्भ में विवेक संतोष से कहता है -

> "इस देश के बच्चे दुर्बल, चिन्ताग्रस्त और झुके हुए दिखाई देते हैं । स्त्रियों के नेत्रों में विह्वलता सहित और भी कैसे-कैसे कृत्रिम भावों का समावेश हो गया है । व्यभिचार ने लज्जा का प्रचार कर दिया है । .... सोने का ढेर छल और प्रवंचना से एकत्रित करके थोड़े-से ऐश्वर्यशाली मनुष्य द्वीपभर को दास बनाये हुए हैं और आशा में, कल स्वयं **भी** ऐश्वर्यवान होने की अभिलाषा में, बचे हुए सीधे-सरल व्यक्ति भी पतित होते जा रहे हैं ।" [1]

फूलों के देश की दुर्दशा ! और क्या ? इसका विवरण करते हुए सन्तोष करूणा से कहता है -

> "पतझड़ हो रहा है, पवन ने चौंका देनेवाली गति पकड़ ली है - इसे वसन्त कहते हैं - मालूम होता है कि कर्कश और शीर्ण पत्रों के बीच चलने में उसकी असुविधा का ध्यान करके प्रकृति ने कोमल पल्लवों का सृजन करने का शुभारम्भ कर दिया है । विरल डालों में कहीं-कहीं दो फूल और कहीं हरे अंकुर झूलने लगे हैं - गोधूलि में खेतों के बीच का पगडंडियां निर्जन होने पर भी मनोहर हैं - दूर-दूर रहट चलने का शब्द कम और कृषकों का गाना विशेष हो चला है । इसी वातावरण

---

1. कामना, पृ.-44 ।

में हमारा देश बड़ा रमणीय था, परन्तु अब क्या हो रहा है, कौन कह सकता है । सब सुख स्वर्ण के अधीन हो गए । हृदय का सुख खो गया ।पतझड़ हो रहा है ।"[1]

अर्थात् देश की मृतप्राय अवस्था हो गयी है । विलास का लालसा के साथ परिणय होता है । कामना त्रस्त एवं अपने दुखी राज्य से व्याकुल हो जाती है । पिता का कथन ध्यान से सुनती है -

"मनुष्यता की रक्षा के लिए, पाशवी वृत्तियों का दमन करने के लिए राज्य की अवतारणा हो गई, परन्तु उसकी आड़ में दुर्दमनीय नवीन अपराधों की सृष्टि हुई । इसका उद्‌देश्य तब सफल होगा जब कामना अपना दायित्व कम करेगी, जनता को, व्यक्ति को, आत्मसंयम, आत्मशासन सिखाकर विश्राम लेगी ।"

कामना की अतृप्त एवं दमित कुण्ठाएं उसे अस्वस्थ कर रही हैं । वह अपने आत्मनिवेदन में कहती है -

"प्रकृति शान्त है, हृदय चंचल है । आज चाँदनी का समुद्र बिछा हुआ है । मन मछली के समान तैर रहा है, उसकी प्यास नहीं बुझती । अनन्त नक्षत्रलोक से मधुर वंशी की झनकार निकल रही है, परन्तु कोई गाने वाला नहीं है । किसी का स्वर नहीं मिलता । दासी ! प्यास ।"[2]

---

1. कामना, पृ.-56 ।
2. कामना, पृ.-67 ।

उसका यौन सबंधी द्वन्द्व उसे उद्विग्न कर रहा है । वह अपने मनोगत में कहती है -

> "दारूण ज्वाला, अतृप्त का भयानक अभिशाप मेरे जीवन का संगी कौन है ? मैं लालसा हूं, जन्मभर जिससे सन्तोष नहीं हुआ । नगर से आ रही हूं । प्रमदा के स्वतंत्रता-भवन के आनन्द-विहार से भी जी नहीं भरा, कोई किसी को रोक नहीं सकता और न तो बिहार की धारा मे लौटने की बाधा है । उच्छृंखल उन्मत्त विलास-मदिरा की विस्मृति । बिहार की शान्ति फिर भी लालसा !" [1]

इस पूरे नाटक पर आचरणवाद का गहरा असर दिखाई देता है । इस नाट्यकृति में उद्दीपक प्रतिक्रिया, प्रतिक्षेप-शृंखला, आदत, चेष्टा आदि के द्वारा मनुष्य का प्रकट एवं अप्रकट शारीरिक आचरण स्पष्ट हो गया है । हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक डॉ. नगेन्द्र ने बताया है कि 'कामना' का रूपक सांगोपांग है । उनके कथनानुसार -

> "मनुष्य की कामना की परितृप्ति विलास द्वारा नहीं, सन्तोष द्वारा ही सम्भव है । .... मनुष्य की लालसा ही विलास से थोड़ी देर के लिए तृप्त हो सकती है - पर विलास और लालसा के वशीभूत होकर मनुष्य अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है और इस प्रकार दु:ख का आरंभ होता है । ....लीला से ही मनुष्य पहले धन की ओर आकृष्ट होता है । लीला

---

1. कामना, पृ.-74-75 ।

> और विनोद विलास के अंक हैं - उनसे उनकी परिवृद्धि होती है, विवेक और सन्तोष से ह्रास । विवेक का बार-बार आकार रंग में भंग करने का प्रयत्न इस वृत्ति की ओर इंगित करता है कि हमारा विवेक हमारे विनाशरत जीवन में भी किस प्रकार बार-बार चेतावनी देता रहता है । .....हमारी आज की संस्कृति-सभ्यता की नींव, दम्भ, दुर्वृत्ति और क्रुरता पर आधारित है, शान्ति नष्ट-भ्रष्ट हो गयी है, करूणा निराश्रित....विलास और लालसा से मुक्त हो जाने पर ही मानवता को प्रकृत सुख और शान्ति मिलेगी ।"[1]

इस प्रकार फूलों के द्वीप से विलास की नई सभ्यता भाग जाती है और द्वीपवासी विवेक के कथनानुसार कृत्रिमता से नैसर्गिकता की ओर मुड़ जाते हैं । 'कामना' नाटक का नायक विलास है जो कि नारी के संबध में महत्वाकांक्षी है । कामना के संबंध में वह कहता है -

> "गर्वपूर्ण और सरल हृदय की स्त्री है । रंगीन तो है पर निरीह इन्द्र-धनुष के समान उदित होकर विलीन होनेवाली है । तेज तो है पर वेदी को धधकाने से जलने वाली ज्वाला है । मैं उसको अपना हृदय समर्पण नहीं कर सकता ।"

किन्तु लालसा के वासना भरे चंचल नेत्रों के सामने समर्पित हो जाता है -

---

1. डॉ. नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ.-55-56 ।

> "मेरी जीवन यात्रा में इसी बात का सुख था कि मुझ पर किसी स्त्री ने विजय नहीं पायी, परन्तु यह झूठ गर्व था ।"

विवेक कर्तव्यनिष्ठ है लेकिन पराक्रमी होते हुए भी अति मदिरा-सेवन-प्रेमी है । न्याय के लिए प्रयत्नशील रहने के कारण अनाचार से वह सन्त्रस्त हो जाता है । वह चिल्लाता है -

> "व्यभिचार ने तुम्हें स्त्री-सौन्दर्य का कलुषित चित्र दिखलाया है और मदिरा उसपर रंग चढ़ाती है । क्यों क्या यह सौन्दर्य पहले कहीं छिपा था जो अब तुम लोग इतने लोलुप हो गए ।"

वह विरोध करना बन्द नहीं करता, वह कहता है -

> "दूसरे की रक्षा में, पाप के विरोध और परोपकार करने में, प्राण तक दे देने का साहस किस भाग्यवान को होता है ।"

और, अन्त में, विवेक की ही जीत होती है । इस नाटक के अन्य पात्रों का भी व्यक्तित्व संवादों द्वारा उभरकर सामने आता है ।

इस नाटक के पात्रों के कथोपकथनों की भाषा में, उनके भावों में नैसर्गिक उत्कर्ष दिखाई देते हैं । संवादों में स्वाभाविकता एवं मनोवैज्ञानिकता का सहज सुन्दर आविष्कार हुआ है, जैसे -

कामना - और, देखते हुए भी आंखें बन्द थीं ।

संतोष - मेरे पास कौन सम्बल था कामना रानी ।

कामना - ओह ! मेरा भ्रम था !

संतोष - क्या तुम्हें दुःख है कामना ?

कामना - मेरे दुखों को पूछकर और दुःखी न बनाओ ।

संतोष - नहीं कामना, क्षमा करो । तुम्हारे कपोलों के ऊपर और भौंहों के नीचे एक श्याम मंडल है, नीरव रोदन हृदय में और गम्भीरता ललाट में खेल रही है ! और भी एक लज्जा नाम की नयी वस्तु पलकों के परदे में छिपी है । जो कुछ ऐसी मर्म की बातें जानती है, जिन्हें हम लोग पहले नहीं जानते थे ।"

वातावरण भी आकर्षक, भावात्मक और कवित्वमय है । गीतों का बाहुल्य वातावरण को कोमल और हल्का बनाता है । नाट्यकृति में मन का अन्तर्द्वन्द्व एवं आचरणवाद का यथार्थ निरूपण हुआ है । गुलाबराय ने लिखा है -

> " 'कामना' में विचार-गम्भीरता है, सफल चरित्र-चित्रण है । भाषा में माधुर्य और कल्पना में कोमलता है । कामना का स्थान प्रसाद-साहित्य में और भी ऊंचा होना चाहिए ।" - प्रसाद की कला, पृ.-181 ।

डॉ. दशरथ ओझा ने इस सन्दर्भ में लिखा है -

> "हमारा मत है कि इसमें संगीत है, विचार-गम्भीरता है । भाषा में माधुर्य है,

---

1. कामना, पृ.-69 ।

> किन्तु सफल चरित्र-चित्रण नहीं है । प्रतीक नाटकों में मानवीय चरित्र का चित्रण पूर्ण सफलता के साथ कैसे दिखलाया जा सकता है ।"
>
> -हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास,पृ.-346

5. जनमेजय का नागयज्ञ (वि.सं. 1983)

प्रसाद जी का यह नाटक पौराणिक है । इसका कथानक महाभारत से लिया गया है । जनमजय के सर्पयज्ञ के साथ-साथ तक्षशिला-विजय और नागजाति के संहार का भी उल्लेख है । ब्राह्मण क्षत्रियों के पारस्परिक संघर्ष का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है ।

इस नाटक के कथानक का आरंभ यादवी सरमा और वासुकि की बहन मनसा के सम्वाद-विवाद से होता है । सरमा कहती है -

> "जब मैंने प्रभात के विप्लव के बाद अर्जुन के साथ आते हुए नागराज वासुकि को आत्म-समर्पण किया था, तब भी इस साहसी और वीर जाति पर मेरी श्रद्धा थी ।"

इसी दृश्य में श्रीकृष्ण एवं अर्जुन का संवाद है जिसमें भारतीय दर्शन की एक झांकी दृष्टिगोचर हुई है । श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं -

> "किन्तु देखो जिन्हें हम जड़ कहते हैं, वे सब

> किसी विशेष मात्रा में मिलते हैं, तब उनमें एक शक्ति उत्पन्न होती है, स्पन्दन होता है, जिसे जड़ता नहीं कह सकते । वास्तव में सर्वज्ञ शुद्ध चेतन है जड़ता कहां ? यह तो एक भ्रमात्मक कल्पना है ।"[1]

इसके उपरांत उत्तंक तथा वेदपत्नी दामिनी का प्रसंग आता है । दामिनी उच्छृंखल एवं कामुक स्त्री है । वह उत्तंक से कहती है -

> "और जो फूल ऋतु में विकसित हो, उसे अपनी तृप्ति के लिए तोड़ लेना चाहिए, नहीं तो वह कुम्हला जाएगा, व्यर्थ जाएगा । इसलिए उसका उपयोग कर लेना चाहिए । क्यों, यही बात है न ? ..... नहीं उत्तंक, भला मैं तुमसे रूष्ट हो सकती हूं ? वाह यह भी अच्छी कही । अच्छा लो, तुम इन्हीं फूलों की एक माला बनाओ, और, तब मैं कुछ गाऊं ।"[2]

यहां दामिनी की वृत्ति में समस्त कामातुर स्त्री-पुरूषों में पायी जाने वाली वात्स्यायन कृत परकीया रति भावना दिखाई देती है । सरमा नागकुल को छोड़कर अपने पुत्र माणवक के साथ आर्य कुल में आती है । वह माणवक से कहती है -

> "बेटा तुम इस अभागिनी की ओर भी भर्त्सना करोगे ? क्षमा करो लाल, मैं इन्हें अपना संबंधी समझकर इनका आश्रय लेने चली आयी थी । तुम मेरी अग्नि-परीक्षा न करो । जिसकी रसना

---

1. जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, पृ.-12 ।
2. जनमेजय का नागयज्ञ, पृ.-19 ।

> की तृप्ति के लिए अनेक प्रकार के भोजनों की भरमार होती है, पेट की ज्वाला नहीं समझते । मैंने न्याय की प्रार्थना की, तो उन्होंने एक अपमान और जोड़ दिया । मैंने नाग-परिणय किया था । यह भी मुझ पर एक अपराध लगा ।"[1]

यहां सरमा के चेतन-अवचेतन मन का द्वन्द्व प्रस्फुटित हुआ है । प्रथम अंक के अन्तिम दृश्य में ऋषि जरत्कारू की हत्या जनमेजय द्वारा मृग के धोखे में हो जाती है ।

जरत्कारू का पुत्र आस्तीक तथा तक्षक की पुत्री मणिमाला में दार्शनिक शब्दावली में वार्तालाप चल रहा है । जनमेजय मणिमाला के सौन्दर्य पर मुग्ध होता है, वह कहता है -

> "तुम्हारे इस सरल मुख पर तो शत्रुता का कोई चिह्न नहीं देखा । ऐसा पवित्र सौन्दर्यपूर्ण मुखमणडल तो मैंने कहीं नहीं देखा ।"[2]

नाटक के अन्तिम अंश में इस प्रणय-व्यापार की सुखद परिणति होती है । दूसरे अंक के तीसरे दृश्य में उत्तंक जनमेजय को दुर्वृत्त नागों का दमन करने के लिए अश्वमेघ के स्थान पर नागयज्ञ करने को प्रेरित करता है । नायक जनमेजय के पिता परीक्षित की हत्या नागों ने की थी । इसी परंपरागत द्वेषाग्नि को शान्त करने के लिए नाग-विध्वंश हेतु कृतसंकल्प होकर वे कहते हैं -

> "अश्वमेघ पीछे होगा, पहले नागयज्ञ करूंगा ।"

---

1. जनमेजय का नागयज्ञ, पृ.-30 ।
2. जनमेजय का नागयज्ञ, पृ.-45 ।

नागराज तक्षक भी अपने मनोभावों को इस कथन में व्यक्त करता है -

> "प्रतिहिंसे ! तू बलि चाहती है तो ले, मैं दूंगा । छल, प्रवंचना, कपट, अत्याचार सब तेरे सहायक होंगे । हाहाकार, क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियां बनेंगी ।"

आर्य और नागजाति के परंपरागत इस संघर्ष को निर्मूल करने के लिए प्रसाद ने उदारचेता आस्तीक, सरमा और मणिमाला आदि पात्रों की सृष्टि की । नागकन्या और आर्यऋषि का पुत्र आस्तीक के जीवन का उद्देश्य निर्मल बुद्धि द्वारा आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक मनोमालिन्य का उन्मूलन करना । वह एक स्थान पर कहता है -

> "किन्तु भाई, हमलोगों का कुछ कर्तव्य भी है। दो भयंकर जातियां क्रोध से फुफकार रही हैं । उनमें शान्ति स्थापित करने का हमने बीड़ा उठाया है ।"

जनमेजय का आस्तीक व्यक्तित्व से प्रभावित होने पर आस्तीक आत्मसुख की कोई वस्तु नहीं चाहता बल्कि कलहशील दो जातियों में शान्ति स्थापित करने के लिए कहता है -

> "मुझे दो जातियों में शान्ति चाहिए । सम्राट, शान्ति की घोषणा करके बन्दी नागराज को छोड़ दीजिए, यही मेरे लिए यथेष्ट प्रतिफल है ।"

वेदव्यास तथा जनमेजय के वार्तालाप से नियति और पाप की दार्शनिक व्याख्या स्पष्ट हो जाती है । यज्ञशाला से मूर्च्छित जनमेजय की पत्नी वपुष्टमा को छिपा देने की

वार्ता सुनकर वह क्रोधित हो जाता है । वह ब्राह्मण तथा सोमश्रवा के सम्मुख कहता है -

> "तुम लोगों को इसका प्रतिफल भोगना होगा । यह छात्र-रक्त उबल रहा है । उपयुक्त दण्ड तो यही है कि तुम सबको इसी यज्ञकुण्ड में जला दूं । किन्तु नहीं, मैं तुमलोगों को दूसरा दण्ड देता हूं । जाओ, तुम लोग मेरा देश छोड़कर चले जाओ । आज से कोई क्षत्रिय अश्वमेघ आदि यज्ञ नहीं करेगा । तुम सरीखे पुरोहितों की अब इस देश में आवश्यकता नहीं । जाओ, तुम सब निर्वासित हो ।" [1]

यहां जनमेजय में श्वंसात्मकता की भावना का निर्माण हुआ है । आस्तीक के सदृश्य ही नागकुलोत्पन्न वासुकी और नागपत्नी सरमा में भी विश्वमैत्री की भावना है । वे दोनों शत्रु का- अपकार से नहीं बल्कि उपकार के द्वारा हृदय परिवर्तित करने में संलग्न हैं । सरमा कहती हैं -

> "धर्म का ढोंग करके एक निर्दोष आर्य सम्राट को अपने चंगुल में फंसाकर उसके पतित होने की व्यवस्था देना, जिसमें वह राज्यच्युत कर दिया जाय, क्या उचित है ?"

नाटक के अन्त में जनमेजय पर मैक्डूगल के मन ऊर्जा सिद्धान्त की झांकी दिखाई देती है । मन ऊर्जा का तात्पर्य है - व्यवहार की सोद्देश्यता, जो जिन्दा रखने की दिशा में प्रकट होती है क्योंकि सम्राट कहता है -

> "नागकुमारी की प्रजा होना भी अच्छा समझता हूं ।

---

1. जनमेजय का नागयज्ञ, पृ.-91 ।

इस तरह इसमें दो जातियों में होने वाले संघर्ष पर परदा गिरता है ।

जनमेजय के चरित्र में साहस और दृढ़ता है । उसके पिता की नागों द्वारा हत्या हो जाने पर यादवी सरमा की न्यायोचित पुकार को अनसुनी कर देता है -

> "दस्यु महिला के लिए कोई आर्य, न्यायाधिकरण में नहीं बुलाया जाएगा, पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यों पर अपराध लगाने का कोई अधिकार नहीं है ।"

उत्तंक के भड़काने पर भी वह प्रतिश्रुत हो जाता है -

> "पौरव जनमेजय प्रतिज्ञा करता है कि अश्वमेघ पीछे होगा, पहले नागयज्ञ होगा ।"

सरमा में भी जातीय अभिमान की भावना प्रबल है । उसमें निर्भीकता और स्वावलम्बन की भावना है । इसलिए उसने अपना श्वसुर-गृह छोड़ दिया । वह कहती है -

> "मनसा मैं व्यंग्य सुनने नहीं आयी हूं यह समझ रखना कि कुकुरवंश के यादवों की कन्या सरमा किसी के सिर का बोझ और अकर्मण्यता की मूर्ति होकर नहीं आयी है । इस वक्षस्थल में अबलाओं का रुदन नहीं भरा है ।"

पति के अधिकार बताने पर वह कहती है -

> "आपका और सब अधिकार है पर मेरी सहज स्वतंत्रता का अपहरण करने का नहीं .... इसका अर्थ यही है कि मैं आपके साथ चलूंगी पर अपमानित होने के लिए नहीं "

वह कभी भारतीय नारी के आदर्श से च्युत नहीं होती । पति को संकट में पड़ा हुआ देखकार वह कहती है -

> "देवता, तुम कष्ट में हो, यह सुनकर भला मैं कैसे रह सकती हूं । मेरा अश्रुजल समुद्र बनकर तुम्हारे और शत्रु के बीच गर्जन करेगा, मेरी शुभकामना तुम्हारा वर्म बनकर तुम्हें सुरक्षित रखेगी । तुम्हारे लिए अपमानित सरमा राजकुल में दासी बनेगी ।"

सरमा में मानवता है । सारे जीवन यन्त्रणा, अपमान और दुख भोगकर भी वह लोक-कल्याण में रत रही ।

नागों का राजा तक्षक, स्वतंत्रता का रण-कुशल व्यक्ति है । तक्षक को आर्य जाति से द्वेष है । वह धर्मभीरू नहीं बल्कि दृढ़ व्यक्तित्व का ओजस्वी पुरूष है । वह कहता है -

> "मैं अपने शत्रुओं को सुखासन पर बैठे, साम्राज्य के खेल खेलते देखता हूं और स्वयं दस्युओं के समान अपनी ही धरती पर पग रखते हुए कांप रहा हूं । प्रलय की ज्वाला इस छाती में धधक उठती है ।"

तक्षक ने सदैव अपने ढंग से जीवन को जिया और भोगा । ब्रह्मचारी उत्तंक, वेद का शिष्य है । वह आश्रम में रहकर स्वाध्याय और चरित्र की शिक्षा ग्रहण करता है । उसे अपने ब्रह्मतेज का विश्वास है -

> "यदि मेरा ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय सत्य होगा
> तो तेरा कुत्सित हाथ चल ही न सकेगा ।

> हत्याकारी दस्यु को यह अधिकार ही नहीं कि
> वह ब्रह्मतेज पर हाथ चला सके ।"

उसके कथनों में विनाश की चिनगारी है -

> "जब तक मेरी क्रोधाग्नि में दुर्वृत्त नाग जलकर
> भस्म न होंगे, तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी ।
> बल भद से मस्त चाहे कोई शक्ति हो, ब्राह्मण
> की अवज्ञा करके उसका फल अवश्य
> भोगेगा ।"

जनमेजय के संवादों में भाषा पात्रानुसार स्वरूप परिवर्तन करती चलती है । इस नाटक के कथोपकथन कुछ स्थल पर बहुत विस्मृत एवं उकसाने वाले हो गए हैं । श्रीकृष्ण तथा वेदव्यास के वार्तालाप में दार्शनिकता दिखाई देती है । निम्नलिखित कथोपकथन मनोविज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है

दामिनी - कौन उत्तंक ! तुम आ गए ?
उत्तंक - हां देवि, मणिकुण्डल भी प्रस्तुत है ।
दामिनी - उत्तंक ! मुझे अपने हाथों से पहना दो ।
उत्तंक - देवि, क्षमा हो, मुझे पहनाना नहीं आता ।
दामिनी - उत्तंक ! तुम छूने से हिचकते क्यों हो ?
उत्तंक - नहीं देवि, मुझे गुरूऋण से मुक्त करें, मैं जाऊं ।
दामिनी - तो चले ही जाओगे ? आज मैं स्पष्ट कहना चाहती हूं कि .... ।
उत्तंक - चुप रहो देवि ! यदि ईश्वर का डर न हो तो संसार से तो डरो । पृथ्वी के गर्भ में असंख्य ज्वालामुखी है, कदाचित् उनका विस्फोट ऐसे ही अवसरों पर हुआ होगा । तुम गुरूपत्नी हो, मेरी

माता तुल्य हो ।"

उपर्युक्त संवादों में दामिनी की अतृप्त कामवासना उमड़ पड़ी है, परन्तु उत्तंक के नैतिकाहं के सम्मुख उसकी हार हो जाती है । नारी-स्वतंत्रता का समर्थन भी नाटक में युग का ही प्रभाव है । पाशाचात्य वेशभूषा में रमी हुई महिलाओं पर भी इसमें व्यंग्य है -

"पवित्र हृदय को इसकी क्या आवश्यकता है ?
बनावटी बातें क्षणिक होती हैं, किन्तु जो सत्य
है, वह स्थायी है, बहन दामिनी, मेरी समझ में
तो स्त्रियां शृंगार का ढोंग करके अपनी
स्वाभाविक स्वतंत्रता भी खो बैठती है ।"

इस नाटक में प्रसाद बार-बार किसी अदृष्ट शक्ति की ओर संकेत करते चलते हैं । साधारण पात्रों की कौन कहे, ब्राह्मण के नेता शौनक और महात्मा वेदव्यास भी मनुष्य को अदृष्ट शक्ति का दास मानते हैं । सुना जाता है कि अदृष्ट शक्ति में प्रसाद जी की अटल आस्था थी, कुछ उदाहरण -

1. शौनक - अदृष्ट की लिपि ही सब कुछ कराती है ।
- जनमेजय का नागयज्ञ, पृ.-43 ।

2. शौनक - मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है ।
- पृ.-44 ।

3. जनमेजय - सचमुच मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का नियति का दास है ।
- पृ.44 ।

4. जनमेजय - (स्वगत) मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर या **नियति का दास, उसकी क्रीड़ा का उपकरण है ?**
- पृ.-47 ।

5. वेदव्यास - दम्भ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृश्य शक्ति का क्रीड़ा-कन्दुक है । अन्य नियति कर्तव्य मद से मत्त मनुष्यों की कर्मशक्ति को अनुचर बनाकर अपना कार्य

कराती है ।

- पृ. -73 ।

6. वेदव्यास - नियति, केवल नियति, जनमेजय और कुछ नहीं ।

- पृ. -75 ।

7. वेदव्यास - अदृष्ट शक्ति ने तुम्हारे लिए भी एक बड़ा भारी कार्य कर छोड़ा है ।

- पृ. -78 ।

8. उत्तंक - नियति का क्रीड़ा-कन्दुक नीचा-ऊंचा होता हुआ अपने स्थान पर पहुंच ही जाएगा ।

- पृ. -82 ।

9. व्यास - देखा नियति का चक्र ? यह ब्रह्मचर्य आप ही अपना कार्य करता रहता है ।

- पृ. -108 ।

इस नाटक में प्रसाद जी ने दृश्य के अन्तर्गत दृश्य की योजना की है जो कला की दृष्टि से अस्वाभाविक है । "मनसा मन्त्र पढ़कर रात्रि के तमिस्त्र पटल पर खाण्डव वम प्रत्यक्ष दिखा देती है ।"[1] प्रसाद इस नाटक में जिस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, उसका निरूपण भरतवाक्य में इस प्रकार किया गया है -

"पूर्णानुभव कराता है जो 'अहमिति' से निज सत्ता का ।
तू मैं ही हूं, इस चेतन का प्रणव मध्य गुंजार किया ।"[2]

प्रसाद जी जीवन की समस्याओं को यहां एक नए दृष्टिकोण से देखना प्रारंभ करते हें । श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद इसी कारण नाटक में प्रविष्ट कराया गया है । कृष्ण सर्वव्यापिनी चैतन्य शक्ति का ज्ञान कराते हुए कहते हैं -

"उस चेतन के अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं

---

1. जनमेजय का नागयज्ञ, पृ. -108 । 2. जनमेजय का नागयज्ञ, पृ. -109 ।

> जाती । वही एक अद्वैत है । यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में चेतन प्रकाशित होता है । अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है । असत्य का भ्रम दूर करना होगा, मानवता की घोषणा करनी होगी ।"

कठिनाइयों का सामना करने के लिए कर्मशील बनने का उपदेश देते हुए कहते हैं -

> "विश्वमात्र को एक रूप में देखने से यह सब सरल हो जाता है । तुम इसे धर्म और भगवान का कार्य समझकर करो, तुम मुक्त हो । दुर्वृत्त प्राणियों का हटाया जाना ही अच्छे विचारों की रक्षा करना है ।"[1]

'जनमेजय का नागयज्ञ' में युगीन अभिव्यक्ति के अनुसार परतंत्र भारत की युगीन परिस्थितियों का चित्रण पर्याप्त मात्रा में है । इस नाटक में प्रसाद जी आर्य जाति की विजय और विश्वात्मा के जय-जयकार का सामंजस्य करना अभिष्ट है । यदि एक स्थान पर जनमेजय की दिग्दिगन्तर विजयिनी सेना जयघोष करती है -

> "जय आर्य भूमि की, आर्य जाति की जय हो ।
> अरिगण को भय हो, विजयी जनमेजय जय हो ।"[2]

तो दूसरे स्थान पर विश्व-नियन्ता के गुणगान का सन्देश इस प्रकार सुनाई पड़ता है -

> "जय हो उसकी, जिसने अपना विश्वरूप विस्तार किया ।
> आकर्षण का प्रेम नाम से, सबमें सरल प्रचार किया ।"[3]

---

1. जनमेजय का नागयज्ञ, पृ.-14-15 । 2. जनमेजय का नागयज्ञ, पृ.-68 ।
3. जनमेजय का नागयज्ञ, पृ.-109 ।

अर्थात् इस नाटक में भारतीय पद्धति के अनुसार धर्म और संस्कृति का मनोवैज्ञानिक आविष्कार तथा नाट्यकला की दृष्टि से संवादों का प्रयोग हुआ है । पौराणिक कथावस्तु के माध्यम से अपने युग की हलचल को वाणी देकर नाटक संवादों द्वारा व्यक्त कराना प्रसाद जैसे उच्च कोटि के कलाकार का ही काम है । परतंत्र भारत के लोगों के लिए यह बात कितनी उत्तेजक है -

> "नाग मरना जानते हैं । अभी वे पौरूषहीन नहीं हुए हैं । जिस दिन वे मरने से डरने लगेंगे, उसी दिन उनका नाश होगा । जो जाति मरना जानती रहेगी उसी को इस पृथ्वी पर जीने का अधिकार रहेगा ।"

स्वगत भाषणों का प्रयोग बहुत है । सम्वादों मे भावुकता है । कृष्ण द्वारा कथित वाक्य 'वही एक अद्वैत है' बोधगम्य हो जाता है और आर्य-संस्कृति तथा नाग-संस्कृति के समन्वय से भारतीय संस्कृति समृद्ध बन जाती है जो इस नाटक का उद्देश्य था ।

6. एक घूंट (1929 ई.)

प्रसाद का लघुत्तम नाटक यानी एकांकी एक घूंट नाटक है । इसका प्रकाशन काल 1929 ई. है । लेकिन इसको विकासकालीन नाटकों में ही रखा है क्योंकि इसमें वस्तु-शिल्प, चरित्र-चित्रण तथा नाट्य शिल्प की वह गुरूता नहीं मिलती जिससे इसे परवर्ती नाटकों में रखा जा सके । नाटक की कथावस्तु प्रकृति के उपकरणों - बनलता, रसालकुंज और मुकुल के मानवीकरण द्वारा तैयार की गयी है । नाटक का प्रारंभ भी वनलता से होता है और इस नाटक का नायक आनन्द भी स्वच्छन्द प्रेम का उपासक है । उसके अनुसार प्रेम

की स्वतंत्र आत्मा को बन्दीगृह में डालने से उसका स्वास्थ्य, सौन्दर्य और सरलता सब नष्ट हो जाती है । विदूषक चँदला, वनलता का पति रसाल तथा प्रेमलता आनन्द के समर्थक हैं । प्रसाद जी ने उच्छृंखल प्रेम को सामाजिक निर्माण की दिशा में मोड़ा है ।

एक अंक और एक दृश्य के इस नाटक में चरित्रांकन का अधिक अवसर नहीं है किन्तु पात्रों के विचारों को संवादों द्वारा निखारकर रखने में प्रसाद जी सफल हुए हैं । इस नाटक का नायक आनन्द है एवं शैवों के आनन्दवाद का समर्थक है । कोरा आदर्शवादी होने के कारण सभी को एक घूंट पीते-पिलाते चलने का उपदेश देता है । वनलता द्वारा यथार्थ के धरातल पर उतार देने से विवश होकर वह प्रेमलता से विवाह कर लेता है । वनलता गम्भीर प्रकृति की महिला है । वह अपने हृदय की भूख - अपने पति आनन्द के प्रति अनुरक्ति प्रकट करती है -

> "मैं जिसे प्यार करती हूं वही, केवल वही व्यक्ति - मुझे प्यार करे, मेरे हृदय को प्यार करे, मेरे शरीर को - जो मेरे सुन्दर हृदय का आवरण है - सतृष्ण देखे ।"

वनलता आनन्द के भ्रमजाल को तोड़ देती है । वह वैवाहिक जीवन का समर्थन करती है -

> "असंख्य जीवनों की भूल-भूलैया में अपने चिर-परिचित को खोज निकालना और शीतल छाया में बैठकर एक घूंट पीना और पिलाना ।"

यह हिन्दी का प्रथम एकांकी है । इसमें एक ही दृश्य है । संवादों में सजीवता है पर नाटकीयता नहीं है । शैली भी व्यक्तिप्रधान है । यह नाटक कवित्वमय प्राकृतिक वातावरण में लिखा गया एकांकी है ।

प्रसाद ने 'एक घूंट' नाटक की रचना दो उद्देश्यों से की है - पहला - प्रसाद इस नाटक द्वारा 'आनन्दवाद'का समर्थन करना चाहते थे । उनकी दृष्टि में "मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनन्द है तथा विश्व की कामना का मूल रहस्य आनन्द ही है ।" और दूसरा उद्देश्य एक घूंट के पूर्व के नाटकों में चिर कौमार्य या प्रेम व्यापार का ही प्रतिपादन किया था । अत. प्रसाद ने एक घूंट में वैवाहिक जीवन का समर्थन किया है ।

सीमित वातावरण तथा सीमित पात्रों के सहारे इस नाटक की कथावस्तु को चुना गया है । इसमें प्रसाद के जीवन संबंधी विचारमात्र है जो पात्रों के माध्यम से कहलवाये गये हैं । एक ही विषय आद्यन्त रहने के कारण एकरसता है ।

xxxxxxx
(ग)
xxxxxxx

xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx
प्रौढ़-निर्माण या प्रसाद के उत्कर्षकालीन नाटक
xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

प्रसाद की स्वच्छन्दतावादी कला तथा नाट्य-शिल्प का उत्कृष्ट और परिपक्व प्रयोग उत्कर्षकालीन नाटकों - स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी में मिलता है । कला और नाटक विधान की दृष्टि से जयशंकर प्रसाद का 'स्कन्दगुप्त' एक महान कलाकृति है । डॉ. दशरथ ओझा के शब्दों में - " 'स्कन्दगुप्त' में प्रसाद ने पहले-पहले इस तथ्य को अपनाया है कि ऐतिहासिक नाटकों में राजनीतिक घटनाओं के साथ-साथ पारिवारिक घटनाएं भी जीवन पर प्रभाव डालती हैं ।"[1] 'स्कन्दगुप्त' नाटक में 'सामगान की कीड़े लहरा उठें' व्यास जी की अभिलाषा को पूर्ण किया गया है । इस नाटक के तीसरे अंक में हूणों को पराजित करने पर भीमवर्मा कहता है - लौहित्य से सिन्धु तक हिमालय की कन्दराओं में भी स्वच्छन्दतापूर्वक सामगान होने लगा ।'[2] उपर्युक्त उदाहरण से स्वयं व्यास जी ने संकेत किया है - "किन्तु जानते हो, यह मानवता के साथ ही साथ धर्म का भी क्रम-विकास है ।"

1. स्कन्दगुप्त

इस नाटक का प्रारंभ उज्जयिनी में गुप्त साम्राज्य के स्कन्धावार से होता है ।

---

1. डॉ. दशरथ ओझा - हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ.-239
2. स्कन्दगुप्त - जयशंकर प्रसाद, पृ.-105 ।

स्कन्दगुप्त अधिकार सुख के प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट करते हुए कहता है -

> "अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है । अपने को नियामक और कर्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार करती है । उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं ? (ठहरकर) ऊंह ! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं ।"[1]

उसकी इस वृत्ति में हीनता ग्रंथि का आविष्कार हुआ है । मगध सम्राट कुमारगुप्त और अनन्तदेवी के सम्भाषण से कुमारगुप्त की विलासप्रियता विदित होती है । मातृगुप्त में कवि की मनोदशा का हृदयंगम दर्शन होता है । उसकी जिजीविषा देखने लायक है । कुमारदास (धातुसेन) मातृगुप्त से कहता है -

> "काले मेघ क्षितिज में एकत्र हैं, शीघ्र ही अन्धकार होगा । परन्तु आशा का केन्द्र ध्रुवतारा एक युवराज 'स्कन्द' है ।"

मुद्गल और मातृगुप्त के संवाद से यह पता चलता है कि शक और हूणों की सम्मिलित सेना घोर आतंक फैला रही है, चारों ओर विप्लव का साम्राज्य है । गिरोह भारतीयों की घोर दुर्दशा है । जब बन्धुवर्मा की सहायता के लिए स्कन्द जाते हैं तभीं सन्यासी वेश में गोविन्दगुप्त आकर कहता है -

> "स्कन्द ! आकाश के देवता और पृथ्वी की लक्ष्मी तुम्हारी रक्षा करें । आर्य साम्राज्य के तुम्ही एकमात्र भरोसा हो ।"[2]

---

1. स्कन्दगुप्त - जयशंकर प्रसाद, पृ.-9 ।
2. स्कन्दगुप्त, पृ.-40 ।

इससे स्कन्द के नैतिकाहं के प्राबल्य की जानकारी मिलती है । 'स्कन्द' के प्रथम अंक के अन्तिम गतिविधि पर वार्तालाप कर रहे हैं । जयमाला कहती है -

"हम क्षत्राणी हैं, चिरसंगिनी खड्गलता हम लोगों से
चिर-स्नेह है ।"

जयमाला के मन में एडलर प्रणीत एक प्रखर जीवन-शैली उद्भूत हुई है । अन्ततः स्कन्द की विजय से विजया व देवसेना का देवोप्रेम व्यक्तित्व से प्रभावित होना मनोविज्ञान की दृष्टि से स्वाभाविक घटना है ।

क्षिप्रा-तट कुंज में देवसेना और विजया में वार्तालाप हो रहा है । देवसेना विजया से कहती है -

"पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है
दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप । विजया ! आकाश के
सुन्दर नक्षत्र आंखों से केवल देखे ही जाते हैं, वे
कुसुम-कोमल हैं कि वज्र कठोर कौन कह सकता है ।"

ऐश्वर्य में पली विलास को ही सब कुछ समझने वाली विजया स्कन्द के आकांक्षाहीन जीवन की पत्नी नहीं बनना चाहती । ....विजया की प्रेम भावाना के मूल में रूप एवं ऐश्वर्य मोह है । उसमें अस्थिरता एवं अविवेक की प्रधानता है । विजया आवेग प्रधान एवं नियंत्रण हीन पात्र है । अर्थात् उसमें फ्रायड प्रगति लिबिडो की अभिव्यक्ति है ।

क्षिप्रा-तट पर प्रपंचबुद्धि षडयन्त्र रचता है वह साधक के रूप में श्मशान में बैठ जाता है । स्कन्द को 'अधिकार-सुख मादक और सारहीन' प्रतीत होता है । स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या यह उदासीनता उपनिषद-काल की मैत्रेयी की उदासीनता है 'येनाहमनामृतं स्याम् तेनाहं किं कुर्याम । स्कन्दगुप्त के ही वाक्यों से इसका उत्तर मिल जाता है कि मैत्रेयी

---

1. स्कन्दगुप्त, पृ.-45 ।

की तरह उसकी विरक्ति नहीं । श्मशान मे आकर उसका आत्मनिवेदन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, वह कहता है -

> "इस साम्राज्य का बोध किसके लिए ? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति ! केवल मेरे अस्तित्व से मालूम होता है कि सब की विश्व भर की शान्ति-रजनी में मैं ही धुमकेतु हूं, यदि मैं न होता, तो संसार अपनी स्वाभाविक गति से आनन्द से चला करता । परन्तु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला - कहीं भी कामना की वन्या नहीं ।" [1]

स्कन्दगुप्त में आत्महीनता ग्रंथि से प्रादुर्भूत इतना मानसिक द्वन्द्व है कि वह अपने को संसार भर का विनाश चिह्न मानता है ।[2] इस समय स्कन्दगुप्त को चारों ओर अशान्ति देखकर विराग-सा हो रहा है । यह ठीक वही स्थिति जो अर्जुन की युद्ध-क्षेत्र में हुई थी । अर्जुन के सदृश स्कन्दगुप्त भी पर्णदत्त से कहता है -

"अधिकार का उपयोग किस लिए ?"

पर्णदत्त उत्तर देता है -

> "त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता, ब्राह्मण, और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए ।"

आगे नियताप्ति का प्रच्छन्न प्रतिपादन किया गया है, किन्तु पाश्चात्य शैली की

---

1. स्कन्दगुप्त, पृ.-84 ।
2. डॉ. गणेशदत्त गौड़ : आधुनिक नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ.-180 ।

नियति भारतीय नियताप्ति की अपेक्षा अधिक स्पष्ट झलक उठती है । एक दृश्य में स्कन्दगुप्त विचित्र अवस्था में प्रवेश कर कहता है -

> "बौद्धों का निर्माण, योगियों की समाधि और पागलों की सी सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिए । चेतना कहती है कि तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है - उसी खिलवाड़ी वटपमशायी बालक के हाथों का खिलौना है तेरा मुकुट श्रमजीवी की टोकरी से भी तुच्छ है ।"

यहां स्कन्दगुप्त का दुहरा व्यक्तित्व दिखाई देता है, जिसमें हीनता ग्रंथि का प्राबल्य है । डॉ. गणेशदत्त गौड़ ने कहा है - "स्कन्दगुप्त का दोहरा व्यक्तित्व, तो मनोवैज्ञानिक कसौटी पर खरा उतरता है । उसकी चेतना कहती है कि तू राजा है और उत्तर में कोई कहता है कि तू खिलौना है । इसी द्वित्व के ताने-बाने से उसका चरित्र निर्मित है ।[1]

अन्तिम में सभी घटनाओं का समाहार है स्कन्द अपना ममत्व देवसेना को अर्पित कर उऋण होना चाहता है, पर देवसेना उससे कहती है -

> "सो न होगा सम्राट ! मैं दासी हूं ! मालव ने जो देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिपादन लेकर मैं उस महत्व को कलंकित न करूंगी । मैं आजीवन आसी दासी बनी रहूंगी, परन्तु आपके प्राप्य में भाग न लूंगी ।"[2]

इस कथन में देवसेना के हीनत्व कुण्ठा की जागृति हुई है । इसी कारण वह स्वयं को दासी कहलाती है । हूणों की हार होते ही स्कन्द पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाकर युवराज बनाने की घोषणा करते हुए कहता है -

> "देखना मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो ।"[3]

इस नाटक में हमें मनुष्य का पूर्णता पर पहुंचने का एक मार्ग दिखाया गया है,

जिसे हम भागवत धर्म कहते हैं । यह शाश्वत प्रश्न है कि सम्पूर्ण मनुष्यता है क्या ? प्रसाद एक पात्र से कहलाते हैं -

> "जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं वही सम्पूर्ण मनुष्यता है ।"

वह काल्पनिक देवत्व ही मानव का उद्देश्य है । एक पात्र कहता है

> "इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास हो सकता है ।"[1]

स्कन्दगुप्त पूर्णमानव की स्थिति तक अपने कर्मों द्वारा पहुंचता है अर्थात् पूर्ण मानव है कौन ? जो अपने कर्मों ईश्वर का कर्म करता है, वही ईश्वर का अवतार है । इस नाटक में क्षत्रिय प्रवर वीर पर्णदन्त को कर्तव्यपालन करते हुए नियति ऐसा थपेड़ा लगाती है कि इसे सूखी रोटियां द्वार-द्वार भिक्षा के रूप में मांगनी पड़ती है, किन्तु वह अधीर नहीं होता । कनिष्कस्तुप के पासे महादेवी की समाधि पर टहलता हुआ कहता है -

> "नहीं पर्ण, रोना मत, एक बूंद भी आंसू आंखों में न दिखाई पड़े । तुम जीते रहो, तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा । भगवान यदि होंगे तो कहेंगे कि मेरी सृष्टि में एक सच्चा हृदय था ।"[2]

क्षत्रियों का कार्य भिक्षा मांगना नहीं, किन्तु पर्णदन्त भिक्षा मांगता है दुर्दशाग्रस्त वीर-हृदयों की सेवा के लिए । वह कहता है -

> "मैं क्षत्रिय हूं, मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा, साक्षी
र[illegible] भगवान ।" रखना भगवान ।"[3]

---

1. स्कन्दगुप्त, पृ.-142 ।
2. स्कन्दगुप्त, पृ.-146 ।
3. स्कन्दगुप्त, पृ.-147 ।

एक दृश्य में युद्ध के लिए प्रोत्साहन देनेवाला एक बौद्ध भिक्षु प्रपंचबुद्धि कर्म की आवश्यकता बताते हुए कहता है -

> "तुम किसी कर्म को पाप नहीं कह सकते, वह अपने नग्न रूप में पूर्ण है, पवित्र है । संसार ही युद्ध-क्षेत्र है, इसमें पराजित होकर शस्त्र समर्पण करके जीने से क्या लाभ ! तुम युद्ध में हत्या करना धर्म समझते हो, परन्तु दूसरे स्थल पर अधर्म । मार डालना, प्राणी का अन्त कर देना, दोनों स्थलों में एक-सा है, केवल देश और काल का भेद है । यही न ?"

अर्थात् उसके लिये कर्म की कसौटी परिणाम है ।

स्कन्दगुप्त के प्रधान पात्रों में से अधिकांश पात्र 'शुद्ध ऐतिहासिक' है । उनके पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व और चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिकता दर्शनीय है । इस नाटक का नायक स्कन्दगुप्त है जो अपने अधिकारों के प्रति उदासीन है लेकिन उसकी कर्मवीरता, उदारता, उदात्तता देवोपम है । मालव में राज्याभिषेक से अभिषिक्त होने के बाद वह कहता है -

> "आर्य ! इस गुरूभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूं, और आर्य-राष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूं, आप लोग इसके लिए भगवान से प्रार्थना कीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि स्कन्दगुप्त अपने कर्तव्य से, स्वदेश सेवा से कभी विचलित न हो ।"

डॉ. जगन्नाथ शर्मा के शब्दों में- "सम्पूर्ण नाटक में स्कन्दगुप्त का व्यक्तित्व प्रधान है । अन्य सभी पात्र उसके साथ चलते, साथ विरत होते हैं । अथवा उसके चरित्र से प्रभावित रहते हैं ।"[1] स्कन्द सारे देश को हरा-भरा देखना चाहता है उसकी क्रियात्मकता का मूल स्रोत है - देश प्रेम । भटार्क से उसने कहा था -

---

1. डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ.-97 ।

> "भटार्क । यदि कोइ साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं, जन्मभूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूंगा ।"

अपनी दुर्दशा में क्षुब्ध होने पर भी वह कहता है -

> "आर्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आंखों को देखना था ।
> हृदय कांप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है ।
> मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्कता नहीं ।
> यह नीति और सदाचारों का महान आश्रय-वृक्ष
> गुप्त-साम्राज्य सदा हरा-भरा रहे ।"

पुरगुप्त को सिंहासन पर बिटाने के लिए अनन्तदेवी कटु और कठोर बन जाती है । उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष को लेकर डॉ. पोटा ने कहा है - "आदिम भावना की तुष्टि किसी भी प्रकार हो, यही मानव की मूल प्रवृत्ति रही है । जिन व्यक्तियों का नैतिक मन प्रबल होता है वे उन प्रवृत्तियों पर नियंत्रण कर पाते हैं, परन्तु उनके विवेक बुद्धि नहीं होती । वे लिबिडो के प्रभाव में बह आते हैं । अनन्तदेवी की भी वही स्थिति है । वह अपनी मूल भावना की पूर्ति चाहती है और इस उधेड़ बुन में खण्ड प्रलय तक देखना चाहती है । यह प्रतीत होता है कि वह राजा कुमारगुप्त से संतुष्ट न थी और उसकी क्षतिपूर्ति अपने पुत्र पुरगुप्त युवराज बनाकर करना चाहती थी । अनन्तदेवी में मिथ्या अहम् की प्रधानता है ।"[1] देवसेना युवावस्था के उन्माद काल में संगीत की एकान्त साधना में लीन, भाव-विभोर, दूर की रागिनी सुनती हुई, यह कुरंगी सी कुमारी, अपने व्यक्तित्व की विभा से हमें विमुग्ध और आकृष्ट कर लेती है किन्तु जीवन के संघर्षों से प्रताड़ित और लक्ष्य प्राप्ति में विफल होकर संगीत-सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धुप-दान की एक क्षण गन्ध-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे अवसाद की तरह उसका नारी जीवन हो जाता है । वह स्कन्द से प्रेम करती है । इस दुविधा की मनःस्थिति में सारी तरूणाई उसे काटनी है । उसे अपनी दुर्बलताओं को बोध है । वह कहती है -

> "मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता

---

1. डॉ. निरूपमा पोटा : प्रसाद के नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ.-140 ।

स्कन्दगुप्त के कथोपकथनों में प्रसाद ने वस्तु के क्रिया-व्यापार और पात्रों के चरित्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं को उद्घाटित करने का प्रयास किया है किन्तु संवादों में कवित्व तथा दार्शनिकता का प्राधान्य है । संवादों में क्षोभ का उग्रतम रूप भी दिखाई देता है । ओजपूर्ण और स्फूर्तिदायक संवादों की भी इसमें प्रचुरता है । प्रसाद की काव्यात्मक भावुकता के कारण संवादों की सारी रूक्षता धुल गयी है । उसके स्थान पर एक ताजगी, स्निग्धता और तरलता दिखाई पड़ती है । डॉ. दशरथ सिंह के शब्दों में - "इस प्रकार हम देखते हैं कि 'स्कन्दगुप्त' में कथोपकथन मर्यादोचित, मानवोचित शिष्टतापूर्ण ढंग से आगे बढ़ता है और हम इतने में ही स्कन्दगुप्त की सरलता, शिष्टता, मानवीय व्यवहार पटुता आदि उसके गुणों से परिचित हो जाते हैं ।"[1]

स्कन्दगुप्त में ऐतिहासिक तथा भारत के सांस्कृतिक और राष्ट्रीय उत्थान के स्वर निनादित है । चरित्र-चित्रण में पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व चित्रित है । निराशा और व्यथा की सरिता में डूबी देवसेना के मुंह से यह कथन स्वाभाविक ही लगता है - "संगीत सभी की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीणगन्ध-धूप-रेखा, कुचेल हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद - इन सबों की प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी-जीवन ! मेरे प्रिय गान ! अब क्या गाऊं और क्या सुनाऊं ।"

कई पात्रों के संवादों में मनोवैज्ञानिक शैली की पुष्टि मिलती है । यथा -

विजया - यह क्या राजकुमारी ! युवराज तो उदासीन हैं ।

देवसेना - हां विजया, युवराज की मानसिक अवस्था कुछ बदली हुई है ।

विजया - दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है ।

देवसेना - कहीं तुम्हारा सोचा हुआ युवराज के महत्व का परदा तो नहीं हट रहा है ? क्यों विजया ! वैभव का अभाव तुम्हें खटकने तो नहीं लगा ?

विजया - राजकुमारी ! तुम तो निर्दय वाक्य वाणों का प्रयाग कर रही हो ।

---

1. डॉ. दशरथ सिंह . हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक, पृ.-111 (प्रथम संस्करण) ।

देवसेना - नहीं विजया, बात एसी नहीं है । धनवानों के हाथ में माप ही एक है, यह विद्या, सौन्दर्य, बल, पवित्रता और तो क्या, हृदय भी उसी से मापते हैं । वह माप है - उनका ऐश्वर्य ।"[1]

इस कथन से स्कन्द के अचेतन मन के द्वन्द्व की जानकीरी मिलती है और साथ ही साथ देवसेना का मानसिक संतुलनात्मक भाव एवं विजया की नियंत्रणहीनता विदित होती है ।

डॉ. जगन्नाथ शर्मा ने - "अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था" - आदि स्थलों की भाषा की कृत्रिमता और नाटकीयताहीन कथोपकथन का उदाहरण माना है किन्तु यदि मातृगुप्त जैसा कवि पात्र, यदि काव्यात्मक भाषा न बोलेगा, जनसामान्य की साधारण भाषा में बात करेगा, तो वही अस्वाभाविक माना जाएगा ।

प्रसाद के 'हास्य और व्यंग्य' के संवाद भी गम्भीरता लिये हुए हैं किन्तु यह गम्भीरता बोझिल हो गयी है । जहां कहीं इनमें व्यंग्य की तीखापन है, बड़े प्रभावी लगते हैं । यथा -

कुमारगुप्त - (हंसते हुए) तुम्हारी लंका में अब राक्षस नहीं रहते ? क्यों धातुसेन !

धातुसेन - राक्षस यदि कोई था तो विभीषण और बन्दरों में भी एक सुग्रीव हो गया था ।

स्कन्दगुप्त में जहां कहीं स्वगत-भाषणों का विस्तार दिया गया है, वह अस्वाभाविक है । ब्राह्मण और बौद्धश्रमणों का तार्किक विवादपूर्ण संवाद उषा देनेवाला है । लम्बे-लम्बे भाषणों के मूल में भी गुह और रहस्य की गठिं खोलने का आभास ही है । इड, हीनतागंथि, मानसिक नियतिवादिता, मिनोग्रस्तता आदि मनोवैज्ञानिक उपसिद्धान्तों का स्कन्दगुप्त में सफलता के साथ चित्रण हुआ है ।

---

1. स्कन्दगुप्त, पृ.-48 ।

चन्द्रगुप्त (सन् 1931)

चन्द्रगुप्त प्रसाद का ऐतिहासिक नाटक है । प्रसाद जिस प्रवृत्ति और उद्देश्य को लेकर नाट्य-निर्माण में तल्लीन हुए थे, उसका चरम उत्कर्ष 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रकट होता है । इस ऐतिहासिक तथा काव्यात्मक नाटक का प्रथम बार प्रकाशन 1931 में भारती-भण्डार काशी से हुआ था । 'चन्द्रगुप्त' में प्रसाद की सबसे बड़ी देन है चाणक्य । 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य न 'कल्याणी-परिणय' का चाणक्य है, न 'मुद्राराक्षस' का । यह चाणक्य वस्तुतः वह ब्राह्मण है, जिसकी भविष्यवाणी व्यासजी ने इस रूप में की थी - "महात्मा ब्राह्मणों की विशुद्ध ज्ञानधारा से यह पृथ्वी अनन्तकाल तक सिंचित होगी, लोगों को परमात्मा की उपलब्धि होगी, लोग में कल्याण और शान्ति का प्रचार होगा ।"

चार अंकों में समस्त प्रस्तुत नाटक के प्रथम अंक का प्रारंभ तक्षशिला के गुरूकुल से होता है जहां नाटक का सबसे प्रभावशाली पात्र चाणक्य अपनी गुरू-दक्षिणा के स्थान पर अर्थशास्त्र का अध्यापन कर रहा है । अपनी शिक्षा की परख देते हुए चन्द्रगुप्त चाणक्य से कहता है - "आर्य ! संसारभर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने यही समझा कि आत्म-सम्मान के लिए मर-मिटना ही दिव्य जीवन है ।"[1] चन्द्रगुप्त के इस सम्भाषण में आत्मविश्वासपूर्ण प्रभावी व्यक्तित्व की जानकारी मिलती है । एक दृश्य में कल्याणी के उद्गारों में इड का प्रस्फुटीकरण हुआ है । वह चन्द्रगुप्त से कहती है - "परन्तु मुझे आशा थी कि तुम मुझे न भूल जाओगे ।"[2] एक दृश्य में नन्द तक्षशिला से लौटे स्नातकों की परीक्षा लेने का प्रस्ताव रखता है, मगध आकर नन्द की सभा में चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त नन्द के विरूद्ध आवाज उठाते हैं तब चन्द्रगुप्त व चाणक्य निर्वासित कर दिये जाने पर। चाणक्य दृढ़ता के साथ कहता है - "खींच ले ब्राह्मण की शिखा ! शुद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते ! खींच ले ! परन्तु यह शिखा नन्द कुल की कालसर्पिणी है वह तब तक न बंधन में होगी, जब तक नन्द कुल निःशेष न होगा ।"[3] यहां चाणक्य की अहंकारात्मक अचेतन मन जागृत होकर उसमें प्रतिशोध ग्रंथि का उद्भव हुआ है । दाण्डयायन को प्रतिम ज्ञान से भविष्य की ज्ञानोपलब्धि होती है, जिसमें गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के कुछ पहलू दृष्टिगोचर होते हैं । सिंधु तट पर दाण्डयायन के आश्रम में एनिसाक्रीटीज अलका, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सेल्यूकस आदि सभी इकट्ठे होते हैं । उस समय सिकन्दर को सम्बोधित कर दाण्डयायन कहता है - "अलक्षेंद्र

---

1. जयशंकर प्रसाद : चन्द्रगुप्त, पृ. -50 ।
2. जयशंकर प्रसाद : चन्द्रगुप्त, पृ. -63 ।
3. चन्द्रगुप्त, पृ. -68 ।

सावधान ! (चन्द्रगुप्त को देखकर) देखो, यह भारत का भावी सम्राट तुम्हारे सामने बैठा है।"[1] एक दृश्य में फिलिप्स के कामजन्य आक्रमण से कार्नेलिया को चन्द्रगुप्त बचाता है । वह उसकी ओर आकृष्ट हो जाती है । तभी कार्नेलिया अपने आत्मकथन में कहती है - "वह भी आह ! कितना आकर्षक है ! कितना तरंग संकुल है ! इसी चन्द्रगुप्त के लिए उस साधु ने भविष्यवाणी की है - भारत-सम्राट होने की ! उसमें कितनी विनयशीलता वीरता है ।"[2] कार्नेलिया का चन्द्रगुप्त की ओर आकर्षण दाण्डयायन के आश्रम में प्रथम दर्शन के समय ही हो गया था । झेलम तट वन-पथ में चाणक्य सिंहरण से कहता है - "पौधे अन्धकार में बढ़ते हैं और मेरी नीतिलता भी उसी भांति विपत्तितम में लहकती होगी । हां, केवल शौर्य से काम नहीं चलेगा । एक बात समझ लो, चाणक्य सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हों । बोलो, तुम लोग प्रस्तुत हो ?"[3] इस कथन द्वारा चाणक्य सिंहरण को प्रेरणा देता है, जो मनोविज्ञान की दृष्टि से अतीव महत्वपूर्ण है ।

सिकन्दर और पर्वतेश्वर की पराजय के समय दोनों के बीच हुआ वार्तालाप ध्यान देने लायक है । यथा -

सिकन्दर - अब मैं तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करूं ?
पर्वतेश्वर - जैसा एक नरपति अन्य नरपति के साथ करता है, सिकन्दर ।"[4]

यहां दोनों के आत्मसम्मान की रक्षा की है । इसी कारण उनमें सौहार्दपूर्ण स्नेह बढ़ जाता है । सिंहरण के उद्यान में मालविका से चन्द्रगुप्त बातें कर रहा है । तभी चाणक्य आता है । वह कहता है - "छोकरियों से बातें करने का समय नहीं ।" इन शब्दों में वह चन्द्रगुप्त की भर्त्सना करता है । तब चन्द्रगुप्त विनय से कहता है - "नहीं गुरूदेव ! मैं आज ही विपाशा के तट से आया हूं, यवन शिविर भी घुमकर देख आया हूं ।"[5]

यहां चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व में संस्कार संपन्न भावनाएं अनुप्राणित हो चुकी हैं ।

---

1. चन्द्रगुप्त, पृ.-87 । 2. चन्द्रगुप्त, पृ.-81 ।
3. चन्द्रगुप्त, पृ.-67 । 4. चन्द्रगुप्त, पृ.-103 ।
5. चन्द्रगुप्त, पृ.-105 ।

उसकी गुरूभक्ति उसके जीवन की एक अभिन्न अंग है ।

नन्द के अत्याचार के कारण सभी नागरिक संतप्त हो चुके हैं । नन्द के आदेशानुसार राक्षस, सुवासिनी एवं मालविका को भी बन्दी बना लेते हैं । प्रतिशोध की तीव्र भावना से शकटार छुरा निकालकर नन्द की हत्या करता है । चन्द्रगुप्त का सम्राट के रूप में अभिषेक होता है । इन सभी घटनाओं के पीछे प्रमुख सूत्रधार चाणक्य है । प्रसाद का चाणक्य व्यक्तिगत द्वेष को राष्ट्रहित में विलीन कर देता है । वह नन्द की हत्या करनेवाले नगरवासियों को रोककर नन्द से कहता है - "हम ब्राह्मण हैं, तुम्हारे लिये भिक्षा मांगकर तुम्हें जीवन-दान दे सकते हैं ।....नागरिकवृन्द ! आपलोग आज्ञा दें, नन्द को जाने की आज्ञा दें ।"[1] चाणक्य की अग्रधर्षी प्रेरणाशक्ति सराहनीय है ।

एक दृश्य में कल्याणी द्वारा पर्वतेश्वर का वध होता है । सुवासिनी पहले राक्षस से प्रेम करती थी अब वह उससे घृणा कर रही है । इसीलिए राक्षस से कहती है - "अब पिताजी की अनुमति आवश्यक हो गई है ।"[2] इस कथन में सुवासिनी के इड और इगो का संघर्ष दिखलाया गया है । चतुर्थ अंक के एक दृश्य में चन्द्रगुप्त के सम्मुख अपना हृदय खोलकर दिखाता है । वह मालविका से कहता है - "संघर्ष ! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका ! आशा और निराशा का युद्ध, भावों और अभावों का द्वन्द्व ! कोई कभी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त-चिह्न लगा देता है । मालविका तुम मेरी ताम्बुल-वाहिनी नहीं हो, मेरे विश्वास की, मित्रता की प्रतिकृति हो । देखो मैं दरिद्र हूं कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता ।"[3] इस कथन में चन्द्रगुप्त में श्रेष्ठता ग्रन्थिका प्राबल्य होते हुए भी पता नहीं इधर उसकी हीनता ग्रंथि क्यों उमड़ पड़ी है । इसमें मनोवैज्ञानिक तथ्य भी मौजूद हैं । इस सन्दर्भ में एडलर की राय है - "जिस व्यक्ति में हीनता-ग्रंथि नहीं है, उसमें सर्वश्रेष्ठता-ग्रंथि होगी । इस प्रकार दोनों में एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं । दोनों ग्रन्थियां प्रायः एक ही व्यक्ति में पायी जाती है ।"[4] प्रसाद जी मनोविज्ञान के गहरे पारखी थे ।

प्रसाद ने सम्पूर्ण नाटक के मध्य एक स्थल पर चाणक्य में दुर्बलता दिखलाई है, जहां वह वासना के वश हो जाता है । यह दुर्बलता चदि नाटक में न दिखाई गई होती तो हम उसे मनुष्य कैसे कह पाते ! वह तो अलौकिक शक्ति का अवतार ही समझा जाता ।

---

1. चन्द्रगुप्त, पृ.-149 । 2. चन्द्रगुप्त, पृ.-161 । 3. चन्द्रगुप्त, पृ.-167 ।
4. रामपाल सिंह वर्मा : मनोविज्ञान के संप्रदाय, पृ.-115 ।

निश्चय ही इस प्रसंग में हम चाणक्य के हृदय का साक्षात्कार करते हैं और यह प्रत्यक्ष देख लेते हैं कि इसमें कितनी कोमलता है, क्योंकि प्रसाद ने इस कथन के द्वारा स्पष्ट करा दिया है - "वह क्रूर है केवल वर्तमान के लिए, भविष्य के सुख और शान्ति के लिए, परिणाम के लिए नहीं ।" चाणक्य सुवासिनी की ओर इस दृष्टि से देखता है कि सुवासिनी को कहना पड़ता है - "यह क्या विष्णुगुप्त ! तुम संसार को अपने वश में करने का संकल्प रखते हो, फिर अपने को नहीं । देखो दर्पण लेकर, तुम्हारी आंखों में तुम्हारा यह कौन-सा नवीन चित्र है ।"[1] लेकिन ब्राह्मण चाणक्य इस क्षणिक दुर्बलता से मुक्त हो पुनः अपने राष्ट्रहित के कार्य में संलग्न हो जाता है । क्योंकि प्रसाद की दृष्टि से ब्राह्मण का आदर्श है, "मेघ के समान मुक्त वर्षा से जीवन-दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना ।" प्रसाद का चाणक्य सम्पूर्ण नाटक में इस आदर्श का पालन करता हुआ माया-स्तूपों को ठुकराता चलता है ।

इसी प्रकार प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' स्वालम्बी, धीर और पराक्रमी है । रूष्ट होकर चाणक्य के चले जाने पर व्याकुल नहीं होता । सिंहरण भी जब चाणक्य को ढुंढ़ने चला जाता है तो चन्द्रगुप्त कहता है - 'पिता गए, माता गई, गुरूदेव गए, कन्धे से कन्धा भिड़ाकर प्राण देनेवाला, चिर-सहचर सिंहरण गया, तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ा, और रहेगा ।"[2]

इस नाटक का नायक चन्द्रगुप्त है जिसमें गुरूभक्ति, वीरता, आत्मसम्मान, निर्भीकता, उदारता, स्पष्टवादिता, कृतज्ञता आदि मौलिक गुण मौजूद हैं । चाणक्य के रूठ कर चले जाने, और कन्धे से कन्धा भिड़ाकर खड़े होनेवाले मित्र सिंहरण के चले जाने पर भी वह वीर-दर्प से युद्ध का सामना करने को सन्नद्ध हो जाता है । इस कथन द्वारा यह सिद्ध हो जाता है - "सिंहरण इस प्रतिक्षा में है कि कोई बलाधिकृत जाय तो वे अपना अधिकार सौंप दें । नायक ! तुम खड़ग पकड़ सकते हो और उसे हाथ में लिये हुए सत्य से विचलित तो नहीं हो सकते ? बोलो ! चन्द्रगुप्त के नाम से प्राण दे सकते हो ? मैंने प्राण देनेवाले वीरों को देखा है । चन्द्रगुप्त भी प्राण देना प्राण देना जानता है, युद्ध करना जानता है, और विश्वास रखो, उसके नाम का जय-घोष विजय-लक्ष्मी का मंगल-गान है । आज से मैं ही बलाधिकृत हूं । मैं आज सम्राट नहीं, सैनिक हूं । चिन्ता क्या, सिंहरण और गुरूदेव न साथ दें, डर क्या सैनिको ! सुन लो ! आज से मैं केवल सेनापति हूं, सम्राट नहीं । जाओ, यह लो

----

1. चन्द्रगुप्त, पृ.-161 ।

2. चन्द्रगुप्त, पृ.-171 ।

मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दो । कह देना कि चन्द्रगुप्त ने कहा है कि तुम दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण ! मैं कायर नहीं हूं । जाओ ।"

'चन्द्रगुप्त' नाटक का सबसे तेजस्वी व्यक्तित्व, चाणक्य का है । वह इतिहास-प्रसिद्ध विद्वान तथा कूटनीतिज्ञ है । चाणक्य की समस्त योजनाएं पूरी होती हैं क्योंकि उसके विचार सलझे हुए, मेधा अत्यन्त तीक्ष्ण और परिपक्व है । वह सिद्धि देखता है, साधन नहीं । वह आत्यन्तिक रूप से आत्मविश्वासी और सतर्क है । वह लौह-स्तम्भ की भांति अप्रणत और अनबूझ पहेली की भांति रहस्यमय है । वह विपक्षियों के लिए यमराज की तरह क्रूर और निर्दय है, उसके शब्द-कोश में 'असम्भव' शब्द का अभाव है । समय पड़ने पर वह कुछ भी कर सकता है - "दया किसी से न मागूंगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूंगा । क्या कभी नहीं ? हां, हां, कभी किसी पर नहीं । मैं प्रलय के समान अबाध गति और कर्तव्य में इन्द्र के वज्र के समान भयानक बनूंगा ।" अर्थात् कर्तव्य के पालन में भावावेग को वह स्थान नहीं देता । चाणक्य अपने कथन में 'ब्राह्मणत्व' का समर्थन अपने उद्देश्य के प्रतीक बनने तक करता है । वह कहता है - "ब्राह्मण न क़िसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है । ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है । प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है ।" अर्थात् चाणक्य की विपत्तितम में लहलहाने वाली नीति-लता किसी प्रतिक्रिया से उद्भूत नहीं है, वह उसकी सहज मेधा का परिणाम है ।

चन्द्रगुप्त नाटक में अलका के व्यक्तित्व में विद्रोह है वह कहती है - "यदि वह बन्दिनी नहीं बनाकर रखी जाएगी तो सारे गान्धार में वह विद्रोह मचा देगी ।" उसे अपने देश से सच्चा प्रेम है, वह कहती है - "मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियां हैं और मेरे जंगल हैं । इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने हैं ।" देशोद्धार के लिए भी वह हर कष्ट उठाने को तैयार है । वह अपने कथन में कहती है - "महाराज ! मुझे दण्ड दीजिए, कारागार में भेजिए, नहीं तो मैं मुक्त होने पर भी यही करूंगी । कल पुत्रों के रक्त से आर्याव्रत की भूमि सिंचेगी। ....तब बचे हुए क्षतांग वीर गान्धार को - भारत के द्वार-रक्षक को विश्वासघाती के नाम से पुकारेंगे और उसमें नाम लिया जाएगा मेरे पिता का !"

नाटक में कथोपकथन प्रमुख उपजीव्य है । कथोपकथन द्वारा पात्रों के मनोभावों और

क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है । राजनीतिक स्थिति की व्याख्या करता हुआ चाणक्य सिंहरण से कहता है - "तुम मालव हो और यह मगध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न ? परन्तु आत्मसम्मान इतने ही से संतुष्ट नहीं होगा । मालव और मगध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा ।"

यहीं चाणक्य कितनी संवेदना और भावुकता से भरकर कोमल शब्दों में सुवासिनी से कहता है - "सुवासिनी ! वह स्वप्न टूट गया - इस विजय बालुका सिन्धु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी, किन्तु तुम्हारे एक भू-भाग ने उसे लौटा दिया । मैं कंगाल हूं ।"

चन्द्रगुप्त के सम्वादों में व्यग्य योजना अच्छी है । हृदय की खीझ और मानसिक आक्रोश को तीव्र बनाने लिए व्यंग्य का पैना अस्त्र चन्द्रगुप्त ने अमोघ रूप से छोड़ा है । आम्भीक के पूछने पर कि तुम्हारी बात-चीत में कुछ रहस्य है, सिंहरण उत्तर देता है - "हां हां रहस्य है । यवन आक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर, आर्यावर्त की सुख-रजनी की शान्ति-निद्रा में, उत्तरापथ की आर्गला खोल देने का रहस्य है । क्यों राजकुमार ! सम्भवतः तक्षशिलाधीश वाल्हीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गये थे ।"

चन्द्रगुप्त के कथोपकथन छोटे एवं मनोवैज्ञानिक हैं । इनसे कथानक को गति मिलकर पात्रों के चरित्रों पर प्रकाश पड़ता है । उनमें बौद्धिकता एवं वाक्वैदग्ध भी है । उदाहरण के लिए -

फिलिप्स - कुमारी ! प्रणय के सम्मुख क्या साम्राज्य तुच्छ है ?
कार्नीलिया - यदि प्रणय हो ।
फिलिप्स - प्रणय तो मेरा हृदय पहचानता है ।
कार्नीलिया - (हंसकर) ओ हो । यह तो बड़ी विचित्र बात है
फिलिप्स - कुमारी क्या, तुम मेरे प्रेम की हंसी उड़ाती हो ?
कार्नीलिया - नहीं सेनापति ! तुम्हारा उत्कृष्ट प्रेम बड़ा भयानक होगा, उससे तो डरना चाहिए ।....
पिलिप्स - (कुछ सोचकर) कुमारी ! न जाने फिर कब दर्शन हों, इसलिए एक बार इन कोमल करों को चूमने की आज्ञा दो ।
कार्नीलिया - तुम मेरा अपमान करने का साहस न करो फिलिप्स

फिलिप्स - प्राण देकर भी नहीं कुमारी ! परन्तु प्रेम अन्धा है ।
कार्नेलिया - तुम अपने अन्धेपन से दूसरे को ठुकराने का लाभ नहीं उठा सकते फिलिप्स ।"[1]

चमत्कार लाने के लिये प्रसाद ने चन्द्रगुप्त में ऐसे कथोपकथनों की योजना की है जिनमें पहले के प्रसंग के कुछ शब्दों को दोहराते हुए पात्र सम्मुख आ जाता है । यथा -

सिंहरण - उत्तरापथ के खण्ड राज्य-द्वेष से जर्जर हैं । शीघ्र ही भयानक विस्फोट होगा ।
आम्भीक - (सहसा प्रवेश 'कैसा विस्फोट ? तुम कौन हो ?' - ऐसे अनेक स्थल हैं ।
कार्नेलिया - परन्तु वैसा न हुआ । सम्राट ने फिलिप्स को यहां का शासक नियुक्त कर दिया है ।
फिलिप्स - तो बुरा क्या है कुमारी ! सिल्यूकस के क्षत्रप न होने पर भी कार्नेलिया यहां की शासक हो सकती है । फिलिप्स अनुचर होगा ।

ऐसे स्थलों पर 'रस' के अनुकूल सम्वाद-योजना नहीं निखर सकी । चन्द्रगुप्त में परिस्थितियों की विभिन्नता और मानसिक स्थितियों की विविधता के कारण कथोपकथन की शैली को अनेक रंग-रूप मिले हैं । चन्द्रगुप्त में भावों के अनुकूल भाषा और संवादों का गठन है । कथोपकथन में नाटककार ने सहबोधावस्था का अत्युत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया है । कार्नेलिया ग्रीक नारी होते हुए भी भारतीय संस्कृति के साथ एकरूप हो चुकी है । काव्यात्मक शैली में लिखे संवाद इस नाटक की खासियत है ।

यद्यपि प्रसाद जी स्वगत-भाषण के विरोधी थे किन्तु चन्द्रगुप्त में अनेक स्थलों पर स्वगत भाषण के प्रयोग हैं । तृतीय अंक के प्रथम दृश्य के प्रारंभ में राक्षस का 'स्वगत' उसकी वैयक्तिक सम्वेदना की अभिव्यक्ति करता है - "मैं अविश्वास, कूट-चक्र और छलनाओं का कंकाल, कठोरताओं का केन्द्र ! आह ! तो इस विश्व में मेरा मित्र है । और थी एक क्षीण रेखा, वह जीवन पट से धुल चुली है । धुल जाने दूं ? सुवासिनी...न न न, वह कोई नहीं ?

---

1. चन्द्रगुप्त नाटक, पृ.-90 ।

(96)

मैं अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त हूं ।"....आदि

'चन्द्रगुप्त' नाटक में अनेक कथोपकथनों से दृष्टिगोचर होता है कि वह राष्ट्रीय चेतना का अर्जस्वित नाटक है ।इसमें अपने युग की राष्ट्रीयता को ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखा गया है । जब 'चन्द्रगुप्त' नाटक का प्रकाशन हुआ उस समय राष्ट्रीय आंदोलन में गांधी जी के अस्त्र-शस्त्र और अहिंसा या सत्याग्रह का प्रयोग कसौटी पर था । जब नेता समग्र राष्ट्रीयता की भावना को उजागर करने में लगे हुए थे । ऐसे अवसर पर प्रसाद ने तक्षशिला में चाणक्य के द्वारा यह कहलाया - "मालव और मगध को भूल कर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह आत्मसम्मान मिलेगा ।" उन दिनों इस गीत के माध्यम से देश-सेवा का अलख जगाती थी -

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयम्प्रभा समुज्वला
स्वतंत्रता पुकारती ।

कई स्थलों से प्रसाद की ऐतिहासिक तथ्यों की खोज का परिचय मिलता है । यथा -

पर्वतेश्वर - हां तो इस मगध विद्रोह का केन्द्र कौन होगा ? नन्द के विरूद्ध कौन खड़ा होता है !

चाणक्य - मौर्य सेनानी का पुत्र वीर चन्द्रगुप्त जो मेरे साथ यहां आया है ।

पर्वतेश्वर - पिप्पली कानन के मौर्य भी तो वैसे ही वृषल है, उनको राज्य सिंहासन दीजिएगा ?

चाणक्य - आर्य-क्रियाओं का लोप हो जाने से इन लोगों को वृषलत्व मिला, वस्तुत ये क्षत्रिय हैं । बौद्धों के प्रभाव में आने से इनके श्रौत-संस्कार छूट गये हैं अवश्य, परन्तु इनके क्षत्रिय होने में कोई सन्देह नहीं ।

डॉ. जगन्नाथ शर्मा ने 'चन्द्रगुप्त' नाटक मे कार्य की अवस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों और

सन्धियों के समावेश का विस्तार से विवेचन किया है ।"

अपने औदात्य के कारण 'चन्द्रगुप्त नाटक' हिन्दी का बेजोड़ ऐतिहासिक और राष्ट्रीय नाटक माना गया है ।

3. ध्रुवस्वामिनी (1933)

सन् 1933 में भारती भण्डार, काशी से प्रकाशित ध्रुवस्वामिनी प्रसाद जी की अन्तिम नाट्य कृति है । इसकी रचना में पूर्ववर्ती नाटकों की पद्धति परिवर्तित प्रतीत होती है । ध्रुवस्वामिनी की कथावस्तु ऐतिहासिक है पर उसके मूल में समस्या का समाधान प्रमुख तत्त्व है किन्तु यह समस्या नाटक नहीं है - क्योंकि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में - "समस्या नाटक का बौद्धिक होना पहली शर्त है और नाटक की सारी विचारधारा किसी एक समस्या को केन्द्र बनाकर चलती है । समस्या-नाटककार विशुद्ध दार्शनिक या विचारक कलाकार हुआ करता है । प्रसाद जी विचारक कलाकार के रूप में उपस्थित नहीं हुए हैं ।" इस नाटक में नारी समस्या का मनोवैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया गया है ।

सम्राट समुद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त को अपना भावी उत्तराधिकारी चुना था, किन्तु मंत्री शिखर स्वामी ने नीति-सिद्धान्त का आधार लेकर रामगुप्त को सिंहासन पर बैठा दिया । कन्योपदान में स्कन्दगुप्त दिग्विजय के समय प्राप्त ध्रुवस्वामिनी गुप्त कुल-वधु है । वह कूबड़े, बौने, हिजड़े, गूंगे और बहरों से घिरी रहती है । ध्रुवस्वामिनी के शिविर में प्रवेश करने पर उसके पीछे-पीछे एक लम्बी और कुरूप स्त्री चुपचाप नंगी तलवार लिये आती है । खड्गधारिणी कुछ बोल नहीं पाती है, ऐसा देखकर ध्रुवस्वामिनी कहती है - " तो क्या तुम मूक हो ? तुम कुछ बोल न सको, मेरी बातों का उत्तर भी न दो, इसलिये तुम मेरी सेवा में नियुक्त की गई हो ? यह असत्य है । इस राजकुल में एक भी सम्पूर्ण मनुष्यता का निदर्शन न मिलेगा क्या ? जिधर देखो कूबड़े, बौने, हिजड़े, गूंगे और बहरे....।"[1]

इस आत्मनिवेदन से विदित होता है कि ध्रुवस्वामिनी में मानसिक नियतिवाद अज्ञात मन में प्रविष्ट हो रहा है । एक दृश्य में शकराज संधि के लिए ध्रुवस्वामिनी तथा अन्य सामन्त वीरों के लिये स्त्रियों की मांग करता है । शिखर स्वामी और रामगुप्त इस पर विचार

---

1. जयशंकर प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी, पृ.-14 ।

करते हैं और राष्ट्ररक्षा के लिये ध्रुवस्वामिनी को शक शिविर में भेजने का विचार निश्चित हो जाता है । इस अनपेक्षित घटना से ध्रुवस्वामिनी का आत्मसम्मान जागृत हो उठता है । अचेतन मन में छिपी हुई भावनाएं प्रदर्शित करती हुई रामगुप्त से कहती है - "निर्लज ! मधप !! क्लीव !!! ओह तो मेरा कोई रक्षक नही ? (ठहरकर) नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूंगी ! मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूं । मुझमें रक्त की तरल लालिमा है । मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है । उसकी रक्षा मैं ही करूंगी ।"[1] यहां ध्रुवस्वामिनी में स्वाक्रमण वेग बढ़ जाता है ।

शकराज के पास जाने की आज्ञा पाकर जब रामगुप्त की धर्मपत्नी ध्रुवस्वामिनी पति के पैरों को पकड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहती है - "मेरी रक्षा करो । मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो....।"

त तब विलासी और कायर रामगुप्त कहता है - "तुम मेरी रानी ! नहीं ! नहीं ! जाओ, तुमको जाना पड़ेगा । तुम उपहार की वस्तु हो । आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूं । इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो ।"[2]

किस सती का रक्त ऐसे विलासी पति की उपर्युक्त वाणी सुनकर न खौल उठेगा सब ओर से निस्सहाय होने पर नारी का आत्मविश्वास ही उसकी रक्षा करता है । उसका दुर्बल अहम् जागृत होता है । वह आत्महत्या के लिये प्रवृत्त हो जाती है तो निर्लज्ज रामगुप्त कहता है - "किन्तु तुम्हारे मर जाने पर उस बर्बर शकराज के पास किसको भेजा जायेगा ?"[3] यह कहता हुआ भयभीत रामगुप्त भाग जाता है । ठीक इसी अवसर पर चन्द्रगुप्त वहां उपस्थित होकर उसकी रक्षा करता है । चन्द्रगुप्त उसे समझाते हुए कहता है - "देवि, जीवन विश्व की सम्पत्ति है । प्रमाद से, क्षणिक आवेश से, या दुःख की कठिनाइयों से उसे नष्ट करना ठीक तो नहीं । गुप्तकुल लक्ष्मी आज यह छिन्नमस्ता का अवतार किसलिए धारण करना चाहती है ।"[4] सत्य स्थिति का ज्ञान होते ही चन्द्रगुप्त अत्यन्त क्रोधित हो जाता है और समस्या का हल ढूंढ निकालता है । यहां उसमें 'विधायक इच्छा' दृष्टिगोचर होती है ।

---

1. जयशंकर प्रसाद ध्रुवस्वामिनी, पृ.-28 । 2. ध्रुवस्वामिनी, पृ.-27 ।
3. ध्रुवस्वामिनी, पृ.-27 । 4. ध्रुवस्वामिनी, पृ.-29 ।

नाटक के द्वितीय अंक के एक दृश्य में शकराज के दुर्ग में उसकी प्रेमिका कोमा एक अनोखा आनन्द प्राप्त कर रही है । पर शकराज किसी मानसिक व्यथा के कारण अन्यमनस्क है । इसीलिए वह कोमा से कहता है - "तुम्हारे हृदय की उन दुर्भावनाओं में डालकर व्यथित नहीं करना चाहता । मेरे सामने जीवन-मरण का प्रश्न है ।"[1] शकराज के मन में परस्पर विरोधी भावों के घात-प्रतिघात का आविष्कार हो रहा है । ध्रुवस्वामिनी की शर्त मान्य होने पर शकराज विजयोत्सव मनाने का आदेश देता है । कोमा के एक प्रश्न के उत्तर में शकराज कहता है - "जो विषय न समझ में आवे, उस पर विवाद न करो ।"[2] इतने में मिहिर देव प्रवेश कर शकराज से कहता है - "राजा ! स्त्रियों का स्नेह विश्वास भंग कर देना, कोमल तन्तु को तोड़ने से भी सहज है, परन्तु सावधान होकर उसके परिणाम को भी सोच लो ।"[3] शकराज अपने ही धुन में व्यस्त है आखिर उसे अपने कुकर्मों का फल अकेले भुगतना पड़ता है ।

ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त मन ही मन चाहता है जिसके कारण उसके इगो (अहम्) एवं सुपर इगो (नैतिकाहं) में द्वन्द्व चह रहा है । वह अपने आत्मनिवेदन में कहता है - "विधान की स्याही का एक बिन्दु गिरकर भाग्य-लिपि पर कालिमा चढ़ा देता है । मैं आज यह स्वीकार करने में भी संकुचित हो रहा हूं कि ध्रुवदेवी मेरी है (ठहरकर) हां, वह मेरी है, उसे मैंने आरंभ से ही अपनी सम्पूर्ण भावना से प्यार किया है । मेरे हृदय के गहन अन्तस्तल से निकली हुई यह एक मूक स्वीकृति आज बोल रही है । मैं पुरूष हूं ? नहीं, मैं अपनी आंखों से अपना वैभव और अधिकार दूसरों को अन्याय से छीनते देख रहा हूं और मेरी वाग्दन्ता पत्नी मेरे ही अनुत्साह से आज मेरी नहीं रही । नहीं, यह शक्ति का कपट, मोह और प्रवंचना है । मैं जो हूं, वही तो नहीं स्पष्ट रूप से प्रकट कर सका । यह कैसी विडम्बना है । विनय के आवरण में मेरी कायरता अपने को कब तक छिंपा सकेगी, ?"[4] इसके बाद सामन्त कुमार आकर ध्रुवस्वामिनी से कहता है - "स्वामिनी आपकी आज्ञा के विरूद्ध राजाधिराज ने निरीह शकों का संहार करवा दिया है ।"[5] ध्रुवस्वामिनी से बात करता हुआ सामन्त कुमार स्पष्ट रूप से कह देता है - "मैं सच कहता हूं, रामगुप्त जैसे राजपद को कलुषित करनेवाले के लिए मेरे हृदय में तनिक भी श्रद्धा नहीं । विजय का उत्साह दिखाने यहां वे किस मुंह से आये, जो हिंसक, पाखण्डी, क्षीव और क्लीव है ।"[6]

---

1. ध्रुवस्वामिनी, पृ.-:38 । 2. ध्रुवस्वामिनी, पृ.-43 ।
3. ध्रुवस्वामिनी, पृ.-44 । 4. ध्रुवस्वामिनी, पृ.-57 ।
5. ध्रुवस्वामिनी, पृ.-57 । 6. ध्रुवस्वामिनी, पृ.-58 ।

ध्रुवस्वामिनी विवाह से पूर्व चन्द्रगुप्त की वाग्वदत्ता थी । वह अब रामगुप्त से पृथक होकर धर्मरक्षक से विवाह करना चाहती है । रामगुप्त जब उसे महादेवी कहकर सम्बोधित करता है, उस समय दोनों का वार्तालाप नारी की तेजस्विता और विलासी पुरूष की निर्लज्जता का सूचक है -

रामगुप्त - तो तुम महादेवी हो न ?
ध्रुवस्वामिनी - नहीं, मनुष्य की दी हुई उपाधि मैं लौटा देती हूं ।
रामगुप्त - और मेरी सहधर्मिणी ?
ध्रुवस्वामिनी - धर्म ही इसका निर्णय करेगा ।

... ...

रामगुप्त - ध्रुवस्वामिनी, निर्लज्जता की भी एक सीमा होती है ।
ध्रुवस्वामिनी - मेरी निर्लज्जता का दायित्व एक कापुरूष पर है ।"[1]

ध्रुवस्वामिनी में इसी कारण आमूलाग्र परिवर्तन हो जाता है । उसके आन्तरिक द्वन्द्व का मार्गान्तरीकरण हो जाता है । रामगुप्त की विनाशकाले विपरीत बुद्धि होती है । धर्म का निर्णय करने के लिये निर्भय और सत्यनिष्ठ पुराहित बुलाया जाता है । वह इस विवाह की समस्या को स्पष्ट रूप से कहता है -

"पुरोहित - विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्तिपूर्ण बन्धन में बांध दिया है । धर्म का उद्देश्य इस तरह पददलित नहीं किया जा सकता । माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म-विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नहीं सकते, परन्तु यह सम्बन्ध उन प्रमाणों से भी विहीन है । और भी (रामगुप्त को देखकर) यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से क्लीव है । ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं ।....

शिखर स्वामी - निर्भीक पुरोहित, तुम क्लीव शब्द का प्रयोग कर रहे हो ।

---

1. ध्रुवस्वामिनी, पृ.-59 ।

पुरोहित - (हंसकर) श्रीकृष्ण ने अर्जुन को क्लीव इसलिए कहा था ? जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की अंकगामिनी बनने के लिए भेजने में कुछ संकोच नहीं, वह क्लीव नहीं तो और क्या है ? मैं स्पष्ट कहता हूं कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है ।"[1]

यह भाष्य सुनकर रामगुप्त हतबल हो जाता है । यह हेत्वारोपण उसे असह्य हो जाता है । मनोग्रस्तावस्था में चन्द्रगुप्त को मारना चाहता है लेकिन सामन्त कुमार उसका वध कर देते हैं ।

'ध्रुवस्वामिनी' के कथोपकथन चारित्र्य सृष्टि में सहायक हैं । मनोवैज्ञानिक सामाजिक यथार्थ के धरातल पर सभी ऐतिहासिक पात्रों को उतारा गया है । चरित्र-चित्रण में सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का धड़कता हुआ संवेदन चित्रित है । ध्रुवस्वामिनी को उपहार की वस्तु मानने पर उसकी 'नारी' तिलमिला उठी, नारी का अहम् जागृत हो उठा । वह पूछती है - "मैं जानना चाहती हूं कि किसने सुख-दुख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निवेदी के सामने की है ? रामगुप्त के उत्तर न देने पर वह कहती है - "मैं स्वीकार करती हूं कि आजतक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई, किन्तु मेरा वह अहंकार चूर्ण हो गया है । मैं तुम्हारी रहूंगी ।" लेकिन रामगुप्त उसे उपहार की वस्तु समझकर किसी दूसरे को दे देना चाहता है ।

ध्रुवस्वामिनी के कथन में निर्भीकता दिखाई देती है वह शक-शिविर में चन्द्रगुप्त के साथ जाती है - "कुमार, यह मृत्यु और निर्वासन का सुख तुम अकेले ही लोगे, ऐसा नहीं हो सकता...हम दोनों ही चलेंगे । मृत्यु के गहवर में प्रवेश करने के समय मैं भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जाने की कामना रखती हूं ।" और यहीं पर चन्द्रगुप्त के प्रति उसके प्रेम को वाणी मिलती है - "कुमार, तुमने वही किया, जिसे मैं बचाती रही । तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भीगी जा रही हूं ।'

ध्रुवस्वामिनी नाटक की नायिका होने के बावजूद भी पुराने संस्कारों - और नये विचारों के पाट में जीवन भर पिसती रही - शकराज की मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त को समीप

पाकर भी - वह पिसती रही : यथा - "क्या वह मेरी भूल न थी - जब मुझे निर्वासित किया गया, तब मैं अपनी आत्म-मर्यादा के लिये कितनी तड़प रही थी, और राजाधिराज रामगुप्त के चरणों में रक्षा के लिये गिरी, पर कोई उपाय चला ? नहीं । पुरूषों की प्रभुता का जाल मुझे अपने निर्दिष्ट पथ पर ले ही आया ।" हां व्यक्तित्व के विरोधाभास की पीड़ा को जीवन भर भोगने के बाद ही वह निष्कर्ष पर पहुंची - "इस वृक्ष में दो हृदय हैं क्या ? जब अन्तरंग 'हां' कहना चाहता है तो ऊपरी मन 'ना' क्यों कहला देता है ?" वर्तमान युग की नारी भी ध्रुवस्वामिनी की पीड़ा की अनुभूति भोग रही है, उसके लिये ध्रुवस्वामिनी का व्यक्तित्व प्रेरक है ।

कोमा जो अपने मनोभावों को न तो छिपाती और न अति बौद्धिकता का शिकार होती है । वह स्पष्ट शब्दों में शकराज से कहती है - "मैं तो समझती हूं, मनुष्य उन्हें जीवन के लिए उपयोगी समझता है । मकड़ी की तरह लटकने के लिए आप ही जाल बुनता है । जीवन का प्राथमिक प्रसन्न उल्लास मनुष्य के भविष्य में मंगल और सौभाग्य को आमन्त्रित करता है । उससे उदासीन नहीं होना चाहिए महाराज...आप अपने से महान के सम्मुख थोड़ा-सा विनीत बन कर इस उपद्रव से अलग रह सकते थे...अभावमयी लघुता में मनुष्य अपने को महत्वपूर्ण दिखाने का अभिनय न करे तो क्या अच्छा नहीं है ?" शकराज की अपने प्रति बढ़ती उदासीनता से वह दुखी होकर स्पष्ट शब्दों में कहती है - "प्रेम का नाम न लो । वह एक पीड़ा थी जो छूट गयी । उसकी कसक भी धीरे-धीरे दूर हो जाएगी । राजा, मैं तुम्हें प्यार नहीं करती । मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्वमयी पुरूष-मूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों पर खड़े रहने की दृढ़ता थी । इस स्वार्थ मलिन, कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं ।"

चन्द्रगुप्त, जिसने प्रेम की घनीभूत पीड़ा को त्याग के चमकदार भाव में छिपाकर तथा राज्य के त्यागने पर भी गुप्त-कुल का गौरव नहीं बच सका । उसे बचाने के लिये उसका पुरूषत्व हुंकार उठता है ! त्याग की निष्प्राणता लेकर वह क्या करेगा - "जिस मर्यादा के लिये, जिस महत्व को स्थिर रखने के लिये, मैंने राज्य-दण्ड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया, उसका यह अपमान ! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को पददलित न होना पड़ेगा ।"

प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त के मनोविज्ञान को सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से देखा है । चन्द्रगुप्त ने त्याग किया - किसके लिये ? क्या यह 'शील का कपट' नहीं है ? प्रसाद जी

ने चन्द्रगुप्त के इस मनोविज्ञान को सही ढंग से कथन में चित्रित किया है । उसका अर्जस्वित तेज इन शब्दों में फूट पड़ता है - "मैं भी आर्य समुद्रगुप्त का पुत्र हूं और शिखर स्वामी, तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मैं ही उनके द्वारा निर्वाचित युवराज भी हूं । तुम्हारी नीचता अब असह्य है । तुम अपने राजा को लेकर इस दुर्ग से सकुशल बाहर चले जाओ । यहां अब मैं ही शकराज के समस्त अधिकारों का स्वामी हूं ।"

आचार्य मिहिरदेव दो नारियों (कोमा व ध्रुवस्वामिनी) का एक साथ अपमान करने के दोष को समझाते हुए वे शकराज से कहते हैं - "राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्व मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है । राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षण भर के लिए तुम अपने को चतुर समझ लेने की भूल कर सकते हो, परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना, सबसे बड़ी हानि है । शकराज, दो प्यार करने वालों के हृदय के बीच स्वर्गीय ज्योति का निवास है ।"

ध्रुवस्वामिनी के कथोपकथन नाटक के क्रिया-व्यापार को आगे बढ़ाने में तथा चरित्रों की सूक्ष्म रेखाओं के उद्घाटन में सहायक हैं । ध्रुवस्वामिनी के सम्वादों में काव्यात्मक दार्शनिकता का बाहुल्य नहीं है । इनमें व्यावहारिकता है । इन संवादों में निरर्थक विस्तार नहीं है । सरल और अविस्तृत सम्वाद ध्रुवस्वामिनी की नाटकीयता में सहायक है । इसमें बौद्धिक स्तर की समस्या को उठाने पर भी रूक्षता कहीं नहीं है, बल्कि मर्मस्पर्शिता है । इस नाटक में व्यंग्य और कटूक्तियों का समावेश भी अच्छे ढंग से किया गया है । प्रतिहारी के पूछने पर कि "भट्टारक इधर आये हैं क्या ?" ध्रुवस्वामिनी मुस्कराते हुए कहती है - "मेरे अंचल में तो छिपे नहीं हैं । देखो, किसी कुंज में ढूंढ़े ।" चारित्रिक संघर्ष एवं मनोविज्ञान के प्रबल आधार में दृष्टिगोचर होता है । सम्वादों में युगीन चेतना, युगीन समस्या और समसामयिक समस्याओं का भी समावेश किया गया है ।

मूल्यांकन

नाटक के मूल तत्त्वों तथा विविध उपकरणों में कथोपकथन का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है । तथ्य तो यह है कि रंगमंच-निर्देशों को यदि नाटक से निकाल दिया जाय तो कथोपकथन के अतिरिक्त अवशिष्ट रहता ही कुछ नहीं । कारण यह है कि नाटककार को अभिष्ट सिद्धि तक पहुंचाने का एकमात्र वाहन संवाद ही तो है । अर्थात् नाटक का प्रथम उपजीव्य सम्वाद को मानना चाहिए । नाटक का कथानक कथोपकथन पर आधारित रहता

है । क्रिया-व्यापार और नाटक की गत्यात्मकता का आधार भी सम्वाद ही है । चरित्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं को कथोपकथन द्वारा ही उद्घाटित किया जा सकता है । प्रसाद जी की प्रारंभिक संवाद-योजना और उत्तरार्द्ध के नाटकों की संवाद-योजना में बहुत अन्तर है । प्रसाद के प्रयोगकालीन नाटकों में अन्य नाटकीय तत्त्वों की भाँति कथोपकथन भी अव्यावहारिक और कृत्रिम है । 'प्रायश्चित' में प्रसाद ने संस्कृति की रूढ़िवादी संवाद-योजना का अनुसरण किया है । 'सज्जन' में पद्यात्मक, 'राज्य श्री' में अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित तथा छोटे-छोटे, 'विशाख' में राज्यश्री की अपेक्षा निखरा हुआ संवाद मिलता है । 'विशाख' में प्रणय-व्यापार के संवादों में प्रसाद का युवक व्यक्तित्व झलक मारता है । 'विशाख' नाटक की अपेक्षा उत्तरार्द्ध के नाटकों के संवादों में परिपक्वता आ गई है । इस नाटक के प्रणय-व्यापार के कथोपकथनों में हल्कापन है, उन्माद का अतिरेक है, यथा - चन्द्रलेखा का यह कथन - "यही कि जब तुमसे बात-चीत होने लगती है, तब मेरा मन न जाने कैसा करने लगता है । तुम्हारी सब बातें स्वीकार कर लेने की इच्छा होती है । तो भी....विशाख तो भी..फिर वही तो भी, और तो भी क्या ?"

संवाद योजना की दृष्टि से प्रौढ़तर प्रयोग 'अजातशत्रु' है । यहां से प्रसाद की संवाद-कला में निखार आने लगता है । जिसकी पूर्ण परिणति चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त व ध्रुवस्वामिनी में दिखाई पड़ती है । सम्वाद योजना का वैभव इन नाटकों के कथा के विकास में सहायक है । इन नाटकों के कथानकों में जीवन की वास्तविकता और मार्मिकता एक साथ व्यंजित है । प्रसाद के संवादों में भावात्मकता, कल्पना और कवित्व अधिक है । डॉ. दशरथ ओझा ने प्रसाद के संवादों को अस्वाभाविक माना है । लक्ष्मीनारायण मिश्र ने काव्यात्मक संवादों की नाटकीयता के प्रतिकूल निरूपित किया है ।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने अधिक संयत बात कही है - "शैली और संवाद दोनों में प्रसाद जी के नाटकों में काव्यत्व दृष्टिगोचर होता है । उनकी शैली काव्यात्मक है और पात्रों द्वारा कथित संवादों में भी काव्य की प्रमुखता है । उसमें काव्य-भावना की विशेषता है ।" नाट्यकला की दृष्टि से संवादों में कोरी बौद्धिकता, सम्भाषण-पटुता उक्त वैचित्र्य नहीं है । इस दृष्टि से उन्होंने नाटकों का माध्यम गद्य की रखा है, परन्तु वह गद्य कवित्व के अधिक समीप है ।"

प्रसाद की नाटकों में सभी पात्र कथन में खड़ी बोली का प्रयोग करते हैं, परन्तु उनकी भाषा में परिवर्तन विषय की गहनता के कारण होता है, प्रान्त की विभिन्नता के

कारण नहीं । यथा -

एक ही पात्र नरदेव न्यायासन पर बैठकर न्याय करते समय व्यवहारोपयोगी सरल भाषा का प्रयोग करता है किन्तु प्रव्रज्या ग्रहण के उपरान्त गहन दार्शनिक भाषा बोलता है । उदाहरणस्वरूप कथन देखिए -

> "एक पिशाचग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी । गर्व के उद्वेग में मैंने सोचा था कि उस नदी में अपने बाहुबल से संतरण कर जाऊं, पर मैं स्वयं बह गया । सत्य है, परमात्मा की सुन्दर शान्त सृष्टि को व्यक्तिगत मानापमान, द्वेष और अहिंसा से किसी अधिकारी को भी आलोड़ित करने का अधिकार नहीं है ।"

प्रसाद के सेवादों भाषा में एकवाक्यता एवं एकात्मकता है, विविधता नहीं कहना गलत होगा । प्रमाण के लिये - भिक्षु धर्म के उत्थान पतन पर विचार करता हुआ नागरिक से कहता है - "धर्म भी क्या अधर्म हो जाता है ? प्रणय क्या पाप में परिवर्तित होता है ? भगवान्, यह तुम्हारे धर्म-राज्य की कैसी व्यवस्था है ! क्या धर्म भी प्रतिघात होता है ? उसका भी पतन और उत्थान है ?"

'राज्यश्री' और 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद ने संवाद-योजना में शब्दों का चयन, भाषा का प्रभाव, भाषण का लाघव, जनता की योग्यता और नाटक के व्याापार पर आश्रित है । इसके प्रतिकूल 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त', में क्लिष्ट शब्द, दीर्घ वाक्यावली, बृहद् भाषण कहीं-कहीं इस रूप में आ जाते हैं कि उनमें आमूल परिवर्तन बिना अभिनय सफल हो ही नहीं सकता है ।

प्रसाद-युग के प्रमुख नाटककारों के नाटकों में संवाद

सन् 1910 से 1933 तक के समस्त नाटकों पर प्रसाद की अर्जस्वित प्रतिभा का प्रभाव है । उनकी 'निजता' - चरित्रों की काव्यात्मक दार्शनिकता, राजनीतिक विस्फोटक घटनाओं का देशप्रेम के संदर्भ में चित्रण, असफल यौवन, करूण प्रणय और प्रेम की व्याकुलता

के चित्रण में - दिखाई पड़ती है । इनकी जैसी प्राणत्ता इस युग के अन्य किसी नाटककार में नहीं है । इसीलिए नाट्य विकास के इतिहास में इस युग को प्रसाद-युग कहा जाता है । प्रसाद -युग नाटककारों का एक मण्डल बन गया था । प्रसाद ने साहित्य की विविध विधाओं में से नाटक की विधा को इतनी गरिमा दे दी थी कि उसमें अधिकांश साहित्यकार रचनाएं करने लगे थे । इस युग के उल्लेखनीय नाटककारों में - गोविद वल्लभ पन्त, बेचन शर्मा 'उग्र', उदयशंकर भट्ट 'सुदर्शन', जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', लक्ष्मीनारायण मिश्र व हरिकृष्ण 'प्रेमी' हैं । इनमें से अन्तिम दो प्रसाद के परवर्ती नाटककार माने जाते हैं किन्तु इन्होंने प्रसाद के युग में लिखना प्रारंभ किया था ।

उपर्युक्त नाटककारों के कई नाटक प्रसाद-युग के हैं और कई नाटक प्रसादोत्तर युग के । किन्तु नाटकों की टेकनीक, चरित्र-चित्रण तथा नाट्य शिल्प की दृष्टि से प्रसाद युग और प्रसादोत्तर युग के नाटकों में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा है ।

गोविन्द वल्लभ पन्त के नाटकों में संवाद

पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त ने हिन्दी नाट्य क्षेत्र में अपने 'कंजूस की खोपड़ी' (1923 ई.) नामक नाटक के साथ सन् 1923 ई. में प्रवेश किया । प्रसाद-युग में नाटककार के रूप में गोविन्द वल्लभ पन्त का स्थान महत्वपूर्ण है । उन्होंने अपने नाट्य-साहित्य का सृजन, प्रसाद की भांति राष्ट्रीय या साम्प्रदायिक एकता की स्थापना की प्रेरणा से नहीं किया, वरन् 'कला के लिए कला' की भावना से किया है ।

पन्त जी के दो नाटक कंजूस की खोपड़ी (1923) और वरमाला (1925) प्रसाद युग में प्रकाशित हुये । शेष नाटक - राजमुकुट (1935), अंगूर की बेटी (1937), अन्तःपुर का छिद्र (1940), तथा 'सिन्दूर बिन्दी' और 'ययाति' (1948) में प्रकाशित हुए हैं ।

प्रसाद युग तथा प्रसादोत्तर युग में लिखे गये पन्त के नाटकों में संस्कृत नाटकों की नाट्य परंपरा, पारसी रंगमंच, आधुनिक चित्रपट की टेकनीक और पाश्चात्य नाट्यकला का प्रभाव परिलक्षित होता है । उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक क्षेत्र से अपने नाटकों की कथावस्तु का चयन किया है ।

'वरमाला' और 'ययाति' पौराणिक नाटक है । 'राजमुकुट' और 'अन्तःपुर का छिद्र' ऐतिहासिक नाटक है । अंगूर की बेटी तथा 'सिन्दूर बिन्दी' सामाजिक नाटक हैं । वैसे प्रो.

जयनाथ 'नलिन' के अनुसार पंत जी के नाटकों की प्रेरणा - "कला का अनुरोध या नाटक-निर्माण-कामना का आग्रह है ।"[1]

प्रसादयुगीन नाटकों के अनुरूप पन्त के नाटकों में स्वगत भाषण और गीतों की बहुलता है । पंत के नाटकों में संवाद का वैशिष्ट्यपूर्ण प्रयोग हुआ है । इनके संवादों की दो विशेषताएं मुख्य रूप से उल्लेखनीय है । पहली बात यह है कि लेखक ने भावात्मक स्थलों का बहुत सुन्दर उपयोग किया है और ऐसे अवसरों पर पात्रों के कथन भावोत्कर्ष की अभिव्यक्ति भली प्रकार करते हैं । दूसरी विशेषता पात्रों की बातचीत में है । पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप में सार्थकता और गतिशीलता सर्वत्र मिलती है । सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि शैली, परिस्थिति और चरित्र कल्पना की दृष्टि से पंत जी के नाटकों में कथोपकथन का सुन्दर निर्वाह हुआ है । पन्त के संवादों में सहजता और स्वाभाविकता है । संवादों की संक्षिप्तता, लघुता, गतिशीलता और आकस्मिकता अभिनयोचित है ।

वरमाला (1925)

'वरमाला' पन्त जी का पौराणिक नाटक है । 'वरमाला' नाटक-साहित्य की वास्तव में वरमाला ही सिद्ध हुई है । प्रेम एवं संघर्ष का एक अत्युत्तम मनोवैज्ञानिक चित्र इस नाटक में साकार हुआ है । डॉ. गणेशदत्त गौड़ के शब्दों में - वरमाला भाव नाट्य में अवीक्षित और दिकर्षण से सम्पन्न है । चेतन और अचेतन मन का द्वन्द्व प्राय: कभी प्रेम को घृणा और घृणा को प्रेम में परिवर्तित कर डालता है ।"[2]

इस नाटक का आरंभ विदिशा में वैशालिनी के स्वगत से होता है । वह कुसुम को सम्बोधित करके अपने भावबोझिल मन को बहलाती है । वह कहती है - "वह एक छोटा-सा बीज मेरे मन को चंचल नहीं कर सकता, मैं उसके छिपे सौन्दर्य को न देख सकी । मैंने उसे बड़ी असावधानी से भूमि पर बिखरा दिया । पक्षी के भय से उसने अपने को भूमि के भीतर छिपा लिया । आकाश का श्याम मेघ न जाने किसके संकेत से पानी बरसा गया । उसें पृथ्वी के हृदय से निकालकर एक सुन्दर तरूवर का रूप देकर चला गया । बहुत दिन तक ग्रीष्म के ताप, शिशिर के शीत और वायु के झौंकों में खड़े -खड़े उसे तपस्या करनी पड़ी ।

---

1. प्रो. जयनाथ 'नलिन' : हिन्दी के नाटककार, पृ.-98 ।
2. डॉ. गणेशदत्त गौड़ : आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ.-187 ।

अचानक एक दिन कुसुमाकर वसंत ने प्रकट होकर कहा - "वर मांग । अपनी कांति से मेरे मन को हरने वाले पुष्प तेरे लघु जीवन का यही इतिहास है ।"[1]

भूमण्डल का राजकुमार अवीक्षित स्वयम्वर के एक दिन पूर्व अपने प्रेम का प्रतिपादन पाने की इच्छा से विदिशा की राजकुमारी वैशालिनी से सम्पर्क स्थापित करता है । उपवन में दोनों के बीच वार्तालाप होता है । वैशालिनी अवीक्षित से कहती है - "क्या यहीं तुम्हारी वीरता का प्रमाण है ? तुमने इस तरह एक चोर की भांति मेरे उपवन में पदार्पण किया । मैं पूछती हूं, क्या तुम क्षत्रिय हो ?....चुप रहो । मैं तुम्हारे मौन से उसका उत्तर चाहती हूं, तुम्हारी अनुपस्थिति से इसका उत्तर मांगती हूं । जवाब देने के बदले यहां से चले जाओ ।"

अवीक्षित - महाराज करंघम के राजकुमार के हाथ देवता से वरदान मांगने में संकुचित होते हैं, उन्हीं से वह तुम्हारी प्रेम-भिक्षा मांगता है । सुन्दरी ! अपने सौन्दर्य की ज्योति से मेरे प्रासाद को उद्भाषित करो । मैं अपने बाहुबल से लोक जीतकर तुम्हें उनकी अर्धाश्वरी बनाऊंगा ।"[2]

यहां वैशालिनी क्रोध के संवेग से ग्रस्त हुई है । और अवीक्षित के इड पर प्रकाश पड़ता है । वैशालिनी अवीक्षित के प्रेम का अनादर करते हुए उससे कह उठती है - "हमें राह का भिखारी बना दोगे, हमारा राजमुकुट चूर्ण कर दोगे, सुख कुचल डालोगे, ऐश्वर्य धन संपत्ति सब कुछ छीन लोगे । किन्तु मेरे प्रेम को बलपूर्वक हथियाना तुम्हारी शक्ति के बाहर है । वह बड़ा ही सुन्दर अवसर होगा, जब फटे कपड़े पहने, भूखी-प्यासी वैशालिनी अपने मन से अपना प्रेम देगी जब वह धन, बल और रूप को नहीं प्रेम को प्यार करेगी ।"[3] इस कथन में वैशालिनी का प्रबल अहम् दृष्टिगोचर होता है ।

कथोपकथन के प्रयोग में पंत जी ने पर्याप्त दक्षता का परिचय दिया है ।

---

1. वरमाला, पृ.-12 ।
2. वरमाला : गोविन्द वल्लभ पन्त, पृ.-17-18 ।
3. वरमाला : गोविन्द वल्लभ पन्त, पृ-21 ।

सामान्यतः पात्रों के वार्तालाप में प्रयोजनयुक्त, गतिशील और संक्षिप्त कथनों की ही प्रचुरता है । पारसी नाटक कम्पनियों ने दो प्रकार के कथनों का विशेष इस्तेमाल किया है, जिन्हें अंग्रेजी में Soliloque अर्थात् स्वगत एवं Repartee अर्थात् वैविध्यपूर्ण कथोपकथन कहते हैं । पंत जी के नाटकों में यह दोनों प्रभाव ग्रहण हुए हैं अर्थात् विस्तृत भावात्मक कथन भी है और चुस्ती के साथ सम्पादित कथोपकथन का क्रम भी मिलता है । सामाजिक चित्रण के अभिप्राय से लिखे हुए नाटकों में वैविध्यपूर्ण संवाद के अधिक निखरे हुए उदाहरण मिलते हैं । यथा -

अवीक्षित् - मैं तुमसे एक बात पूछता हूं । उत्तर दे सकोगी ?
वैशालिनी - क्या ?
अवीक्षित - तुम्हारा स्वयंवर कब होगा ?
वैशालिनी - कैसा स्वयंवर ?
अवीक्षित - मैंने सुना है, तुम्हारा दूसरा स्वयंवर होगा ।
वैशालिनी - हां, यह मेरे पिता का अनुरोध था ।
अवीक्षित - किन्तु !
वैशालिनी - मेरी इच्छा नहीं है ।
अवीक्षित - क्यों ?
वैशालिनी - क्यों ? तुम यह प्रश्न मुझसे क्यों करते हो ? तुम बड़े ही कठोर हो । मुझे स्वयंवर की क्या आवश्यकता है ?
अवीक्षित - यह क्या कहती हो ? क्या तुम्हारा विवाह हो चुका ?
वैशालिनी - हां ।
अवीक्षित - तुमने किसे चुना ?
वैशालिनी - जो मेरा था ।
अवीक्षित - वह ऐसा भाग्यशाली कौन है ?
वैशालिनी - पहले मैंने उसे प्यार नहीं किया । मैं उसे 'अच्छी' तरह पहचान ही न सकी । दूसरी बार मैंने उसे 'वीणा' बजाते हुए, फिर 'क्षितिज' की पश्चिमी सीमा पर 'वसंत' के अंत में देखा । उस दिन वह पूर्ण रूप से सुसज्जित था, वह दूर से बड़ा ही मनोहर जान पड़ा । मैंने मोहित होकर उसके गले में अपनी वरमाला डाल दी ।"[1]

---

1. वरमाला, पृ.-40-42 ।

एक दृश्य में अवीक्षित वैशालिनी के चित्र को ध्यानपूर्वक देखते हुए अपने स्वगत-भाषण में कहता है - "बोलो वैशालिनी ! कुछ तो बोलो । कहो, क्या तपोवन के एकान्त में तुम्हें कभी मेरी याद आती है ? जब कोयल नवीन वसन्त का सन्देश लेकर तुम्हारे पास आती है तब तुम मेरे अभाव का अनुभव करती हो, या नहीं ? जब वर्षा का अन्तिम मेघ जाने को होता है तो तुम उसे सजल सतृष्ण दृष्टि से देखती हो, या नहीं ? हे सुन्दरी ! जब तूने संसार को छोड़ दिया, तो अपने चिह्न वहां से अपने साथ क्यों न ले गई ?"[1] यहां अवीक्षित मनस्ताप सिद्धान्त से ग्रस्त हुआ परिलक्षित होता है ।

सन्यासिनी वैशालिनी वन में अकेली गाते हुए यत्र-तत्र घूम रही है । एक रात्रि में वह स्वप्न में अवीक्षित को देखती है । स्वप्न में दोनों के बीच हुआ वार्तालाप सुनने लायक है ।

वैशालिनी - क्षमा करो नाथ ! वैशालिनी क्या आपसे घृणा कर सकती है ? नहीं, यह उसकी शक्ति के बाहर है । अपने स्वामी से घृणा ? इस जन्म में नहीं, जन्म-जन्मान्तर में नहीं ।

अवीक्षित - किन्तु बहुत देर हो गई वैशालिनी । जो तत्त्व मेरे हृदय में तेरे प्रेम रूप से था, वह अब भयंकर बदला बन गया है ।"[2]

प्रस्तुत अवतरण में अचेतनेच्छा की पूर्ति परिलक्षित होती है ।

अनेक कथोपकथन में ओजस्वी, प्रवाहमय और गतिशील बन पड़े हैं । वे पात्रानुकूल तो हैं और मनोवैज्ञानिक भी प्रमाणस्वरूप ये पंक्तियां प्रस्तुत हैं -

"अवीक्षित - तुम मुझसे प्रेम नहीं करती ?

वैशालिनी - प्रेम करती हूं, लेकिन तुमसे नहीं तुम्हारी घृणा से ।

अवीक्षित् - तुम मुझसे विवाह न करोगी ?

---

1. वरमाला, पृ.-64 ।

2. वरमाला, पृ.-75 ।

वैशालिनी - मैं सूखे वृक्ष से अनुराग करूंगी, कुटिल चन्द्र को प्यार करूंगी, मूक पत्थर की प्रतिमा से विवाह कर लूंगी, कुमारी हो मर जाऊंगी, पर तुम ? तुम मेरे पति न होओगे ।"[1]

वरमाला के कथोपकथनों की भाषा सरल, मधुर, पात्रानुकूल और वातावरण के अनुसार है ।

प्रसाद-युग में 'वरमाला' नाटक लिखने के बाद भी प्रसादोत्तर युग में उनकी लेखनी गतिमान रही । पन्त जी के अन्य नाटकों (प्रसादोत्तरकालीन) के संवादों का परिचय इस प्रकार है -

'राजमुकुट' (सन् 1935)

'राजमुकुट' ऐतिहासिक नाटक है । यह नाटक राजपूताने के गौरवपूर्ण इतिहास का एक सुवर्ण पृष्ठ है ।

महाराणा विक्रमसिंह किसी चिन्ता में व्यग्र हैं । अपनी चिन्ता को भूलने के लिए वह मदिरा का आश्रय लेता है । एक अवसर पर वह दुखिनी से कहता है - "उसे मरने दो । क्या मैंने उसकी फसल काटी है ? देश में अकाल पड़ा है, तो क्या बादलों का राजा मैं हूं ।"[2] उक्त संवाद में विक्रमसिंह की विफलता एवं मनोग्रस्तता पर प्रकाश पड़ता है । मेवाड़ के महाराणा के प्रति घृणा की भावना बनवीर के अन्दर पैदा करने के लिए वह पीठ पर कटार भोंकने का स्वांग रचाती है । घातक भाग जाने के उपरान्त बनवीर अपनी मां शीतल सेनी से कहता है - "उसने (विक्रम) ने तुम्हारा अपमान किया, वृद्ध पिता तुल्य सरदार कर्मचन्द जी का तिरस्कार किया, प्रजा को असंख्य कष्ट दिये, आज वही मेरे प्राणों का भूखा है । तुम्हारा बदला, सरदारों का अनुरोध, प्रजा का हाहाकार और अपने प्राणों का मोह - मैं इन सबके लिए मेवाड़ के सिंहासन पर बैठूंगा । बताओ मां ! राजमुकुट कहां है ?"[3] यहां बनवीर में प्रतिस्पर्धात्मक इच्छा की अवतारणा हुई है ।

---

1. वरमाला, पृ.-20 ।

2. राजमुकुट : गोविन्द वल्लभ पन्त, पृ.-15 । 3. राजमुकुट : गोविन्द वल्लभ पन्त, पृ.-33

इस नाटक के कथनों से मालूम होता है कि सच्चा परमानन्द पन्ना को ही होता है । क्योंकि 'राजमुकुट' का प्रमुख आधार-स्तम्भ वही है । राजतिलक के आनन्दोत्सव में वह कृत-कृत्य होकर कहती है - "यह दिन देखने की बड़ी साध थी । यह वह चिर लालसा का राजमुकुट है । यह तुम्हारे मस्तिष्क पर सुशोभित हो, तुम चित्तौड़ के महाराणा हुए उदय !"[1] इस कथन से परिलक्षित होता है कि पन्ना में संतोष भाव की अभिव्यक्ति हो गयी है ।

नाटक के संवादों की सबसे बड़ी विशेषता है - उसकी ओजस्विता और गतिशीलता । सरलता, सरसता तथा पात्रानुकूलता इनके गुण हैं । उदाहरणतया -

उदय - (उठकर) धाई मां ! धाई मां ! यदि सरदारों ने कल प्रभात समय महाराणा विक्रम को मुक्त न किया, तो क्या होगा ?

पन्ना - तुम अभी तक नहीं सोए । चिन्ता न करो, विक्रम कल अवश्य मुक्त होंगे । रात को इतनी देर तक जागते रहोगे, तो बीमार पड़ जाओगे ।

उदय - तुम भी तो अभी तक जाग रही हो । तुमने चारण से एक गीत याद किया था । मैं उसी को सुनते-सुनते सो जाना चाहता हूं ।"[2]

इस कथन से ज्ञात होता है कि उदय में बालकों का संवेगात्मक व्यवहार का भाव उद्‌भाषित हुआ है ।

'राजमुकुट' के काथनों की भाषा अत्यंत संयत, सरल एवं सुबोध है । कुछ स्थलों पर चुटीले और मार्मिक व्यंग्यों की अवतारणा भी हुई है ।

'अन्तःपुर का छिद्र' पन्त कृत बौद्धकालीन इतिहास पर आधारित मौलिक नाटक है । नाटक में पन्त जी की शैली अत्यन्त समर्थ और आकर्षक है । पन्त जी की शैली में मर्ती के शब्द और वाक्यांश नहीं मिलते और गद्य का प्रवाह सरिता की स्वच्छ जलधारा के

---

1. राजमुकुट, पृ.-132 ।
2. राजमुकुट, पृ.-58 ।

समान आगे बढ़ता है । भावात्मक चढ़ाव-उतार व्यक्त करने की उसमें अपूर्व क्षमता है । भावोन्मेष के साथ कल्पना की उड़ान का सुन्दर संयोग हुआ है । कथनों की शैली के गुणों को प्रकट करने वाले अंश यहां उद्धृत कर रहे हैं -

एक दृश्य में कौशाम्बी के राजप्रसाद में महारानी पद्मावती कटार से धीरे-धीरे दीवार की ईंट कुरेदना आरंभ कर देती है । इतने में मंगाधिनी वहां आ जाती है । मंगाधिनी का द्वेष छिद्र देखकर जागृत होता है क्योंकि यह छिद्र संध्या समय विहार को लौटते हुए अभिताभ बोधिसत्व के दर्शन के लिये था । मांगाधिनी घृणाभाव से अपने आत्मनिवेदन में कहती है - "राजकुमार सिद्धार्थ ? यह तो उसी सन्यासी का नाम है । इसने मेरे साथ विवाह करना अस्वीकार कर मेरे पिता की आशाएं चूर-चूर की थीं । पुत्रहीन पिता का अपमान पितृहीन पुत्री से न भूला जा सके, और इस सिद्धार्थ का नाम प्रतिहिंसा हो ।"[1] इस कथन में मांगधिनी की प्रतिशोध ग्रंथि परिलक्षित होती है ।

इस नाटक के संवाद अधिक सफल, सशक्त, गतिप्रेरक एवं कलात्मक बन पड़े हैं । विषय और भाव के अनुसार उसकी धारावाहिता तीव्र हो गई है । उदाहरणतया -

"पद्मावती - सत्य नवीन का पर्याय नहीं ।
उदयन - (रूष्ट होकर) यदि तुम यहां से नहीं जाना चाहती, तो चुप रहो पद्मावती !
पद्मावती - क्या मांगधिनी भी आपसे यही उत्तर पाती है ?
उदयन - मुझे मत सताओ पद्मा ! मेरे मन में चैन नहीं है । न बोलो ।"[2]

इन कथोपकथनों से उदयन की मनोग्रस्तता पर प्रकाश पड़ता है ।

'अन्त:पुर का छिद्र' की भाषा भावानुरूप परिवर्तित होती रही है । इसमें प्रसाद और माधुर्य का यथार्थ परिष्कार हुआ है ।

'अंगूर की बेटी' में पन्त जी ने मदिरापान की समस्या आकर्षक ढंग से प्रस्तुत की

---

1. पंत : अन्त:पुर का छिद्र, पृ.-19 ।
2. पंत : अन्त.पुर का छिद्र, पृ.-62 ।

है । इस नाटक के सभी दृश्य साधारण और सरल है । कामिनी जैसी सुशील सुसंस्कृत गृहिणी अपने पति मोहनदास शराब पीने के दुर्व्यसन के कारण गलितमात्र हो जाती है । वह अपने स्वगत भाषण में कहती है - "संसार का अभागा पिता वह है जो अपनी सन्तान को बुरी संगति ने नहीं बचाता, और बदकिस्मत वह बेटा है जो बाप का कहना नहीं मानता । उस स्वामी की दुर्गति है जिसके दो स्त्रियां हैं, और शायद उस पत्नी से अधिक दुःखिता कोई नहीं है, जिसका पति शराबी है ।"[1] यहां कामिनी में मिश्रित भाव दृष्टिगोचर होता है ।

इस नाटक के कथोपकथन पात्रानुकूल और उनके चरित्र को विकसित करने वाले हैं । अधिकांश संवाद बड़े कलात्मक और प्रभावपूर्ण बन हैं । उदाहरणतया -

प्रतिभा - मैंने चोरी नहीं की, कहीं डाका नहीं डाला । मुझे तुम्हारे साथ भागने की जरूरत ?

माधव - ऐडवेंचर के लिए । इन जेवरों को बेचकर किसी तरह अमेरिका भाग चलेंगे । वहां मैं तुम्हें हॉलीउड की रानी बनाऊंगा - सारी दुनियां के पर्दे पर तुम्हारा सिक्का बैठेगा ।

प्रतिभा - लेकिन

माधव - प्रतिभा ! ऐंडवेंचर के लिए, नाम के लिए और अपने एक दोस्त की मदद के लिए । चलो ।"[2]

यहां कथन में इड एवं अन्तर्द्वन्द्व की यथार्थ अवतारणा हुई है ।

इस नाटक के कथनों की भाषा बोधगम्य, स्वाभाविक एवं प्रभावपूर्ण बन पड़ा है । विषयानुकूल वातावरण को रखने के लिए यथोचित शब्दों का प्रयोग किया गया है । इस नाटक में बुरी आदतों को तोड़ने के नियमों का यथार्थ परिष्कार हुआ है ।

'ययाति' पन्त जी का पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया नाटक है । एक दृश्य में चैत्ररथ वन की गुफा में गुरूदेव और दो खड्गधारी प्रहरियों के बीच वार्तालाप चल रहा है । इतने में पुरू आकर गुरूदेव से कहता है - "इस गुफा को देखकर मैं आश्चर्य में

1. अंगूर की बेटी : पंत, पृ.-10-11

2. अंगूर की बेटी, पृ.-98 ।

पड़ गया हूं । आप कहते हैं इसमें पांच द्वार हैं, पांच इन्द्रियां मेरी भी हैं । गुरूदेवे ! गुरूदेव ! मैं कहता हूं मेरा यह भीतरी मन खुलकर बाहर प्रकट हो गया है । मेरा यह देश निकाला धन्य है, जिसमें पहले अपनी देह से निकल जाना पड़ा है ।"[1] यहां पुरू के विचार भारतीय मनोविज्ञान के अनुकूल है । पुरू और विचित्रा के बीच हुआ कथोपकथन मनोविज्ञान की दृष्टि से दृष्टव्य है ।

विचित्रा - क्या कहती है ये काम बालाएं ?
पुरू - ये मेरे मन में कामना उपजाती हैं ।
विचित्रा - और तुम क्या करते हो ?
पुरू - मैं उन कामनाओं को मिटाता हूं ।
विचित्रा - (ओट से) यह भी कोई बात हुई ? मिटाना ही जब हुआ, तो फिर उपजाते क्यों हो ?"[2]

इस कथन से ज्ञात होता है कि पुरू पर लिबिडो वृत्ति का गहरा असर है ।

ययाति के कथोपकथन भी सजीव, स्वाभाविक एवं सुरूचिपूर्ण हैं । यत्र-तत्र मनोविज्ञान शैली का प्रयोग हुआ है । यथा -

ययाति - राज्य के तो नहीं, मेरे मन के भीतर एक शत्रु है, उसी को मिटाना चाहता हूं ।
बड़ा राजकुमार- कौन है वह ?
ययाति - कामना, अब भी नहीं समझे ।
बड़ा राजकुमार- वैराग्य से उसे जीत सकते हैं ।
ययाति - कर्म के युद्ध क्षेत्र में पीठ दिखाने का नाम ही वैराग्य है ।"[3]

'ययाति' नाटक की भाषा सरल, स्वाभाविक, पात्रानुकूल और वातावरण के अनुसार है ।

---

1. ययाति : पंत, पृ.-57 ।
2. ययाति : पंत, पृ.-72 ।
3. ययाति, पृ.-21 ।

गोविन्द वल्लभ पन्त ने 'सुजाता' नाटक के द्वारा मानसिक भावना ग्रंथि का एक यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है । 'सुजाता' के कथोपकथन ओजस्वी, प्रवाहमय और मनोवैज्ञानिक शैली के परिचायक है । प्राय: सभी संवाद सजीव, स्वाभाविक और संक्षिप्त है । उदाहरण के तौर पर -

सुजाता - और भी तो इसी सन्दूक में मेरी एक कापी है । उसमें मैंने स्त्रियों के कुछ लोक-गीत लिखे हुए हैं ।
रेखा - वह भी है (कापी निकालती है)
सुजाता - मैं फिर लिख देती हूं इस पर । मेरे अक्षरों की एकता से भी मेरी वाणी का सत्य प्रकट हो जायेगा । (मेज की दवात-कलम से कापी पर लिखती है) लो, देख लो ।
रेखा - हां बिल्कुल एक ही से तो है ।"[1]

उपर्युक्त संवादों से अक्षर-मनोविज्ञान की यथार्थ अवतारणा हुई है ।

'सुजाता' नाटक में भी स्वगत एवं वैविध्यपूर्ण संवाद के अधिक निखरे हुए उदाहरण मिलते हैं । यथा -

"रेखा - जल्दी न कीजिए, धीरे-धीरे सब कुछ हो जायेगा (भीतर चली जाती है) ।
विजय - तुमने देखा डॉक्टर, क्या देखा ?
डा. विसन - देखा । चिन्ता, अल्पाहार, श्रम और पति का तिरस्कार ही उसकी बिमारी है । तुम्हारी शरण पाकर सब कुछ ठीक हो जायेगा ।
विजय - कोई शारीरिक विकृति तो नहीं है ?
डा. विसन - नहीं ।
विजय -स्वाभाव की होगी ।
डा. विसन - मास्टर, बहुत दिनों से तुमसे एक सत्य छिपाते-छिपाते

---

1. पंत : सुजाता, पृ.-43 ।

थक गया हूं । अब नहीं ढका जा सकता वह । प्राणों पर बहुत भारी पड़ गया है ।

विजय - क्या बात है ?

डा. विसन - मास्टर मैं ही वह व्यक्ति हूं जो उस दिन तुम्हारा ताला खोलकर सुजाता को उसकी कैद के बाहर ले गया था लेकिन मेरा उद्देश्य पवित्र था ।

विजय - (वज्राहत सा होकर उसकी दोनों बाहों को पकड़ लेता है । फिर उसे झकझोरता है) तुम ले गये थे ? ऐसा नीच काम किया तुमने ? मित्र का विश्वासघात ?

डा. विसन - नहीं, बिल्कुल नहीं । तुम रोज उसे ताले में बन्दकर उसका अपमान करते थे । वह मेरे लिये असह्य हो उठा था । ताले की कमजोरी दिखाने को वैसा मैंने किया, अपने चरित्र की नहीं ।

विजय - यह सत्य तुम्हें आज से बहुत पहले मुझपर खोल देना था ।

डा. विसन - उसी रात को उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर क्यों उस शोक-कथा को फिर से लौटाता ?

× × × × ×

विजय - लेकिन वह मरी नहीं है ।

डा. विसन - कहां है ?

विजय - एक महीने बाद वह मेरे पास लौटकर आई ।

डा. विसन - फिर क्या हुआ ?

विजय - दर-दर ठोकर खाकर लौटने वाली उस नारी से कैसे अपना संबंध पहचान लेता ? मैंने उस प्रेत को अपने घर से निकाल बाहर कर दिया ।

डा. विसन - तुम्हारे प्रेम और पूजा से खिची हुई वह आई । वह कहां ठोकर खा सकती है ? किसकी पाप दृष्टि से वह मलिन होगी ? तुम्हारी ऐसी ही झूठी पवित्रता से तुम्हारे समाज का कोढ़ लाइलाज होता जा रहा है । मैं कहता हूं जब तक नारी के प्राणपति के प्रेम में प्रतिष्ठित है, पापी की कोई चेष्टा उसे अपवित्र नहीं

कर सकती । कहां है वह त्याग और तपस्या की
प्रतिमा ? कहां है वह देवी ?"[1]

पन्त जी का 'सिन्दूर बिन्दी' भी सामाजिक नाटक है । इसमें पतित बालिकाओं के उद्धार और रक्षा का चित्र खींचा गया है । 'अधूरी मूर्ति' नामक नाटक राष्ट्रीय एकात्मकता की दृष्टि से मौलिक प्रयास है । पन्त जी के प्रमुख पात्रों में शुरू में अन्तर्मन का संघर्ष एवं भ्रमात्मक भाव दृष्टिगोचर होता है । उनके नाटकों के कथोपकथन ओजस्वी, प्रवाहमय, स्वाभाविक,गतिशील, पात्रानुकूल एवं कलात्मक बन पड़े हैं ।

उदयशंकर भट्ट के नाटकों में संवाद

उदयशंकर भट्ट ने भी प्रसाद युग में कई नाटक लिखे जिनमें विक्रमादित्य (सन् 1933), दाहर (सन् 1934) और अंजना (सन् 1922) प्रमुख नाटक है । इन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक, पौराणिक तथा राजनीतिक नाटक लिखे । 'विक्रमादित्य', 'दाहर', ऐतिहासिक नाटक है । विद्रोहिणी अम्बा, सगर-विजय, पौराणिक नाटक है तथा 'क्रान्तिकारी' राजनीतिक नाटक है ।

'विक्रमादित्य' (1933) भट्ट जी का ऐतिहासिक नाटक है । इसमें राजाओं की अपनी व्यक्तिगत स्वार्थी प्रवृत्ति, गृहकलह एवं उनके कुचक्रों का यथार्थ दर्शन कराकर अन्त में सत्य की विजय दिखाई है । इस नाटक के संवादों की भाषा पर संस्कृत शैली का प्रभाव दृष्टव्य है । उनमें अलंकारिता के साथ-साथ शब्दाडम्बर की भी भीड़-भाड़ है । नाटक में उन्मुक्त भावानुयुक्त तथा प्रेमोन्मुक्त स्थल के संवादों का उदाहरण लीजिए -

"नहीं री, गतिहीन में किसी को देखकर स्पन्दन होना, नीरस में रस की वर्षा, हृदयहीन में हृदय बन जाना ही राग है । राग के थकने पर ही अनुराग की उत्पत्ति है । अनुराग आत्मा का गुण है । आत्मा इस संसार में व्याप्त है इसलिए अनुराग पकृति के हृदय में जागृत होकर ब्रह्माण्ड में अपना गुण फैलाता है । यही कारण है, लताएं तरूओं से लिपटती हैं । कलिया पवन से हंसी करती हैं, भास्कर उषा के पीछे दौड़ते हैं । हिमांशु चांदनी छोड़ते कतराते हैं । मेरे और तेरे हृदय का भी यह हाल है ।"[2]

---

1. सुजाता, पृ.-62-63 ।
2. विक्रमादित्य : उदयशंकर भट्ट, पृ.-25 ।

'विक्रमादित्य' पांच अंक में लिखा गया नाटक है । इसके कथोपकथन कहीं-कहीं अधिक विस्तृत है । उदाहरण के तौर पर विक्रमादित्य के संवादों को निर्देशित किया जा सकता है । विक्रमादित्य एक दृश्य में कर्तव्यपालन के लिये कल्याण का सिंहासन संभालता है । अन्त में वह कहता है - "भाई छूटा, स्त्री छूटी । राज्य मिला । पर राज्य की मुझे इच्छा ही कब थी । चाहता तो कोई देश जीत के चक्रवर्ती सम्राट बन गया होता ? इस राजतंत्र से तो मुझे घृणा है ।"[1] यहां विक्रमादित्य के अन्तर्मुखी सहजबोध प्रकार के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है । इस नाटक के संवादों में भावुकता, कवित्व एंवं मनोवैज्ञानिकता परिलक्षित होती है । यथा -

अनंग - दोनों ओर युद्ध की तैयारियां हो चुकी हैं, प्रातःकाल होते न होते युद्ध छिड़ जायेगा । हमारा यह पहला कर्तव्य है कि सेनापति सुवेग को शत्रु के षड्यन्त्र से सावधान कर दिया जाय ।

चन्द्र - परन्तु ऐसा करने से वह हमें पहचान जायगा । फिर संभव है महाराज को हमारे वेश-परिवर्तन की बात मालूम हो जाय ।

अनंग - (कुछ सोचकर) ऐसा होना संभव है ।

चन्द्र - अच्छा हो, अब हम काली मन्दिर में जाकर शत्रु की गतिविधि देखें । फिर उचित समय पर उस देवज्ञ के द्वारा सुवेग को समाचार पहुंचा देंगे ।"[2]

इस कथन से चन्द्रलेखा के व्यक्तित्व को सहजबोध अर्थात् सम्बोधों की निकटवर्ती सजगता दृष्टिगोचर होती है ।

उदयशंकर भट्ट ने 'दाहर' अथवा 'सिन्ध-पतन' नामक नाटक में भारत की धार्मिक प्रवृत्तियों एवं अन्धविश्वासों द्वारा हुए विध्वंस का यथार्थ निरूपण किया है । इसके कथोपकथन दार्शनिक, कवित्वमय एवं मनोवैज्ञानिक शैली से युक्त हैं । संक्षिप्तता एवं गतिशीलता उनका विशिष्ट गुण है । उदाहरण के तौर पर -

---

1. विक्रमादित्य, पृ.-88 ।

2. विक्रमादित्य, पृ.-59 ।

ज्ञान - बुड्ढा बड़ा अनुभवी निकला । इससे काम बनने की आशा नहीं है । हमने सोचा था इसका आदेश लेकर प्रान्त के समस्त बौद्धों को युद्ध के विरूद्ध उत्तेजित किया जाय ।

मोक्ष - पर उसने अन्त में जो कुछ कहा वह बात मेरे हृदय में जैसे बार-बार चोट करती है । परन्तु स्मरण रहे कि देश-विद्रोह सबसे बड़ा विघातक शत्रु है ।

ज्ञान - अरे भोले भाई, ये बातें राजनीतिज्ञ के लिये नहीं हैं साधारण गृहस्थ ही इन बातों पर विश्वास कर सकते हैं, हम नहीं ।

मोक्ष - हां और क्या ? राज्य प्राप्ति की आशा में ये चोटें उतनी उत्तेजक नहीं हैं ।"

इस कथोपकथन से भी ज्ञानबुद्ध एवं मोक्षवासव की जीवन शैली पर प्रकाश पड़ता है । इन नाटक में एडलर प्रणीत उपपत्तियों को दर्शाने का अभिनव प्रयास हुआ है ।

'विद्रोहिणी अम्बा' और 'सगर-विजय' भट्ट जी के पौराणिक नाटक हैं । विद्रोहिणी अम्बा में तत्कालीन एवं आधुनिक नारी का यथायोग्य चित्र प्रस्तुत हुआ है । इस नाटक की नायिका अम्बा अहम् से परिचालित पात्र है, जिसमें नारी जाति की विवशता यथार्थ रूप में परिणत हुई है । अम्बिका में भारतीय नारी की मर्यादा परिलक्षित होती है । इस सन्दर्भ में डा. नगेन्द्र ने कहा है - "अम्बा और भीष्म नाटक के प्रधान पात्र हैं, परन्तु इनका व्यक्तिगत विरोध नहीं है, भीष्म के हृदय में अम्बा के प्रति अनुकम्पा है । ये दोनों तो प्रतीक पात्र हैं - भीष्म प्रतीक हैं अभिमानी पुरूषत्व के, अम्बा प्रतिकृति है पीड़ित किन्तु जागृत नारीत्व की । इस संघर्ष को लेखक निष्पक्ष अथवा तटस्थ होकर नहीं देख सका - वह अम्बा की सहायता के लिए परशुराम की भांति अपना सम्पूर्ण प्रतिभा-बल लेकर आ खड़ा हुआ है । परशुराम तो भीष्म से हार गये, परन्तु लेखक अम्बा की पूर्ण विजय कराकर ही मानता है - शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की ।"[2] इस नाटक के कथोपकथनों के द्वारा कथानक स्वाभाविक रूप में विकसित हुआ है । इस नाटक में संवाद दार्शनिक, कवित्वमय, हृदयग्राही, चुटीले एवं मनोवैज्ञानिक बन पड़े हैं । यथा -

अम्बा - भला अम्बिका, तू कैसा पति चाहती है ?

---

1. उदयशंकर भट्ट : दाहर, पृ.-65 ।
2. डा. नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ.-87 ।

अम्बिका - (हंसकर) अम्बालिका - जैसा ।
अम्बा - और अम्बालिका तू ?
अम्बालिका - तेरे-जैसा ।"[1]

इस कथोपकथन में अम्बा एवं अम्बिका में आत्म-प्रेमवाद की अवतारणा हुई है । इस नाटक के संवादों की भाषा सुगठित, प्रवाहयुक्त, स्वाभाविक एवं मर्मस्पर्शी है । कई स्थलों पर नाटककार का सौन्दर्यशील कवि हृदय प्रस्फुटित हुआ है ।

भट्ट जी के 'सगर-विजय' नाट्यकृति में मानवी मन के अन्तःसंघर्ष पर गहरा प्रकाश डाला है । इस नाटक के सम्वादों में सबसे प्रमुख विशेषता स्वाभाविकता तथा व्यावहारिकता का गुण है । इस नाटक के प्रत्येक पात्र के कथन की आरोह-अवरोह में मनोवैज्ञानिकता परिलक्षित होती है । यथा -

अरून्धती - बेटा सगर, कहां जा रहे हो ?
सगर - अयोध्या जा रहा हूं, मां ।
अरून्धती - क्यों ?
सगर - मैं उनकी रक्षा करूंगा ।"[2]

इससे ज्ञात होता है कि सगर बालमनोवैज्ञानिक का अनूठा नमूना है । जर्मन दार्शनिक शिलर के अनुसार सगर में शक्ति का सिद्धान्त परिलक्षित होता है । इसमें कई स्थलों पर मार्मिक संवाद भी दृष्टिगोचर होते हैं ।

'क्रांतिकारी' भट्ट जी का राजनीतिक नाटक है इस नाटक में भारतीय क्रान्तिकारियों का उज्जवल ध्येयवाद यथार्थवाद रूप में परिष्कृत हुआ है । इस नाटक का नायक असाधारण पात्र है । देश की आजादी के सिवा उसके मन में दूसरा विचार नहीं है । उसका आचार-विचार, चिंतन, रहन-सह5 सिर्फ देश के लिए अर्पित है । इस नाटक के कथोपकथन पात्रों के चरित्र को गतिमान बनाते हैं । 'क्रान्तिकारी' के संवाद ओजस्वी, प्रवाहमय और गतिशी हैं । सरलता, सरसता एवं पात्रानुकूल इसके गुण हैं । यथा -

जीवन - (वैसे उसी के मुंह पर मारता हुआ) मुझे नहीं चाहिए ।

---

1. उदयशंकर : भट्ट विद्रोहिणी अम्बा, पृ. - 537 ।
2. उदयशंकर भट्ट : सगर विजय, पृ. -71 ।

थानेदार - नहीं बताओगे तो हम तुम्हारी दीदी और मां को पकड़कर ले जाएंगे ।

जीवन - मैंने किसी को नहीं देखा ।

थानेदार - देखो, बता दो । मिठाई दूंगा । बताओ कौन आया था ?

जीवन - मैं नहीं जानता ।"[1]

इस संवाद से ज्ञात होता है कि जीवन स्परैंगर के श्रेणी-विभाजन के अनुसार बच्चों के राजनीतिक व्यक्तित्व का परिचायक है ।

भट्ट जी ने 'मुक्तिदूत', 'नया समाज' आदि कई नाटक लिखे हैं । उनके गीति-नाट्य 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगन्धा', 'राधा', तथा कालीदास आदि नाटक पुराण संबलित है । संवादों के संबंध में कहते हुए हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि भट्ट जी के अन्तस् में उनका कवि और गीतकार सदैव जागरूक रहता है । भट्ट जी के संवाद निरन्तर विकासमान रहे हैं, संवादों में भावुकता का पुट है । कथनों की भाषा में लालित्य है और संस्कृत शैली का प्रभाव दृश्टव्य है ।

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' के नाटक और संवाद

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' प्रसाद युग के नाटककार हैं । इनका केवल सन् 1929 में प्रताप-प्रतिज्ञा जो कि प्रसाद-युग में लिखा गया, नाटक प्रकाशित हुआ और अन्य नाटक प्रसादोत्तर युग में लिखे गये । जिसमें - समर्पण (सन् 1950), गौतमनन्द (1952), प्रियदर्शी (1962), वीर चन्द्रशेखर (1967) और जय जनतंत्र (1969) आदि पांच नाटक लिखे । 'मिलिन्द' भी ऐतिहासिक नाटककार हैं केवल 'समर्पण' सामाजिक नाटक है । इनके सभी नाटकों में देश, समाज और जनतंत्र की रक्षा के लिए स्वर मुखरित होते रहे हैं । पात्रों के कथनों में अन्र्द्वन्द्व की अपेक्षा बहिर्मुखी प्रवृत्ति अधिक है । इन्होंने अपने नाटकों की रचना तीन उद्देश्यों से की है - 1. अभिनय, 2. ऐतिहासिक गौरव की आधुनिकता के सन्दर्भ में परखने का प्रयास, 3. आदर्श की प्रेरणा और सन्देश-ग्रहण ।

नाटक 'प्रताप-प्रतिज्ञा' लिखने की प्रेरणा का उल्लेख मिलिन्द जी ने 'समर्पण' नाटक की भूमिका में स्वयं किया है - "सन् 1929-30 में मैंने एक छोटा सा नाटक 'प्रताप-प्रतिज्ञा'

लिखा था । इसलिए लिखा था कि लिखना अनिवार्य हो गया था । मेरे जन्म स्थान मुरार - 'जो बृहत्तर ग्वालियर का एक उपनगर है, के कुछ विद्यार्थियों ने, जिनमें अनेक सम्भवत: बालचर थे, मुझ से अधिकारपूर्ण आग्रह किया कि उनके अभिनय के लिये प्रतापसिंह के जीवन से संबंधित कोई एक नाटक चुन दूं । उन्होंने मुझ पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये - नाटक देशप्रेम और राष्ट्रीयता से पूर्ण हो, छोटा सा हो, उसमें स्त्री-पात्र न हों आदि । उनके योग्य कोई नाटक न पा सका, तब उन्होंने छात्र-सुलभ सरलता से अचानक हठ किया कि मैं ही उनके लिए वैसा एक नाटक लिखूं । आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है । उस दिन अचानक विवश होकर अपने अन्दर नाटककार की प्रथम स्फूर्ति अनुभव की । शीघ्र ही प्रताप-प्रतिज्ञा नाटक लिख डाला गया ।" मिलिन्द जी के एक ही नाटक ने उन्हें नाटककार के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया ।

'प्रताप-प्रतिज्ञा' के संवाद छोटे-छोटे हैं । कथा की गत्यात्मकता को बनाये रखने में संवाद सहायक हैं । पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को संवादों के माध्यम से ही उद्घाटित किया गया है । कहीं-कहीं लम्बे संवादों का प्रयोग भी है । पात्रों के मनोभावों को विश्लेषित करने के लिए ही स्वगत भाषणों का आयोजन नहीं है, बल्कि वस्तु की सूचना के लिये भी यह आयोजन किया गया है । इस नाटक के संवादों में प्रसंगानुसार और भावानुकूल भाषा का प्रयोग है ।

इस नाटक का उद्देश्य स्वतंत्रता की प्रगति के लिये प्रयत्न करना है । चन्द्रावत जनता के प्रतिनिधि की हैसियत से विलासी राणा जगमल से राजमुकुट लेकर, वीर और स्वातंत्र्य प्रेमी राणा प्रताप को देते हैं । वह कहते हैं - "आज मैं प्रजा के प्रतिनिधि की हैसियत से वीखल वाप्पा रावल का यह उज्वल राजमुकुट राज-पुत्र प्रताप को कदापि नहीं - स्वदेश के सच्चे सैनिक को सौंपता हूं । इसलिये नहीं कि इसे पहनकर राजा प्रजा पर अत्याचार करे, इसलिए नहीं कि पहनकर सेवक प्रभु बन जाएं । मैं इसे सैनिक प्रताप को देता हूं - वीर प्रताप को देता हूं ।" अत: ऐतिहासिकता की रक्षा का पूरा प्रयास है । नाटकीयता की दृष्टि से ही मिलिन्द जी ने शिकार की घटना की कल्पना की है । शिकार के दावे को राजद्रोह कहना और इस आधार पर उसे देश-निकाला देना सत्ता का दुरूपयोग प्रतीत होता है । प्रताप कहता है - "अरे वाचाल ! जानता है, इस राजद्रोह का परिणाम क्या होगा ? मेवाड़ मुकुट के अपमान का फल मिलेगा ?" गृह-कलह को देखकर पुरोहित का संवाद देखिए - वीरता और अग्नि दोनों बड़ी उपयोगी है, बड़ी उज्जवल हैं, किन्तु हाय, उनका उपयोग अपने घर पर ही करने वाले नादान क्या कहे जा सकते हैं ? दयनीय - अभागे-आत्मघाती !"

एक दृश्य में मानसिंह और शक्तिसिंह को राणा-प्रताप के खिलाफ युद्ध करने के लिये भेजकर अकबर भी अंग्रेजों की भांति 'फूट डालो और राज्य करो' का समर्थक है । वह कहता है - "जाओ बेवकूफ बहादुरों, जाओ ! लड़ो, खूब लड़ो, बेइज्जती पाने के लिये लड़ो, गुलामी को गले लगाने के लिए जान लड़ाओ, दो घड़ी की सुर्खरू हासिल करने के लिए कौम की जड़ में आग लगाओ और अकबर-अकबर आराम करेगा । लोहों से लोहों को लड़ाकर फूलों की खुशबु लेगा ।"

इस प्रकार मिलिन्द जी कथोपकथनों के माध्यम से जिन पात्रों का चयन किया उसमें वे सफल हुए हैं ।

'मिलिन्द' जीका 'समर्थन' सामाजिक नाटक है । यह समस्या प्रधान नाटक भी कहा जा सकता है इसके संवादों में विवाह की समस्या मुख्य रूप से और हरिजनों की समस्या गौण रूप से, मजदूरों की समस्या का भी समावेश किया है । नाटक को सुबोध और सामयिक बनाने के लिए संवादों की भाषा में उर्दू-फारसी और अंग्रेजी के शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया गया है ।

'गौतमनन्द' ऐतिहासिक नाटक है । इस नाटक के संवादों की भाषा में प्रवाह और सारल्य आ गया है । इस नाटक की रचना द्वारा मिलिन्द जी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में त्याग और लोक-सेवा का आदर्श प्रस्तुत करना चाहते हैं । आनन्द नामक पात्र का संवाद देखिए - वह कहता है - "मानवता का चिरकल्याण तभी सम्भव होगा जब घर-घर से नन्द जैसे त्यागी तरूण लोकहित की साधना को साहसपूर्ण कंटकाकीर्ण पथ पर आगे बढ़ेंगे, अपने युग की पुकार पर, युग की आवश्यकता के अनुरूप कर्तव्य पालन करेंगे । भोगवाद, स्वार्थ, कायरता और अवसरवाद के प्रहारों से पीड़ित संसार का नया निर्माण - साहस, त्याग और बलिदान के आधार पर हो सकेगा ।"

'मिलिन्द' जी ने 'प्रियदर्शी' में बड़े राष्ट्रों के युद्ध-प्रेम को चुनौती दी गयी है । इसमें संवाद भावव्यंजक, संक्षिप्त और परस्पर गुम्फित हैं । संवादों की भाषा सरल और सुबोध है । 'वीर चन्द्रशेखर' भारतीय स्वातंत्र्य सग्राम में सशक्त क्रान्ति के प्रणेता 'आजाद' से संबंधित है । इसमें ऐतिहासिक पात्रों का चरित्र संवादों के द्वारा चित्रित है । 'जय-जनतंत्र' सन् 1967 में प्रकाशित नाटक है । ऐतिहासिक सन्दर्भो में यह नाटक भारत में जनतंत्र के समर्थक में लिखा गया है । संवादों में चरित्र विश्लेषित करने की क्षमता है । अर्न्तद्वन्द्व का सहारा लिया गया है । इसमें पाश्चात्य नाट्य-शैली का प्रचुर प्रभाव है ।

जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द' ने प्रसाद-युग में लिखना प्रारम्भ किया और अभी भी लिख रहे हैं लेकिन प्रसाद युग की राष्ट्रीयता, रोमांस, उदात्तता, चारित्रिक आदर्श, गीतों की बहुलता आदि से वे अपने को आज भी मुक्त नही कर सके हैं ।

बद्रीनाथ भट्ट के नाटक और संवाद -

प्रसाद-युग के प्रारम्भ से ही अनवरत रूप से नाटक लिखने वालों में बद्रीनाथ भट्ट का महत्वपूर्ण स्थान है । उनके प्रमुख नाटक है - कुरूवन-दहन (1914), चन्द्रगुप्तउ(1915), तुलसीदास (1915),बेन चरित्र (1921), दुर्गावती (1926), आदि है ।'दुर्गावती' बद्रीनाथ जी की सर्वश्रेष्ठ नाट्यकृति है । इसमें स्वच्छन्दतावादी नाट्य परम्परा श्का प्रतिनिधित्व है। बद्रीनाथ जी केवल इसी नाटक के कारण हिन्दी-नाट्य साहित्य में अमर हैं । 'दुर्गावती' के अधिकांश चरित्र ऐतिहासिक है । यह नाटक राष्ट्रीय ता और देशभक्त से ओतप्रोत है । दुर्गावती प्रस्तुत नाटक की नायिका है । वह केवल गढ़ामण्डला की रक्षा के लिए चिन्तित नही है उसे देश की भी चिन्ता है : यह कथन देखिए- 'जब तक किसी देश में विश्वासघाती नही होते तब तक उस देश की स्वतंत्रता पर कहीं से कोई वार नही कर सकता है ।'

'लोहा अकेला पेड़ को कब काट सकता है भला,
जब तक की लकड़ी का हथेला हो नही उसमें सला ।'

यही नही वह पुत्र को घायल देखकर भी विचलित नही होती है । वह कहती है - 'ईश्वर तुझे वही गति देगा जो सच्चे क्षत्रिय को मिलती है । संसार में तेरा नाम अमर हो । भारतवर्ष के बच्चे तुझे अपना पथ-प्रदर्शक और आदर्श मान कर तेरा अनुकरण करते हुए, स्वतंत्रता के लिए, अपने प्राणों का मोह छोड़कर इसी प्रकार युद्ध करें ।' इस कथन में उत्कट देश-प्रेम की भावना परिलक्षित होती है ।

इस नाटक के एक दृश्य में जब बदनसिंह अकबर के दरबार में पहुँचकर देश-द्रोह करने लगा, तब अपने आप पृथ्वीराज ने कहा -

'धिक्कार है, पापी, तुझे सौ बार श्है धिक्कार,
जो बेचता स्वाधीनता को है जैसे बाजार ।'

और देशद्रोही बदन सिंह कीपत्नी सुमति विवेक का आश्रय लेकर अपने पति को मार डालती है । वह कहती है - 'क्या मैने अपने पति की हत्या की है ? नहीं, नहीं । मैने तो साक्षात् विश्वासघाती और देशद्रोही की अपने हाथों जान ली है, और अपना कर्तव्य पूरा किया है ।......यदि मैने तुम्हारे प्रति अपराध भी किया तो तब, जब तुम पहले ही मेरे और बच्चों के प्रति अपराध कर चुके थे और अपने देश की प्यारी स्वाधीनता के रक्त से अपने हाथ रंग चुके थे । तुम केवल अधर्मी ही नहीं, देश-द्रोही भी हो ।' इस संवादों में राष्ट्रप्रेम और उत्सर्ग की उत्कर भावना परिलक्षित होती है ।

अतः 'दुर्गावती' नाटक में संवाद पात्रों तथा भावां के अनुकूल है किन्तु संवादों में पारसी रंगमंच की टेकनिक का प्रभाव है । सभी पात्र गद्य में बातें करते - करते पद्य में बाते करने लगते हैं इसलिए नाटक की गंभीरता में अवरोध उत्पन्न होता है ।

'कुरूवन-दहन' की नाट्य कला पश्चिमी नाट्य कला से प्रभावित है । इस प्रकार संस्कृत नाटक का रूपान्तर पश्चिमी नाट्य कला को आधार बनाकर पहली बार किया गया । डा0 सोमनाथ गुप्त ने ठीक ही लिखा है -'भट्ट जी ही वह व्यक्ति हैं जिन्होने संस्कृत नाट्य की मर्यादा-रक्षा भी की और उसे नवीनता देकर समय के अनुकूल भी बनाया ।'

'चन्द्रगुप्त' बद्रीनाथ भट्ट जी की मौलिक कृति है । ' तुलसीदास ' भी ऐतिहासिक आधार पर कम जनश्रुतियां लेकर अधिक लिखा गया है। 'वेन-चरित्र' नाटक के वस्तु - विन्यास में ऋजुता है। उलझनें अधिक नहीं है । संघर्ष की आयोजना नाटकीय है ।

बेचन शर्मा 'उग्र' के नाटक और संवाद :

'उग्र' जी का प्रसाद युगीन नाटक ' महात्मा ईसा' प्रसिद्ध नाटक है जिसका प्रकाशन सन् 1922 ई0 में हुआ । इनके अन्य नाटक- चुम्बन (1936), चार बेचारे (1938), गंगा श्का बेटा (1940), आवारा (1942), अन्नदाता (1943) आदि है ।

बेचन शर्मा 'उग्र' जी का 'महात्मा-ईसा' (1922), नाटक ऐतिहासिक है, किन्दतु इसमें कल्पना का प्रचुर प्रयोग है । प्रथम अंक के चौथे दृश्य से यह पता लगता है कि ईसा को अपनी माता से बिछुडे हुए 12 वर्ष हो गये हैं । भावुकता के कारण पिता-माता व्याकुल है किन्तु जोजेफ आकर समझाने के लिए मरियम से यही कहते हैं -'ईसा को हमने धर्म-पिता की आज्ञानुसार आर्य-भूमि भारत भेज दिया है। बारह वर्ष हो गये । वह वहाँ पर इसी यज्ञ में बलिदान दिये जाने के लिए शुद्ध किया जा रहा है । मेरा पुत्र स्वदेश पर बलिदान चढ़ने के लिए तैयार हो रहा है । कैसा गौरवमय सम्वाद है मरियम । जरा सोचो तो ।' स्वदेश पर उत्सर्ग होने की प्रेरणा इस नाटक से मिलती है । भारत की संस्कृति का प्रभाव ईसा पर पूर्णतया है । वे कहते हैं - 'पशु-बल को यदि पशु-बल दबायेगा तो वह महापशु-बल हो जायेगा, जिससे किसी को भी सुख न मिल सकेगा । अत्याचार के प्रतिकार के लिए धैर्य, आत्मदमन, और अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ साधन है ।'

इस नाटक में राष्ट्रीय भावना से भरे गीत भी हैं । गीत बहुल स्वच्छन्दतावादी शैली, संवादों की जीवन्तता, राष्ट्रीय भावना की उत्कटता के लिए यह नाटक विख्यात है। 'उग्र' जी ने नाटक की भूमिका से लिखा है - 'मेरे हृदय में एक आग सुलग रही थी, उसे ही मैने इस नाटक के रूप में फूँक दिया । चतुर पढ़ने वाले मेरी इस बात को इस पुस्तक में सच पायेंगे । उक्त अग्नि की ज्वाला-माला में जब इतिहास जल गया तब मैं मुस्करा पड़ा, जब भाषा का भव्य कलेवर झुलस गया तब मैं आनन्द से हँस पड़ा और जब ऐसे अनेक दोष मेरे सामने आये जिनसे

नाटककारो को बचना चाहिए तब मैं खिलखिला पड़ा । क्यों, आप जानते हैं? केवल इस लिए कि लोग इतनी चीजों के नष्ट हो जाने पर भी मेरे हृदय की आग देख सकेगें ।' अतः नाटक में देश-प्रेम राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक गरिमा की अभिव्यक्ति है ।

सेठ गोविन्द दास के नाटक और संवाद -

प्रसाद-युग के नाटककार 'सेठ गोविन्द दास' ने भी निम्नलिखितत नाटों की रचना की हर्ष (सन् 1935 ,, कर्तव्य (पूर्वार्द्ध, 1935), कर्तव्य (उत्तरार्द्ध, सन् 1935) आदि । इनके अन्य नाटक कुलीनता','शशिगुप्ता', सामाजिक तथा समस्या प्रधान नाटों में 'प्रकाश', सेवापथ',दुःख क्यों', 'विकास', ' महत्व किसे', 'बड़ा पापी कौन', दलित कुसुम,' तथा पतित सुमन' आदि उल्लेखनीय है । उनके मोनोड्रामा में 'अकेला', प्रलय और सृष्टि तथा'षडदर्शन' का नाम उल्लेखनीय है ।

'हर्ष' सेठ जी का प्रथम ऐतिहासिक नाटक है। इसमें सातवीं सदी की धार्मिक और राजनीतिक अवस्था का चित्रण है। इस नाटक के संवाद सहज तथा तर्क सम्मत है। किन्तु प्रसाद की तरह गम्भीरता नही है। समुचा नाटक इतिहास के माध्यम से वर्तमान युग का भी चित्रण है । 'हर्ष' राजा होकर भी प्रजातंत्र की प्रणाली पर राज्य-शासन चलाता है । हर्ष का मित्र माधवगुप्त बड़े स्पष्ट शब्दों में कहता है -'अनेक सम्राट तथा राजा राज्य करते हुएभी विरागी एवं परोपकार में दत्तचित्त रहे हैं । उन्होने राज्य को सदा अपने पास प्रजा की धरोहर और अपने को प्रजा का सेवक माना है । हाँ, रक्तपात इस देश के भी सम्राटों द्वारा हुआ, पर वह अधिकतर या तो आततायियों को दण्ड देने के लिए अथवा समस्त देश में सभ्यता और संस्कृति के एकीकरण रखने के उद्देश्य से, किसी का अपहरण करने के निमित्त नहीं .....।' डा0 ब्रजरत्न दास ने लिखा है - 'हर्ष में प्रसाद जी के नाटकों के समान ही तत्कालीन इतिहास के अनुरूप ही विशद विवरण दिये गये हैं पर प्रसादवाली गम्भीरता इनमें नहीं हैं ।'

सेठ जी का सन् 1935 में लिखा नाटक 'कर्तव्य' प्रागैतिहासिक है। 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध) में सेठ जी ने राम को एक आदर्श मानव माना है और उनकी कर्तव्य-पालन की दृढ़ता दिखा कर उच्चादर्श की स्थापना की है । नाटक की कथा श्रीराम के जीवन से सम्बन्धित है । 'कर्तव्य(उत्तरार्द्ध) में कृष्ण-चरित्र है । दोनो नाटकों का उद्देश्य लोक हित है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कर्तव्य' के विषय में लिखा था -'नाटककार ने अपने कौशल से कर्तव्य-विकास की सुन्दर उद्भावना द्वारा पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित कर दिया है । यह भी एक प्रकार का कौशल है ।' डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी लिखा है - 'कर्तव्य सेठ गोविन्द दास जी का सर्वश्रेष्ठ नाटक है । कर्तव्य (पूर्वार्द्ध) में राम तथा उत्तरार्द्ध में कृष्ण के चरित्रों का तुलनात्मक अध्ययन है दोनो चरित्रों की प्रागैतिहासिक घटनाओं में कोई परिवर्तन नही किया गया है किन्तु चरित्रों के

व्यक्तित्व चित्रण और विचार-धारा में नये युग का सन्देश समाविष्ट है ।' यह नाटक साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से महम्वपूर्ण है । सुदर्शन का 'अजना' पौराणिक आख्यान पर आधारित है । यह चरित्र प्रधान नाटक है । प्रसाद युग के सफल नाटकों में इसकी गणना है। इसमें भावुकता से भरे हुए संवादों का बाहुल्य है। लम्बे भाषण अस्वाभाविक लगते हैं । स्वागत भाषणों का भी प्रयोग है। पौराणिक आख्यान में रोमांटिक सन्दर्भो का आरोपण कहीं-कहीं अस्वाभाविक हो गया है। हल्के स्तर के भावुक संवाद छिछले हो गये हैं । उतार-चढ़ाव मनौवैज्ञानिक नही हैं ।

प्रसाद-युग के प्रहसन नाटककार और संवाद :

प्रसाद-कालीन प्रारम्भिक नाटककारों में बद्रीनाथ भट्ट का प्रमुख स्थान है - उन्होने कई पहसनों की रचना की है - 'लबड़ धौं धौं (1903ई0), 'विवाह-विज्ञापन' (1907), मिस अमेरिकन(1929), चुंगी की उम्मीदवारी आदि उदाहरण के लिए- कठपुतली के खेल में महाराज अकबर श्की आज्ञा लेकर मानसिंह चित्तौड़ जीतने के लिए जाता है और वह बादशाह को कई बार सलाम करके जाने के लिए पीठ फेरता है। ठाकुर साहब उसे वास्तविक घटना समझ कर कहते हैं --

'ठाकुर - (खड़े हो कर, बड़े जोश के साथ) ठहर ! पहले बतला कि कौन कहा और क्यों जाता है ?
पुतलीवाला - हजूर , जे (पुतली को चलाता हुआ) राजा मानसिंह जैपुर वाले, बादशाह से हुकुम लेकर चित्तौरगढ़ को जीतने -
ठाकुर- (क्रोध और जोश में) अरे जाति द्रोही ! कलंकी ! बदमाश ! पहले मुझसे तो जान बचा ले, फिर कहीं जाने का नाम लीजै मै अभी सालों को देर-----।' (1)

ऐसा सोचकर ठाकुर साहब मानसिंह पर लाठी लेकर टूट पड़ते हैं और उसे तोड़कर अन्य पुतलियों को भी तोड़ देते है । दो एक साथ पुतली वाले को भी जमाते हैं । तब पुतली वाला चीखने लगता है --
'पुतलीवाला हाय मरा !
ठाकुर- हाय, हाय कैसी ? साला चीतौड़ जीतेगा ।
पुतली- मै मरा, हाय मेरा रूजगार गया ।
ठाकुर - (कुछ ठण्डे होकर) क्या कहा? क्या हुआ, क्या हुआ ।'(2)

---

1. बदरी नाथ भट्ट : लबडधौं धौं, पृष्ठ 68.
2. :लबड़धौं धौं पृष्ठ 68.

यह प्रहसन अन्तर्द्वन्द्व प्रधान है ।

'मिस अमेरिकन' भट्ट जी का सर्वोत्कृष्ट प्रहसन है। चुंगी की उम्मेदवारी में सेठ जी के प्रचारकों में दो प्रचारक मतदाताओं को बहकाने के लिए नियुक्त थे । उन दोनो का बाबा ली से हुए वार्तालाप में हास्य-व्यंग का पुट मिलता है ।

बाबा जी - तो क्यों बाबा ! चूंगी में कहा लीला होता है ?
दूसरा - महाराज ! चुंगी में बहुत सी लीलाएं होती हैं ।
बाबा जी - क्यों राम जी ! क्या तहाॅ माखन चोर और चोरहरन लीला हूॅ, होता है ?
पहला- बाबा ! चीरहरन लीला, तो यहाॅ नही होती पर और बहुत सी लीलाएं होती है जैसे कमेटी करना, लीला चन्दा करन लीला, सलाम झुकावन लीला, 'जीहुजूर करन लीला, टैक्स लगावन लीला, इसके अलावा मेम्बरों को कभी - कभी मौका देखन लीला भी करनी पड़ती है ।'(1)

भट्ट जी ने इस प्रहसन के माध्यम से चुनावों पर व्यंग्य किया है । व्यंग्य में सभी भेद व शिष्टता मिलती है ।

जी0 पी0 श्रीवास्तव प्रसाद-युग के हास्य रस के प्रमुख नाटककार है। श्रीवास्तव जी ने कई प्रहसन नाटक लिखे- उलटफेर (सन् 1918), गड़बड़झाला(सन् 1919), भूल चूक (सन्1923), साहित्य का सपूत (सन् 1934), बेसुड़ का हाथी (सन् 1935), कागजी करतब (सन् 1935), मनहूसमल (सन् 1940), कुरसी मैन (1942), घर का न घाट का (सन् 1945) आदि ।

'उलटफेर' जी 0 पी0 श्रीवास्तव का प्रथम प्रहसन है। इस प्रहसन में तीन अंक हैं इस नाटक में सामाजिक मनोवृत्तियों पर व्यंग्य प्रकट किया है । दलाल सीधे- सादे मुवक्किलों को किस प्रकार फसाकर वकीलों के पास लाते हैं तथा न्यायालयों में इन्ही के द्वारा कितना बड़ा अन्याय होता है । खुराफात सरिश्तेदार तथा अललटप्पू, डिप्टी, कलक्टर का निम्न वार्तालाप दृष्टव्य है
'खुराफत - तुझे वकील करने के लिए किसने कहा था बेवकूफ ?
अललटप्पू - तेरा मुकदमा बिल्कुल झूठा है ।
खुराफात - जी बेजा है ! तभी तो वकील किया है ।'(2)

इस कथन में वक्रोक्ति की प्रधानता है । वकील के कार्य व्यापार की झाॅकी स्पष्ट हो जाती है ।

---

1. बद्रीनाथ भट्ट - चुंगी की उम्मीदवारी, पृ0 48.
2. जी0प0 श्रीवास्तव - उलटफेर, पृ0 47.

'मरदानी औरत' में पक्षपाती लाल और गड़बड़ के वार्तालाप में हास्य मिलता है -

गड़बड़- क्यों जनाब, क्या आप समालोचक हैं?
पक्ष0 - सूरत और ढांचा नही देखते हो ।
गड़बड़- हाँ देखता हूँ दुनिया भर के ऐबों से भरे मालूम पड़ते हो ।
पक्ष0 - तभी तो समालोचक हुए हैं, जब तक अपने में ऐब न होंगे दूसरों में क्या खाक ऐब निकालेंगे ।
गड़बड़ - अच्छा आप ऐब ही ऐब देखते हैं और गुण ?
पक्ष0 - गुण कैसे दिखाई पड़े जी ? गुड़ को तो देखने वाली आँख फोड़वाडाली । ऐब वाली रख छोड़ी है, देखते नहीं, कानें हैं ।' (1)
यहाँ समालोचक पर व्यंग्य किया गया है ।

जी0पी0 श्रीवास्तव जी ने साहित्य का सपूत, मार- मार कर हकीम, और साहब बहादुर नाटक लिखे । गुलाबराम जीने इसके बारे में कहा है -'जी0पी0 श्रीवास्तव के नाटकों में हास्य की मात्रा अधिक है, परन्तु उनमें साहसिक हास्य की अपेक्षा धौल धब्बे का हास्य अधिक है ।' (2)

इसके अतिरिक्त पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने चार बेचारे' मिश्रबन्धु ने 'पूर्वभारत', रूपनारायण पाण्डेय ने मूर्खमंडली, प्रायश्चित प्रहसन, श्री सुदर्शन ने आनरेरी मजिस्ट्रेट, रामदास गौड़ ने ईश्वरीय न्याय- रामसरन शर्मा कृत वकालत, राधेश्याम मिश्र ने कौन्सिल की मेम्बरी, माखन लाल चतुर्वेदी कृत कृष्णार्जुन युद्ध, लल्ली प्रसाद पाण्डेय ने राव बहादुर, हरशंकर उपाध्याय कृत घरकट सूम, भारत-दर्शन, घनानन्द बहुगुणा का समाज' प्रसिद्ध नाटकों की रचना की गयी । जयशंकर प्रसाद के कुछ नाटकों में हास्य संवाद परिलक्षित होते हैं ।

आनरेरी मजिस्ट्रेट' में हास्य का उदाहरण देखिए --
झंडूशाह मामला क्या है ?
सिपाही हुजूर इसका दफा चौतीस में चालान हुआ है ।
गंडूशाह (जीभ बाहर निकालकर) यह तो चौतीसवां बाड़ पकड़ा आया है। बड़ा बदमाश है (3)

---

1. जी0पी0 श्रीवास्तव - मरदानी औरत, पृ0 138.
2. गुलाबराय - हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, पृ0 270.
3 श्री सुदर्शन : आनरेरी मजिस्ट्रेट, पृ0 6.

सुदर्शनजी ने इस नाटक के माध्यम से ब्रिटिश कालीन न्यायाधीशों की न्याय प्रणाली का व्यंग्य चित्रण प्रस्तुत किया है ।

प्रसाद-कालीन नाटकों में पाश्चात्य प्रभाव परिलक्षित होते हैं । इसलिए सैद्धान्तिक दृष्टि से नाटकीय तत्वों का प्रभाव पड़ना आवश्यक ही था । इस युग के प्रहसनों में मौलिकता अधिक दिखाई पड़ती है ।

मूल्यांकन :

नाटक के प्रथम उपजीव्य संवाद है । प्रसाद युग के नाटककारों में संवाद-योजना की दृष्टि से विकास होता गया है। स्वयं प्रसाद जी की प्रारम्भिक रचनाओं की संवाद योजना और उत्तरार्द्ध के नाटकों की संवाद योजना में बहुत अन्तर है प्रसाद कालीन नाटकों में संवाद अव्यवहारिक और कृत्रिम है। प्रसाद युग के संवादों में भावात्मकता, कल्पना और कवित्व अधिक है । डा0 दशरथ ओझा ने इन श्संवादों को अस्वाभाविक माना है । इस युग के संवादों में एक गरिमा है। वे शास्त्रीय नाटकों के संवादों से हट कर है उनमें स्वाभाविकता है । नाटकीय संवादों में मानव जीवन की चरित्रगत अनुभूतियां अवेष्ठित हैं जो मनुष्य के सामान्य आ र सहज जीवन से जुड़ी हैं । पात्रों के संवादों से ही उनकी निजता झलकती है। जीवन के संघर्ष से जूझने वाले पात्रों का व्यक्तित्व संवादों से ही मुखरित होता है । पात्रों की सारी संवेदनशीलता और उदात्त जीवन दृष्टि संवादें से झलकती है । लक्ष्मी नारायण मिश्र ने लिखा है - ' पात्रों को भीतरी भावनाओं और प्रवृत्तियों को व्यक्त करने में जितना सहायक मूक अभिनय होता है उतना स्वगत नहीं । दो हिस्सा स्वगत और एक हिस्सा स्वाभाविक संवाद करा देने से नाटक का लिखना तो सरल हो जाता है लेकिन नाटकत्व बिगड़ जाता है । अभिनय की जरूरत नही रहती ।' इस युग के नाटककारों ने नाटकों का माध्यम गद्य ही रखा है, परन्तु वह मद्य कवित्व के अधिक समीप है । प्रसाद युग के नाटककारों को दीर्घ व्यापिनी, अखण्ड समन्वयात्मक ऐतिहासिक दृष्टि प्राप्त रही है इस युग में इतिहास के प्रति सूक्ष्म दृष्टि रखने के कारण तत्कालीन सभी घटनाओं का समावेश नाटकों में किया है ।

पंचम अध्याय

****
प्रसादोत्तर-युग (सन् 1933-1977)
****

भूमिका

वर्तमान समय में समस्त विश्व की बौद्धिक चेतना वैज्ञानिक आविष्कारों से प्रभावित है । निरन्तर प्राप्त होनेवाली उपलब्धियों के फलस्वरूप पुरानी परंपराएं ध्वस्त होती जा रही है । आज का मनुष्य विचार-स्वातंत्र्य का पक्षपाती है । फलत. जीवन की प्रत्येक समस्या पर उसने बौद्धिक और वैज्ञानिक ढंग से चिन्तन करना सीख लिया हे और इसी परिप्रेक्ष्य में धर्म, ईश्वर और प्रेम, राजनीति, समाज और वैयक्तिक स्वतंत्रता सब पर नये सिरे से विचार किया गया है । आज के मनुष्य की विचार-शृंखला पर योरोपीय विचारधाराओं का यथेष्ट प्रभाव है ।

सन् 1934 ई. में सत्याग्रह आन्दोलन वन्द हो जाने के बाद सरकार ने गिरफ्तार सत्याग्रहियों को छोड़ना प्रारंभ किया । सन् 1935 ई. में इंडियन एक्ट के पास होने पर कांग्रेस इससे पुन. असंतुष्ट हुई । किसानों ने भी अपना आन्दोलन प्रारंभ कर दिया । सन् 1934 ई. में समाजवादी पार्टी का जन्म हुआ । 4 अगस्त 1940 ई. को वाइसराय ने एक घोषणा प्रसारित कर कांग्रेस को केन्द्रीय सरकार तथा युद्ध सलाहकार परिषद में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया किन्तु कांग्रेस ने इस निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया । गांधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह करना शुरू किया इसमें चर्खा, ग्रामोद्योग, प्रारंभिक शिक्षा, राष्ट्रभाषा प्रचार पर विशेष बल दिया गया । अप्रैल 1942 ई. में गांधी जी ने देशवासियों से अहिंसात्मक आन्दोलन छेड़ने की मांग की । भारत छोड़ो आन्दोलन तीव्रता से प्रारंभ हुआ । नेताओं को जेल में ठूंसना प्रारंभ किया गया तथा सरकार का दमनचक्र चल पड़ा । क्रान्ति की लहर तेजी से बढ़ी । देश के विभिन्न स्थानों पर 538 बार गोलियां चलीं । आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार - "यह आन्दोलन भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का सबसे बड़ा जनसंग्राम था । किसी पूर्व निश्चित योजना के अभाव में भी देश की जनता सर्वत्र सरकार के विरूद्ध

उठ खड़ी हुई और जैसा कि स्वतः प्रसूत जनक्रान्तियों में देखा जाता है, उसने शासन सत्ता के केन्द्रों पर अधिकार करना और विदेशी शासन के प्रतीकों को नष्ट करना आरंभ किया ।"[1]

1943 ई. में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा जिसमें 40 लाख व्यक्तियों की मृत्यु हो गयी । 21 दिन के उपवास करने से गांधी जी को अप्रैल 1944 को जेल से रिहा कर दिया गया । भारत संबंधी विधान निर्माण करने के उद्‌देश्य से सन् 1946 में इंगलैण्ड से 'कैबिनेट मिशन' भारत आया । लेकिन देश में हिन्दू-मुस्लिम विरोध के कारण यह मिशन अपने उद्‌देश्यों की पूर्ति न कर सका । 1947 में लार्ड माउंटबेटेन भारत के वाइसराय बनकर आये और ब्रिटेन की योजना के अन्तर्गत जुलाई 1947 में, 'इंडियन इन्डिपेन्डेन्स एक्ट' पास हुआ जिसके अनुसार भारत और पाकिस्तान 15 अगस्त 1947 को स्वतंत्र हो गये ।

स्वतंत्रता के बाद आधुनिक भारत की सस्कृति के निर्माण में राष्ट्रीय भावना वस्तुतः धुरी का काम करती रही है । सांस्कृतिक जागरण स्वयं राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति है । बीसवीं शताब्दी का सांस्कृतिक विकास राष्ट्रीय विचारों से प्रभावित रहा है । अपनी संस्कृति के प्रति सम्मान की भावना राष्ट्रीयता की देन है । परन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् स्थिति में परिवर्तन आया है । अब सास्कृतिक निर्माण में एक नई भूमि सहयोग दे रही है । हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक इस भूमि से सम्बन्धित हैं । वस्तुत. ये सांस्कृतिक नाटक हैं । आधुनिक भारत के निर्माण मे चार शक्तियां कार्य कर रही हैं - विज्ञान, औद्योगिक और आर्थिक व्यवस्था, राष्ट्रीयता तथा जनतंत्रीय भावना ।

नेमिचन्द्र जैन का मत है - "सन् 1947-1965 का समय हिन्दी रंगमंच एवं नाट्‌य रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । हमारे देश में आधुनिक रंगमंच का प्रारंभ बड़ी असाधारण परिस्थितियों में अनोखे रूप मे हुआ । इसके फलस्वरूप कुछ बड़े मूलभूत अंतर्विरोध उसमें प्रारंभ ही से अन्तर्निहित हैं, जो उसे सहज ही अपनी परिपूर्णता और चरम उपलब्धि की ओर बढ़ने से रोकते हैं ।"[2] अर्थात् इससे सत्य होता है कि इस काल के नाटककारों ने अपने रंगमंच को ठीक प्रकार से समझने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है ।

---

1. आचार्य नरेन्द्रदेव : राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृ.-189 ।
2. ले. नेमिचन्द जैन : रंगदर्शन, पृ.-प्राक्कथन ।

जिन दिनों प्रसाद जी की महान रचनाए हिन्दी नाट्य साहित्य का कंठहार हो रही थीं उन्हीं दिनों दो प्रवृत्तियाँ चुपचाप हमारी नाट्य-परंपरा की कायापलट कर रही थीं । एक तो हमारे विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में छात्र और अध्यापक पाश्चात्य देशों के आधुनिक यथातथ्यवादी नाटककारों से परिचित होने लगे थे । दूसरी तत्कालीन प्रवृत्ति थी कॉलेजों के मंच पर निरंतर नाटकों की मांग । आज का हिन्दी नाटककार योरोपीय वैचारिक और वैज्ञानिक क्रान्ति के परिप्रेक्ष्य में भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक समस्याओं को देखने का पक्षपाती है । साथ ही बढ़ती हुई नई सभ्यता और नई आस्थाओं के इस युग में प्राचीन व्यवस्था के प्रति चाहे वह राजनैतिक हो अथवा सामाजिक, तिरस्कार का भाव बढ़ रहा है । सम्मिलित परिवार पथम, वैवाहिक दायित्व, धर्म, आदर्श तथा परंपरा आदि सभी के बन्धन ढीले पड़ गये हैं । देश की आजादी के बाद प्रगति की जो दिशाएं उन्मुक्त हुई हैं, उनमें भी प्राचीनता के प्रति कोई गौरव भावना नहीं रह गई है । समस्त देश नई समस्याओं से अभिभूत है ।

हिन्दी नाटकों का प्रसादोत्तर काल कला की दृष्टि से संस्कृत रचना शैली की रूढ़ियों से और कथावस्तु की दृष्टि से धीरे-धीरे पुराण इतिहास और अतीतोन्मुखता से मुक्ति का काल है । इस काल में राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना ने नाटकों में ऐतिहासिक कथावस्तु को संजोकर रखा था । रंगमंचीय नाटककारों की रचनाओं का और उनकी शैली का अनुकरण कुछ समय तक प्रसादोत्तर युग के नाटककारों ने भी किया । इस काल के नाटकों में विशेष परिवर्तन कथावस्तु, भावभूमि और शिल्प-विधान सभी में आया था । इतिहास का स्थान वर्तमान ने ले लिया । इस काल में इतिहास के अतीत बंधनों से कथावस्तु प्रायः मुक्त हो गई । वर्तमान जीवन ही प्रायः नाटकों का आधार रहा । इस काल में अधिकांश समस्या नाटक लिखे गये हैं ।

नाटककार अश्क जी ने स्वयं इस बात को स्वीकारा है कि हिन्दी नाटककारों ने नये प्रयोगों के अन्तर्गत समस्या नाटकों का सृजन किया । वे लिखते हैं - "मेरे विचार में आज हमें सामाजिक नाटकों की अधिक आवश्यकता है । ऐतिहासिक नाटकों का प्रचार सब देशों में प्रायः उस समय होता रहा जब उनकी सामाजिक समस्याएं इतनी विषम न थीं । या उन समस्याओं को समझने तथा उनका मनन करने की प्रवृत्ति उनमें न थी, या उनकी सामाजिक स्थिति इतनी दुखद थी कि उसमें भाग लेकर वे अपने उज्जवल, अतीत में कुछ

क्षण के लिये जा बसने, उसके सुख-वैभव में अपने आप को विस्मृत कर देना ही श्रेयस्कर समझते थे । भारत में पिछला युग प्रायः ऐतिहासिक नाटकों का युग रहा है और उसका मूल कारण यही वर्तमान से भाग कर अतीत में जा बसने की प्रवृत्ति है ।"[1]

सामाजिक स्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ समस्याओं में भी परिवर्तन आया है । इसीलिये इस काल के समस्या नाटकों में मूल भाव-धारा सामाजिक विद्रोह की है । नाटककारों का ध्यान समुदाय न होकर व्यक्ति की विभिन्न समस्याओं की ओर रहा है । मनोवैज्ञानिक नाटकों में इन तथ्यों का निरूपण कुशलता के साथ किया गया है । संयुक्त परिवार में साधनहीन नारी जीवन निर्वाह कर लेती थी, परन्तु संयुक्त परिवार के विघटन के फलस्वरूप उसे जीवन निर्वाह के लिए आर्थिक संघर्ष करना पड़ा । आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न कुण्ठा, एकांकीपन की घुटन तथा निरूद्देश्यता मध्यमवर्गीय व्यक्ति की परिस्थितियों को मोड़ने अथवा निर्माण करने के लिए प्रेरित नहीं करती वरन् अन्तर्मुखी होकर विषादपूर्ण मानसिक स्थिति में समाज का ही विध्वंस करने के लिये क्रियाशील है । सबसे अधिक इसका प्रभाव नारी जीवन की समस्याओं पर पड़ता है । इस काल की नारी समस्या का रूप नितान्त भिन्न है । नारी पति की दासता से मुक्त होकर समाज तथा राष्ट्र में अपना अस्तित्व पाने के लिये आकुल रही है । अत. संघर्ष तथा समस्या का बिन्दु पति की दासता से मुक्त होने का है ।

लेखक एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार - "मनुष्य भी मूलत. एक प्राणी है और उसकी दो प्राथमिक प्राकृतिक आवश्यकताएं हैं - एक भूख और दूसरी कामजनित इच्छाएं । सामाजिक संस्थाएं, पारिवारिक व्यवस्था तथा वैवाहिक संस्था इसी प्रेरणा तथा नियंत्रण के परिणाम हैं । व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से विपन्न होने के कारण काम-सुख में ही अपनी स्वतंत्रता खोजने लगता है । अतः कामजनित सामाजिक परंपराओं के विरूद्ध वह प्रबल विद्रोह करता है । इस काल के हिन्दी नाटक व्यक्ति की सेक्स समस्या पर भी लिखे गये हैं । पश्चिम के साहित्य, राजनीति-चिन्तन, इतिहास और कानून के अध्ययन ने भारतीय अभिजन को कानून के समक्ष सब स्त्री-पुरूषों की समानता और नागरिक अधिकार जैसे नये मूल्यों लिये संवेदनशील बना दिया ।"[2]

---

1. नाटककार अश्क : सम्पादिका : श्रीमती कौशला अश्क, पृ.-83 ।
2. ले. एम.एन श्रीनिवास : आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृ.-99 ।

पाश्चात्य समस्यामूलक नाट्य साहित्य से किताबी परिचय प्राप्त लेखकों की रचना और दूसरी ओर अव्यावसायिक रंगमंच के लिये नाटकों का प्रणयन इन दो धाराओं का विकास इस काल में ही हुआ है । नाटकों के क्षेत्र में सर्वप्रथम तो इब्सन और शॉ को ही मान्यता मिली किन्तु बाद में पिरिन्दे लौ, बलाउदैल, इयोजीन औनील, सात्र, टेनेस, विलियम्स के नये प्रयोगों से भी हिन्दी नाट्य जगत् ने अपना नया संस्कार किया । इन नवीन प्रयोगों की कसमसाहट भी इसी कारण से है । कहीं-कहीं तो ये प्रयोग अत्यन्त सार्थक हैं, किन्तु प्रयोग के लिए ही प्रयोग की भावना भी अधिक कार्य कर रही है ।

काल-निर्णय

1935 ई. के बाद देश में अनेक उथल-पुथल होती रही है । अंग्रेजी शासन की बर्बरता और तानाशाही वृत्ति के खिलाफ कवियों ने विरोध का स्वर आरम्भ किया । आधुनिक काल कई दृष्टियों से अपने पूर्ववर्ती कालों से भिन्न है । इस काल में गद्य साहित्य के विविध रूपों का विकास हुआ । कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना के साथ-साथ नाटक का भी । इस काल के नाटक साहित्य में मध्यमवर्ग की वाणी को मुखरित किया गया और मध्यमवर्ग की पीड़ा और शोषण को साकार किया गया ।

राजनीतिक दृष्टि से यह काल स्वतंत्रताप्राप्ति के प्रयासों और स्वतंत्रता की प्राप्ति का काल है । 15 अगस्त सन् 1947 को भारत आजाद हुआ । साहित्य में भी यह राजनीतिक चेतना उभरे बिना न रही । 19वीं शताब्दी में सांस्कृतिक आन्दोलन की लहर चली और उसने देश को आमूल प्रभावित किया । इस युग में नारी को पुरूष के समान दर्जा दिए जाने की मांग की गई और मानवतावाद का प्रसार हुआ । पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध से चमत्कृत भारतवासियों को इन सुधार आन्दोलनों ने यह बताया कि भारत स्वयं प्रत्येक दृष्टि से पश्चिम से बढ़कर है । और भारतवासियों को हीनता से मुक्त होकर अपने भारतीय होने पर गर्व करना चाहिए ।

हिन्दी नाटकों में प्रगतिवादी चेतना सन् 1930 ई. के आस-पास यानि प्रसादोत्तर काल में हुई । डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में - "यह युग की मांग को पूरा करनेवाला साहित्य है । इसकी शक्ति इस बात में है कि वह समाज के वास्तविक जीवन के निकट है ।...जो साहित्य जनता का पक्ष लेगा, वह जरूर शक्तिशाली होगा और अजेय गति से

आगे बढ़ता जावेगा ।"

यह युग साहित्य जगत में युग-सन्दर्भों के परिवर्तन का एक ऐसा प्रस्थान-बिन्दु है जहां से साहित्य एक नवीन मोड़ लेता है । कालक्रम की दृष्टि से सन् 1930 से 1977 का काल इस युग के अन्तर्गत आता है । नाट्य-साहित्य में यह वह काल है जबकि पाश्चात्य प्रभावस्वरूप आगत वैज्ञानिक बुद्धिवादी दृष्टि तथा प्रगतिशील विचारों के आलोक में नाटककारों का ध्यान एक बार फिर से जीवन के यथार्थ सन्दर्भों की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने उसे एक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया । भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी नाटक को युग यथार्थ से जोड़ने का यह महत्वपूर्ण कार्य इस युग के एक लब्धप्रतिष्ठित नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र द्वारा सम्पादित हुआ ।

समसामयिक समस्याओं पर आधारित इन पूर्ण नाटकों के साथ ही इस समय हिन्दी नाट्य जगत में एकांकियों और रेडियो नाटकों की भी रचना हुई । यथार्थवादी रंगशैली से प्रभावित होकर इन एकांकीकारों ने अपने एकांकियों में युग-यथार्थ को जिस सजीवता से प्रस्तुत किया उसने आगे चलकर हिन्दी नाट्य जगत में यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । यह युग परवर्ती नाटककारों के समक्ष नाट्य रचना का एक नवीन आदर्श प्रस्तुत करता है और जहां तक कलात्मकता का प्रश्न है वह भी समय के साथ-साथ उत्तरोत्तर विकास की ओर प्रयत्नशील है, जिसका पूर्ण विकास स्वातंत्र्योत्तर कालीन नाटकों में हुआ ।

विषयगत प्रवृत्तियों की दृष्टि से नाटक : संवाद

यद्यपि पूर्ववर्ती प्रसाद-युग नाट्य-परंपरा में भी वैयक्तिकता के साथ सामाजिकता, विश्व-बन्धुत्व एवं व्यापक मानवता के तत्त्वों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है किन्तु उसका मूल आधार काल्पनिक एवं आदर्शवादी है, उसमें भौतिकवादी एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण का उन्मेष प्रायः नहीं मिलता । प्रस्तुत नाट्य-परंपरा में भौतिकवादी जीवन-दर्शन पर आधारित समाजवादी विचारों एवं भावनाओं को विशेष रूप से स्थान प्राप्त हुआ, जिसे प्रसादोत्तर काल

की संज्ञा दी गई है । वस्तुतः इसका संबंध मार्क्सवादी आन्दोलनों से है । सन् 1935 में पेरिस में 'प्रगतिशील लेखक-संघ की स्थापना हुई थी जिसने साहित्य के माध्यम से समाजवादी विचारों के प्रचार को साहित्यकार का लक्ष्य घोषित किया । इसकी एक शाखा भारतवर्ष में भी स्थापित हुई । सन् 1936 में लखनऊ में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक-संघ' की पहला अधिवेशन हुआ, जिसका सभापतित्व उपन्यासकार प्रेमचन्द ने किया था । उन्होंने अपने भाषण में घोषित किया कि साहित्य केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है, उसका लक्ष्य समाज-हित होना चाहिए । उनके शब्दों में - "नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है - केवल उपदेश विधि में अन्तर है । नीति शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिये मानसिक अवस्थाओं और भावों को चुन लिया है ।.....मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह साहित्य को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूं ।.....फूलों को देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनमें फूलों की आशा होती है ।"

विभिन्न देशों एवं जातियों के विकास का इतिहास लिखने वाले लेखकों ने प्रायः मानवजाति को राष्ट्र, वर्ण, या जाति के आधार पर वर्गीकृत किया है, किन्तु मार्क्स दुनिया के सब मनुष्यों की चाहे वे किसी भी देश या जाति से संबंधित हों - दो जातियां या वर्ग मानते हैं - 1. शोषक वर्ग और 2. शोषित वर्ग । मानव सभ्यता का समस्त इतिहास इन दो वर्गों के संघर्ष की ही कहानी है । प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों के सृजन से एक विशिष्ट मानदण्ड स्थापित किया था । प्रसादोत्तर ऐतिहासिक नाटककारों ने प्रसाद की ही धारा को प्रायः आगे बढ़ाया है ।

विषयगत प्रवृत्तियों की दृष्टि से प्रसादोत्तर काल में भी ऐतिहासिक, पौराणिक व कल्पनाश्रित नाटक लिखे गए । वे इस प्रकार हैं -

ऐतिहासिक नाटक

प्रसादोत्तर युग में ऐतिहासिक नाटकों की परंपरा का पर्याप्त विकास हुआ । ऐतिहासिक नाटककार इतिहास के परिप्रेक्ष्य में जीवन को देखता है । नाटककार अपने अनुभवों को नाटक में संयोजित करता है । पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों म यह विशेषता है कि

वह अनुभव से सीखता है । यदि मनुष्य को अनुभव प्राप्त करना है, यथार्थ अनुभव पर अपनी जीवन-प्रणाली प्रतिष्ठित करनी है तो उसे इतिहास का सहारा लेना ही होगा । 'ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बिना वह अतीत द्वारा प्राप्त विकास-स्तर से आगे जाने की आशा नहीं कर सकता ।' [1] डॉ. जगदीशचन्द्र जोशी के अनुसार - 'ऐतिहासिक नाटक लिखने वाला नाटककार दो प्रकार के उद्देश्यों की प्राप्ति करता है । वह या तो भूत के क्रोड़ में वर्तमान को रखकर देखे अथवा भूत को वर्तमान के साँचे में ढाल दे ।' [2] ऐतिहासिक नाटककार के लिये आवश्यक हो जाता है कि वह अपने नाटक की सृष्टि के लिये इतिहास का सूक्ष्म और गहन अध्ययन करे । डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार - "उसे एक सफल नाटक की रचना तो करनी ही होती है, युग विशेष का प्रभाव उत्पन्न करने के लिये परिस्थितियों, घटनाओं एवं पात्रों की सृष्टि में इतिहास का भी आश्रय लेना पड़ता है ।"[3]

वस्तुतः किसी ऐतिहासिक नाटक में केवल कल्पना का आश्रय ही पर्याप्त नहीं होता । इतिहास के पृष्ठों की नींव पर ही उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटक का प्रासाद खड़ा हो सकता है । प्रसादोत्तर ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास की तमाम धारणाओं पर विचार हुआ है । इतिहास को नये परिप्रेक्ष्य में देखने की प्रवृत्ति भी बढ़ी है । इसी सन्दर्भ में वृन्दावनलाल वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, डॉ. रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, मोहन राकेश तथा अन्य कतिपय नाटककारों ने महत्वपूर्ण योग दिया । हरिकृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटकों में 'रक्षाबन्धन' (1934), 'शिवा साधना' (1937), 'प्रतिशोध' (1937), 'स्वप्नभंग' (1940), 'आहुति' (1940), 'उद्धार' (1949), 'शपथ' (1951), 'भग्न-प्राचीर' (1958), 'संवत्-प्रवर्तन' (1959), 'सांपो की सृष्टि' (1959), 'आन का मान' (1961) आदि ग्रंथ लिखे गए । प्रेमी जी ने अपने नाटकों में अति प्राचीन या सुदूर पूर्व के इतिहास को न लेकर प्रायः मुस्लिमकालीन भारतीय इतिहास को लेते हुए उसके सन्दर्भ में आधुनिक युग के अनेक राजनीतिक, साम्प्रदायिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है । उनके विभिन्न नाटकों से राष्ट्र-भक्ति, आत्म त्याग, बलिदान, हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि भावों एवं प्रवृत्तियों की उदीप्ति एवं पुष्टि होती है । उन्होंने इतिहास का उपयोग रोमांस की सृष्टि के लिये नहीं अपितु आदर्शों की स्थापना के

---

1. हिन्दी साहित्य कोश : भाग-1, पृ.-197 ।
2. प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक : डॉ. जगदीशचन्द्र जोशी ।
3. कला और कृपाण की भूमिका : डॉ. रामकुमार वर्मा ।

लिए किया है । नाट्यकला एवं शिल्प की दृष्टि से भी उनकी रचनाएं प्रायः निर्दोष एवं सफल सिद्ध होती है । उनके कथानक संक्षिप्त एवं सुसगठित, चरित्र सरल एवं स्पष्ट, संभाषण पात्रानुकूल, एवं शैली सरल व स्वाभाविक है । वस्तुतः उनके नाटक उन सभी दोषों से मुक्त हैं जो प्रसाद के नाटक-साहित्य में मिलते हैं । अवश्य ही उनमें दर्शन की वह गम्भीरता, विचारों की वह गरिमा तथा शैली की वह प्रौढ़ता परिलक्षित नहीं होती है जो प्रसाद की अपनी विशेषता है, किन्तु नाट्य-कला की दृष्टि से इनका न होना भी दोष की अपेक्षा गुण ही अधिक सिद्ध होता है ।

वृन्दावनलाल वर्मा इतिहास के विशेषज्ञ हैं, उनकी यह विशेषज्ञता उपन्यास और नाटक - दोनों के माध्यम से व्यक्त हुई । उनके ऐतिहासिक नाटकों में 'झांसी की रानी' (1948), 'पूर्व की ओर' (1950), 'बीरबल' (1950), 'ललित-विक्रम' (1953) आदि उल्लेखनीय है । वर्मा जी के ऐतिहासिक नाटकों में कथावस्तु एवं घटनाओं पर विशेष बल मिलता है तथा कहीं-कहीं वे अति घटना-प्रधान हो गये है । फिर भी दृश्य विधान की सरलता, चरित्र-चित्रण की स्पष्टता, भाषा की उपयुक्तता एवं गतिशीलता तथा संवादों की संक्षिप्तता के कारण इनके नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल है ।

मूलत. अन्य क्षेत्रों से सम्बद्ध होते हुए भी ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में यदा-कदा प्रवेश करने वाले लेखकों की कृतियों मे से यहां ये उल्लेखनीय हैं - चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'अशोक' (1935), 'रेवा' (1938), सियारामशरण गुप्त का 'पुण्य-पर्व' (1933), लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'गरूड़-ध्वज' (1948), 'वत्सराज' (1950), 'वितस्ता की लहरें' (1953), उपेन्द्रनाथ अश्क का 'जय-पराजय' (1937), सत्येन्द्र का 'मुक्ति-यज्ञ' (1937), बनारसीदास करूणाकर का 'सिद्धार्थ-बुद्ध' (1955), जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' (1951), देवराज दिनेश के 'यशस्वी भोज' और 'मानव-प्रताप' (1952), चतुरसेन शास्त्री का 'छत्रसाल' (1954), डॉ. रामकुमार वर्मा का 'कला और कृपाण' मोहन राकेश का 'आसाढ़ का एक दिन' व लहरों का राजहंस । कुछ नाटककारों ने जीवनी-परक नाटक भी लिखे हैं, यथा - लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'कवि भारतेन्दु' (1955), तथा सेठ गोविन्ददास ने 'भारतेन्दु' (1955), 'रहीम' (1955) आदि की रचना की है । इन्हें भी हम ऐतिहासिक नाटकों में स्थान दे सकते हैं ।

उपर्युक्त नाटकों में इतिहास और कल्पना का संतुलित संयोग मिलता है ।

अधिकांश नाटकों में इतिहास को केवल घटनाओं को ही नहीं अपितु उनके सांस्कृतिक वातावरण को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व युगीन चेतना एवं तात्कालिक सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया है । वस्तुतः इस युग में हिन्दी का ऐतिहासिक नाटक अपनी प्रौढ़ता की उस चरम बिन्दु पर पहुंच गया है जहां से वह ह्रासोन्मुखी होने लगता है । कदाचित् भारतीय इतिहास का कोई ऐसा महत्वपूर्ण युग और विशिष्ट पात्र न होगा जिसे इन नाटककारों ने प्रस्तुत किया हो ।

पौराणिक नाटक

पौराणिक नाटकों की एक सशक्त परंपरा का लेखन इस युग से पूर्व प्रसाद युग में भी हुआ । इस युग में पौराणिक नाटकों की परंपरा का भी विकास हुआ । विभिन्न लेखकों ने पौराणिक आधार को ग्रहण करते हुए अनेक उत्कृष्ट नाटक प्रस्तुत किये, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है - चतुरसेन शास्त्री का 'मेघनाद' (1936), पृथ्वीनाथ शर्मा का 'उर्मिला' (1950), सद्गुरूशरण अवस्थी का 'मझली रानी', रामवृक्ष बेनीपुरी का 'सीता की मां', गोकुलचन्द्र शर्मा का 'अभिनय रामायण', किशोरीदास वाजपेयी का 'सुदामा', चतुरसेन शास्त्री का 'राधा-कृष्ण', वीरेन्द्र कुमार गुप्त का 'सुभद्रा-परिणय', कैलाशनाथ भटनागर के 'भीम-प्रतिज्ञा' (1934) और 'श्रीवत्स' (1941), डॉ. लक्ष्मणस्वरूप का 'नल-दमयन्ती' (1941), प्रभुदत्त ब्रह्मचारी का 'श्री शुक' (1944), तारा मिश्र का 'देवयानी' (1944), प्रेमनिधि शास्त्री का 'प्रणपूर्ति' (1950), उमाशंकर बहादुर का 'वचन का मोल' (1951), डॉ. कृष्णदत्त भारद्वाज का 'अज्ञातवास' (1952), मोहनलाल 'जिज्ञासु' का 'पर्वदान' (1952), हरिशंकर सिन्हा 'श्रीवास' का 'माँ दुर्गे' (1953), लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'नारद की वीणा' (1946) और 'चक्रव्यूह' (1954), रांगेय राघव का 'स्वर्ग भूमि का यात्री' (1951), मुखर्जी गुंजन का 'शक्ति-पूजा' (1952), जगदीश का 'प्रादुर्भाव' (1955), सूर्यनारायण मूर्ति का 'महानाश की ओर' (1960) आदि । डॉ देवर्षि सनाढ्य शास्त्री ने अपने शोध-प्रबन्ध में इनकी सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए प्रतिपादित किया है - "इनका कथानक पौराणिक होते हुए भी उसके व्याज से आज की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।"[1] इन नाटकों मे प्राचीन संस्कृति के आधार पर पौराणिक गाथाओं के असम्बद्ध एवं

---

1. हिन्दी के पौराणिक नाटक : डॉ. देवर्षि सनाढ्य, पृ -210-212 ।

असंगत सूत्रों में संबंध एवं संगति स्थापित करने का प्रयास किया गया है । वे हमें आज के जीवन की संकीर्णताओं एवं सीमाओं से ऊपर उठाकर जीवन की व्यापकता एवं विशालता का संदेश देते हैं । ये नाटक विषय-वस्तु की दृष्टि से पौराणिक होते हुए प्रतिपादन-शैली एवं कला के विकास की दृष्टि से आधुनिक हैं वे आज के समाज की रूचि एवं समस्याओं के प्रतिकूल नहीं हैं ।

कल्पनाश्रित नाटक

इस युग के कल्पनाश्रित नाटकों को भी उनकी मूल प्रवृत्ति की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है - 1. समस्या-प्रधान नाटक, 2. भाव-प्रधान नाटक एवं 3. प्रतीकात्मक नाटक ।

समस्या-प्रधान नाटकों का प्रचलन मुख्यतः इब्सन, बर्नाडशा आदि पाश्चात्य नाटककरों के प्रभाव से ही हुआ है । पाश्चात्य नाटक के क्षेत्र में रोमांटिक नाटकों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यथार्थवादी नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें सामान्य जीवन की समस्याओं का समाधान विशुद्ध बौद्धिक दृष्टिकोण से खोजा जाता है । इनमें विशेषतः यौन समस्याओं को ही लिया गया है । स्वतगत भाषण, गीत, काव्यात्मकृता आदि का इनमें परित्याग कर दिया गया है ।

विषय-वस्तु की दृष्टि से इन्हें भी दो उपाभेदों में विभक्त किया जा सकता है - 1. मनोवैज्ञानिक एवं 2. सामाजिक । मनोवैज्ञानिक नाटकों में मुख्यतः काम संबंधी समस्याओं का विश्लेषण यौन-विज्ञान एवं मनोविश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है । दूसरे वर्ग में आज के युग और समाज की विभिन्न समस्याओं का समाधान आदर्शवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है ।

पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र ने मनोवैज्ञानिक समस्या-प्रधान नाटकों की रचना की, तो हरिकृष्ण प्रेमी ने ऐतिहासिक व सामाजिक नाटकों की सर्जना की । वृन्दावनलाल वर्मा के महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक अपना निजी महत्व रखते हैं । अश्क के नाटकों में मानव के अन्तर्मन में दबी वृत्तियों और समस्याओं का सजीव उद्घाटन हुआ है ।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-प्रधान नाटकों में 'सन्यासी' (1931), 'राक्षस का मंदिर' (1931), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), 'राजयोग' (1934), 'सिंदूर की होली' (1934), 'आधी रात' (1937) आदि उल्लेखनीय है ।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को न तो लक्ष्मीनारायण मिश्र की भांति विशुद्ध यथार्थवादी कहा जा सकता है और न ही सेठ जी की भांति आदर्शवादी, वे इन दोनों के बीच की स्थिति में हैं, अतः उन्हें आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी कहना उचित होगा । उन्होंने व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की विभिन्न समस्याओं का चित्रण यथार्थ के स्तर पर किया है, वहां उनके मूल में सुधार का क्रांति की भावना भी निहित है जो आदर्शवाद की सूचक है । उनके प्रमुख नाटकों में 'स्वर्ग की झलक' (1939), 'कैद' (1945), 'उड़ान' (1949), 'छठा बेटा' (1949), 'अलग-अलग रास्ते' (1955) आदि उल्लेखनीय हैं ।

वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यासों और नाटकों के अतिरिक्त सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में भी सफलता प्राप्त की है । उनके इस वर्ग के नाटकों में से 'राखी की लाज' (1943), 'बांस की फांस' (1947), 'खिलौने की खोज' (1950), 'केवट' (1951), 'नीलकंठ' (1951, 'सगुन' (1951), 'निस्तार' (1956), 'देखा-देखी' (1956), आदि प्रमुख हैं । वर्मा जी ने इन नाटकों में विवाह, जाति-पांति, ऊंच-नीच, सामाजिक वैषम्य, नेताओं की स्वार्थपरायणता आदि से संबंधित विभिन्न प्रवृत्तियों एवं समस्याओं का अंकन प्रस्तुत किया है । "उनके नाटक रूढ़िगत परंपरा से मुक्त हैं, उनमें कल्पना और भावना का उन्मुक्त तथा संयत उन्मेष है । अन्वितियों का अभाव है । उनमें विद्यमान तत्त्व हैं - देश-प्रेम, जाति-प्रेम, मानव-प्रेम, कला-प्रेम तथा संस्कृति-प्रेम, जिनकी अभिव्यक्ति भावनाओं और कल्पनाओं से अनुरंजित है । आकस्मिकता, कौतूहल, अप्रत्याशितता आदि तत्त्वों की भी भरमार है ।"[1] (डॉ. दशरथ सिंह) । अभिनय एवं रंगमंच की दृष्टि से भी उनके नाटक उपयुक्त माने गए हैं ।

पृथ्वीनाथ शर्मा ने 'दुविधा' (1938), 'अपराधी' (1939), 'साध' (1944) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की है, जिनमें उन्मुक्त प्रेम विवाह तथा सामाजिक न्याय से संबंधित विभिन्न प्रश्नों को प्रस्तुत किया गया है । इस युग के अन्य सामाजिक नाटकों में हरिकृष्ण 'प्रेमी' का 'छाया', प्रेमचन्द का 'प्रेम की वेदी' (1933), चन्द्रशेखर पांडेय का 'जीत

---

1. हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक : डॉ. दशरथ सिंह, पृ.-215 ।

में हार' (1942), दयानाथ झा का 'कर्मपंथ' (1953), जयनाथ नलिन का 'अवसान', शम्भूनाथ सिं का 'धरती और आकाश' (1954), अभय कुमार 'यौधेय' का 'नारी की साधना' (1954), रघुवीरशरण मिश्र का 'भारत माता" (1954), श्री संतोष का 'मृत्यु की ओर', तुलसी भाटिया का 'मर्यादा', रामनरेश त्रिपाठी का 'पैसा परमेश्वर' आदि उल्लेखनीय है । यद्यपि इन लेखकों में से अधिकांश मूलतः नाटककार न होकर कवि या उपन्यासकार हैं, किन्तु फिर भी इन्होंने अपने युग, समाज और राष्ट्र की विभिन्न परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एवं समस्याओं का अंकन इनमें कुशलतापूर्वक किया है । विषय-प्रतिपादन एवं नाट्य-शिल्प की दृष्टि से अधिकांश रचनाएं सफल एवं रोचक हैं ।

कल्पनाश्रित नाटकों का दूसरा वर्ग भावप्रधान नाटकों का है, जिन्हें शैली की दृष्टि से सामान्यत 'गीति-नाटक' नाम भी दिया जाता है । इस वर्ग के नाटकों के लिए भाव की प्रमुखता के साथ-साथ पद्य का माध्यम भी अपेक्षित होता है । आधुनिक युग में रचित हिन्दी का पहला गीति-नाटक जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित 'करूणालय' (1912) माना जाता है । इसमें पौराणिक आधार पर राजा हरिश्चन्द्र तथा शुनःशेप की बलि की कथा प्रस्तुत की गई है । प्रसाद के अनन्तर एक दीर्घ समय तक गीति-नाटकों के क्षेत्र में कोई नया प्रयास नहीं हुआ, किन्तु परवर्ती युग में अनेक गीति-नाटक लिखे गये, यथा - मैथिलीशरण गुप्त के द्वारा 'अनघ' (1925), हरिकृष्ण प्रेमी द्वारा 'स्वर्ण विहान', भगवतीचरण वर्मा द्वारा 'तारा' आदि । उदयशंकर भट्ट ने 'विश्वामित्र' लिखकर सर्वाधिक सफलता प्राप्त की । इनके नाटक में पात्रों के संवाद भी प्रायः लय और संगीत से परिपूर्ण शब्दों में प्रस्तुत हुए हैं । उनकी शैली का एक नमूना यहां प्रस्तुत है -

विगत दिनों में और भी कई गीति-नाटक प्रकाश में आये हैं, जिनमें से सुमित्रानन्दन पंत के 'रजतशिखर' और 'शिल्पी', धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग', सिद्ध कुमार का 'लौह देवता' आदि उल्लेखनीय है ।

तीसरा वर्ग प्रतीकवादी नाटकों की परंपरा का उत्थान प्रसाद के 'कामना' नाटक से माना जा सकता है । इसके अनन्तर लिखे गये प्रतीकवादी नाटकों में से ये उल्लेखनीय हैं - सुमित्रानन्द पन्त का 'ज्योत्सना' (1934), भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'छलना' (1939), सेठ गोविन्ददास का 'नवरस', कुमार हृदय का 'नक्शे का रंग' (1941) आदि । आगे चलकर और भी जैसे डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस', 'दर्पण' आदि उल्लेखनीय प्रतीकात्मक नाटक लिखे गये ।

प्रसादोत्तर काल में रोमेंटिक प्रभाव का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया । यथार्थवादी जीवनदृष्टि का अधिकाधिक विस्तार हुआ । इब्सन, बर्नार्डशा तथा यूरोप के अन्य यथार्थवादी नाटककारों का प्रभाव पड़ा अवश्य पर वह बड़ा सपाट और सतही था - कारण वह यहां की जमीन से बड़ा कटा-कटा था । सन् 1950 तक जबकि रंग दृष्टि की खोज की ओर नाटककार का ध्यान नहीं गया नाटक पाठ्य ही अधिक बना रहा, इसी कारण प्रसादोत्तर हिन्दी नाटकों की मूल प्रवृत्ति समस्या नाटकों की है । 'समस्या नाटक का सृजन नवीन यथार्थवाद से प्रेरित बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि सापेक्ष होता है । इसका अनुवर्ती परिणाम यह होता है कि नाटक विधान में तर्क-वितर्कमूलक कथोपकथन के माध्यम से विषय की व्याख्या करने की प्रवृत्ति अधिक आ जाती है ।'[1]

सम्प्रति नवीन बौद्धिक, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक चिन्ताधारा के संघात से जीवन की परिस्थितियां बदली हैं जिन्होंने नाटककार की दृष्टि को अतीत से हटाकर वर्तमान के प्रति निबद्ध कर दिया है । समस्या नाटक किसी परिवर्तित परिस्थिति की उपलब्धि है ।

प्रसाद के समय में नाटक और रंगमंच के बीच एक खाई का निर्माण हो रहा था । प्रसादोत्तर काल के नाटककारों ने इस खाई को पाटने का कार्य किया है । नाटकों की वस्तु और शिल्प के विकास में नये प्रयोगों की सार्थकता तभी है जब नाटकों के साथ-साथ रंगमंच का भी विकास होता रहे । हिन्दी नाटककार इस क्षेत्र में पश्चिम के नाटककारों से प्रेरणा लेते रहे हैं ।इस बात को स्वयं नाटककारों ने स्वीकार किया है ।

---

1. हिन्दी समस्या नाटक : ले. डॉ. मान्धाता ओझा, पृ.-277 ।

प्रसादोत्तर कालीन प्रमुख नाटककारों के नाटक : संवाद

हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में संवाद :-

प्रसादोत्तर युग में ऐतिहासिक नाटकों की परंपरा का पर्याप्त विकास हुआ है । इस क्षेत्र में हरिकृष्ण 'प्रेमी' जी का महत्वपूर्ण स्थान है । प्रेमी जी ने अपने नाटकों में अति प्राचीन या सुदूर पूर्व के इतिहास को न लेकर प्राय. मुस्लिम-कालीन भारतीय इतिहास को लेते हुए उसके सन्दर्भ में आधुनिक युग की अनेक राजनीतिक, साम्प्रदायिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है । उनके विभिन्न नाटकों से राष्ट्रभक्ति, आत्म-त्याग, बलिदान, हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि भावों एवं प्रवृत्तियों की उदीप्ति एवं पुष्टि होती है । इनके नाटकों के कथानक संक्षिप्त एवं सुसगठित, चरित्र सरल एवं स्पष्ट, संभाषण पात्रानुकूल एवं शैली सरल एवं स्वाभाविक है । इनके नाटकों में दर्शन की वह गम्भीरता, विचारों की वह गरिमा तथा शैली की वह प्रौढ़ता परिलक्षित नहीं होती जो प्रसाद की अपनी विशेषता है, किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से इनका न होना भी दोष की अपेक्षा गुण ही अधिक सिद्ध होता है ।

'प्रेमी' जी ने प्रसाद की ऐतिहासिक धारा को युगानुकूल मोड़ने का प्रयत्न किया । उन्होंने अपने अधिकांश नाटकों की विषय-वस्तु का चुनाव इतिहास के उन्हीं पृष्ठों से किया जिनमें उनकी भावनाओं के अनुरूप बहुत से सूत्र बिखरे हुए थे, क्योंकि उनका विश्वास है - "राष्ट्रीय एकता की आभाव इस देश की सबसे बड़ी कमजोरी है -यह इतिहास की एक कहानीमात्र नहीं, युग-युग का चिरन्तन सत्य है ।" 'प्रेमी' जी के नाटकों का मुख्य लक्ष्य सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दू-मुसलमानों की एकता के माध्यम से राष्ट्रीयता को सुदृढ़ करना रहा है । प्रेमी जी की वस्तु-योजना प्रसाद के नाटकों की अपेक्षा शृंखलाबद्ध, गतिशील और रंगमंचोपयुक्त है । प्रेमी जी के संवाद भी प्रसाद के संवादों की अपेक्षा अधिक गठे हुए और अलंकरण से मुक्त हैं । भाषा पात्रों के अनुसार है । हिन्दू-पात्र संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग करते हैं और मुसलमान-पात्र फारसी बहुल हिन्दी का । इससे पात्रों के संवादों में स्वाभाविकता और निजीपन आ गया है । इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है - "हरिकृष्ण प्रेमी के कथोपकथन प्रसाद जी के कथोपकथन से अधिक नाटकोपयुक्त है । उनमें प्रसंगानुसार बात-चीत का चलता स्वाभाविक ढंग भी है और सर्व हृदय-ग्राह्य पद्धति पर भाषा का मर्मव्यंजक अनुठापन भी ।" इन कथोपकथनों में अखरने वाली बात उनकी नीरसता है ।

वर्णन, विवरण और उपदेश-प्रधान कथोपकथनों में रसहीनता का आ जाना स्वाभाविक है । डॉ. बच्चन ने भी लिखा है - "कहीं-कहीं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि राजनीतिक रंगमंच से नेताओं के भाषण हो रहे हैं । इस रूक्षता का कारण संवेगों की कमी है । प्रसाद के सम्वादों में सम्वेगों के कारण गत्यात्मकता और सरसता बराबर बनी रहती है ।" रंगमंच की अनुकूलता के लिए नाटक लिखने वाले प्रसाद-युग के वे पहले नाटककार हैं ।

कालक्रम के अनुसार प्रेमी जी के नाटक इस प्रकार हैं - स्वर्ण-विहान, पाताल-विजय, रक्षाबन्धन, शिवा-साधना, प्रतिशोध, आहुति, स्वप्नभंग, छाया, बन्धन, मन्दिर (एकांकी) मित्र विष-पान, उद्धार, शपथ, प्रकाश-स्तम्भ, बादलों के पार (एकांकी), शतरंज के खिलाड़ी, भग्न प्राचीर, कीर्ति स्तम्भ, सांपों की सृष्टि, सम्वत्-प्रवर्तन, ममता आदि ।

उपरोक्त नाटकों में 'स्वर्ण विहान', 'छाया', 'बन्धन', और 'ममता' सामाजिक नाटक है । 'मंदिर' और 'बादलों के पार' एकांकी-संग्रह है शेष ऐतिहासिक नाटक हैं । कीर्ति-स्तम्भ की भूमिका में उन्होंन स्पष्ट लिखा है - "मैंने नाटकों की रचना निरूद्देश्य नहीं की है । भारत सदियों की पराधीनता के पश्चात् स्वतंत्र हुआ है और अब इसे नवार्जित स्वतंत्रता की रक्षा करनी है एवं राष्ट्र को सुखी, समृद्ध और शक्तिशाली भी बनाना है । प्राचीन इतिहास हमारी शक्ति और दुर्बलता का दर्पण है । मैंने बार-बार यह दर्पण देशवासियों के सम्मुख रखा है ताकि हम अपने देश के अतीत को देख कर व्यक्तिगत, सामाजिक एंव राजनीतिक जीवन से उन दुर्बलताओं को दूर करें जिन्होंने हमें पराधीनता के पाश में बांधा, उन गुणों किो गहण करें जिन्होंने हमें अभी तक जीवित रखा और फिर स्वतंत्र किया ।" स्वतंत्रता पूर्व के नाटकों में इसीलिए हिन्दू-मुसलमानों की साम्प्रदायिक एकता का प्रतिपादन है । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी राष्ट्रीय आदर्श से अनुप्रेरित ऐतिहासिक नाटकों की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए प्रेमी जी ने 'उद्धार' नाटक की भूमिका में लिखा है - "मेरा देश स्वतंत्र हो गया किन्तु देशवासियों ने अभी तक राष्ट्रीयता के महत्व का समझा नहीं, इसीलिए राष्ट्रीयता की भावनाओं को उत्साहित करने वाले साहित्य की आज आवश्यकता है ।"

1. रक्षाबन्धन

'रक्षाबन्धन' नाटक 1933-34 में प्रकाशित नाटक है । यह उद्देश्य विशेष से

अनुप्रेरित नाट्यकृति है । हरिकृष्ण प्रेमी जी ने 'रक्षा-बन्धन' नाटक में मुगलकालीन इतिहास पर प्रकाश डालकर हिन्दू-मुस्लिम एकता का एक हृदयंगम चित्र प्रस्तुत किया है । तीन अंकों में विभक्त नाटक का कथानक चित्तौड़ के महाराणा विक्रमादित्य के भवन से प्रारंभ होता है ।

सेठ धनदास और अन्य मुसाहिब बैठे वार्तालाप कर रहे हैं । इतने में महाराणा विक्रमादित्य का प्रवेश होता है । धनदास राजनीतिक महाभाष्य करता है । युद्ध की विभीषिकाओं से विरक्त होकर अपने मुसाहिबों और सेठ धनदास के कहने पर विक्रमादित्य विलासिता में डूबा हुआ है । मनोरंजन के लिए नर्तकी को बुलाने की आज्ञा करता है । नर्तकी के आते ही विक्रम कह उठता है -

> "सुन्दरी ! बैठो । कोई सुन्दर-सा गान सुनने की इच्छा है । (कुछ उत्तेजित होकर) सुनाओ न कोई मद-भरा गान ।"[1]

यहां विक्रम की लिविड़ो वृत्ति परिलक्षित होती है । विक्रमादित्य के चाचा बाघसिंह को ये बातें अच्छी नहीं लगती है तदुपरान्त वह भीलराज भी विक्रम से कहता है -

> "महाराजा ! मैंने अपने अंगूठे के खून से आपका राजतिलक क्या इसलिए किया था ? मेवाड़ की प्रजा को निर्लज्ज विलासिता का नग्न नृत्य देखने का अभ्यास नहीं है । जो वीर नागरिक राजाओं के सिर पर मुकुट रख सकते हैं, वे उसे उतार भी सकते हैं ।"[2]

विक्रमादित्य की मां जवाहर बाई - उदयसिंह के सर पर राजमुकुट रखना चाहती है । इतने में उदयसिंह की मां कर्मवती कहती है -

---

1. हरिकृष्ण प्रेमी . रक्षाबन्धन, पृ. - ।
2. हरिकृष्ण प्रेमी : रक्षाबन्धन, पृ. -9 ।

> "ठहरो राजमाता, तुम धन्य हो ! तुमने महाराणा संग्रामसिंह की पत्नी के योग्य बात कही है ! धन्य हो विक्रम ! तुमने पिता राणा संग्रामसिंह जी के समान ही त्याग का परिचय दिया है ! वे भी एक रोज अपने चरणों से राजमुकुट को ठुकराकर चले गये थे । भीलों की भेंड़ें चराकर उन्होंने जीवन-निर्वाह किया था । किन्तु उदयसिंह तो उन्हीं सांगां जी का पुत्र है । यदि वह गृह-कलह की आग प्रज्ज्वलित करने वाला सिद्ध हुआ तो मैं उसका गला घोट दूंगी । वह बच्चा है जी, उसे खेलने को तलवार चाहिए, राजमुकुट नहीं ।" [1]

प्रस्तुत कथन से कर्मवती के स ीवन प्रणीत व्यवहार के चिरस्थायी प्रतिरूप प्रकार के व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है । और जब कर्मवती पुनः राजमुकुट विक्रम को पहना देती है तब विक्रम पुनः घुटने टेककर कहता है -

> "मैं पापी हूं, नराधम हूं । महाराणा संग्रामसिंह आकाश के उज्ज्वल नक्षत्र थे । आप में उन्हीं की आत्मा का तेज है । आज आपने मेरे हृदय के अन्धकार को परास्त करके भगा दिया है । अपनी चरण रज दीजिए, उससे मुझे बल मिलेगा । आपके पुण्य-प्रताप से आपके इस कपूत विक्रम में नई प्राणप्रतिष्ठा होगी ।"[2]

यहां महाराणा विक्रम में उदात्तीकरण का भाव लक्षित हुआ है ।

एक दृश्य में बादशाह का दूत बहादुरशाह के मेवाड़ पर होनेवाले आक्रमण की जानकारी मिलती है । दूत के जाते ही विक्रम चांद खां से कहता है -

---

1. हरिकृष्ण प्रेमी : रक्षाबन्धन, पृ.-10-11 ।
2. हरिकृष्ण प्रेमी : रक्षाबन्धन, पृ.-12 ।

> "अच्छा, खैर अब चलिए, आगे की लड़ाई के लिये बैठकर सलाह करनी है । अत्याचारियों की चुनौती का जवाब देने में मेवाड़ कभी पीछे नहीं रहा । आज भी वह अतिथि-रक्षा के महान् कर्तव्य के साथ-साथ रणधर्म का पालन करेगा ।"[1]

यहां विक्रम के रेंक प्रणीत प्रतिस्पर्धात्मक इच्छा परिलक्षित होती है । दूसरी ओर मांडू के राजमहल में बहादुरशाह एवं मुल्लू खां में भावी युद्ध को लेकर वार्तालाप हो रहा है । जन्मभूमि पर छाये हुए संकट को लेकर विक्रमादित्य सेनापति व सामन्तों से बहस करते हैं । तभी कर्मवती को शत्रु के साथ संधि कर लेना अच्छा नहीं लगता है । वह आवेग के साथ कहती है -

> "लड़ते-लड़ते मर जाना या विजय प्राप्त करना, राजपूत तो दो ही बातें जानते हैं । यह संधि शब्द आपने किससे सीख लिया ? यदि प्राणों का इतना मोह है तो चूड़ियां पहनकर घर बैठो, लाओ यह तलवार मुझे दो ।"[2]

यहां कर्मवती के कथन में उसकी इच्छा शक्ति दृष्टिगोचर होती है ।

'रक्षाबन्धन' नाटक के द्वितीय अंक के एक दृश्य में धनदास एवं मौजीराम में धन को लेकर वार्तालाप चल रहा है । धनदास अपनी पत्नी माया से कहता है -

> "तुम नहीं जानती, मैंने बहादुरशाह को रसद पहुंचाने का ठेका ले लिया है । एक-एक के दस-दस होंगे देवी ! ...... व्यापार में पाप कैसा ? जो पैसे देता है, उसे हम माल देते हैं । जो ज्यादा कीमत देगा उसी के हाथ

---

1. हरिकृष्ण प्रेमी : रक्षाबन्धन, पृ.-23 ।
2. हरिकृष्ण प्रेमी : रक्षाबन्धन, पृ.-31 ।

> माल बेचेंगे । हम तो अपना लाभ देखेंगे, देश अपनी भुगते ।"[1]

इस कथन से धर्मदास के इड पर प्रकाश पड़ता है । परन्तु माया को यह बात ठीक नहीं लगती । वह कह उठती है -

> "माया - शर्म की बात है । लड़ाई छिड़ने पर तुम्हें लाभ नजर आता है । आखिर तुम्हें नररक्त की उस भयंकर बाढ़ से क्या हाथ आयेगा ?"

माया अपने पति का उपहास व्यंग्यात्मक ढंग से करती है । वह आगे भी कहती है -

> "आग लगे तुम्हारे व्यापार में । मेरे स्वामी ! लाखों मेवाड़ियों का अभिशाप न लो ! यह धन मरते वक्त सिर पर लादकर न जाओगे । मेरे देवता ! तिजोरियों के ताले खोल दो, देश के काम के लिए, उसी देश के लिए, जिसकी मान-रक्षा के लिए सदियों से मेवाड़ियों ने अपने प्राणों की आहुतियां दी हैं, जिसका अन्न-जल हमारे वंश की नस-नस में भिदा हुआ है । मेरे सर्वस्व ! तुम राक्षस नहीं, देवता बनो, ताकि मैं अपनी श्रद्धा के फूल तुम पर चढ़ा सकूं । बोलो, प्राणेश्वर ! बोलो ! तुम्हारे कुकृत्य पर दसों दिशाएं हंस रही हैं । इस हंसी का तुम्हारे पास क्या उत्तर है ।...."[2]

यहां माया का नैतिकाहं ध्यान देने लायक है । इससे धनदास का इड गायब हो जाता है ।

---

1. हरिकृष्ण प्रेमी : रक्षाबन्धन, पृ.-40-41 ।
2. रक्षाबन्धन, पृ.-41 ।

कर्मवती द्वारा हुमायूं को भेजी गई राखी व पत्र पाकर ही हुमायूं दूत से कह उठता है -

> "बहन कर्मवती से कहना, हुमायूं तुम्हारी मां के पेट से पैदा न हुआ तो क्या, वह तुम्हारे सगे भाई से बढ़कर है । कह देना - मेवाड़ की इज्जत मेरी इज्जत है । जाओ ।"

तदुपरान्त हुमायु हिन्दूबेग से कहता है -

> "बहन का रिश्ता दुनियां के सारे सुखों, दौलतों, ताकतों और सल्तनतों से बढ़कर है । मैं इस रिश्ते की इज्जत रखूंगा । सल्तनत जाय, पर मैं दुनिया को यह कहते नहीं सुनना चाहता कि मुसलमान बहन की इज्जत करना नहीं जानते ।"[1]

'रक्षाबन्धन' नाटक के तृतीय अंक के एक दृश्य में हुमायूं अपने सेनापति के साथ बातचीत करता है । इतने में ही शाहशेख औलिया वहां आ जाता है । हुमायूं अपनी इच्छा प्रदर्शित करते समय उसके सम्मुख कहता है -

> "मेरी सारी फौज चाहे यही रह जाय, पर मैं अकेला ही मेवाड़ की मुसीबत में शामिल होकर मेवाड़ी राजपूतों के साथ मिलकर, मामूली सिपाही की हैसियत से लड़ सकूं और लड़ते हुए जान देकर उनकी राखी का कर्ज चुका सकूं ।"[2]

यहां हुमायूं में मैक्डूगल प्रणीत मन ऊर्जा सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है ।

---

1. रक्षाबन्धन, पृ.-47 ।
2. रक्षाबन्धन, पृ.-79 ।

बहादुरशाह और तातर खां मेवाड़ को धर्म के नाम पर विजित करना चाहते हैं । शाहशेख औलिया ने व्यंग्य द्वारा ऐसे धर्मरक्षकों की अच्छी खबर ली है । वह कहता है

"आज खुदा खुद है हैरान ।
पिला रहे हैं तुम्हें तअस्सुब की शराब शैतान ।।
कहां लिखा है हमें बताओ खोलो वेद कुरान ।
जो न तुम्हारा मजहब माने ले लो उसकी जान ।।"[1]

इस कथन से प्रतीत होता है कि प्रेमी जी आधुनिक विचारधारा के सिद्धहस्त नाटककार हैं । उन्होंने अपने इस नाटक में धर्म, दर्शन आदि के दुर्बल पक्षों को उभारकर हास्य परिकल्पना की है ।

मेवाड़ की हार सुनकर बहादुरशाह विजय पाकर भी हतबुद्ध-सा कहता है -

"मेरी मेवाड़ की फतह मेरी जिन्दगी की सबसे बड़ी हार है ।"

क्योंकि उसे यहां सूने खंडहरों के सिवा कुछ भी प्राप्त नहीं होता ।

हुमायूं भी जौहर की कहानी सुनकर सुन्न हो जाता है । वह विक्रम से कह उठता है -

"बहन के प्यार की कीमत, इन राखी के धागों की कीमत, दुनियां की बादशाहत और बहिश्त की सल्तनत से भी बढ़कर है । महाराणा ! मुझे अफसोस इसी बात का है कि मैं ठीक वक्त पर आकर बहन कर्मवती के कदमों की खाक सर न चढ़ा सका । उसकी कमी को उनकी चिता की धूल से पूरा करता हूं । मैंने मेवाड़ आने में जो देरी

---

1. रक्षाबन्धन, पृ.-79 ।

> की उसकी सजा मुझे अभी भुगतनी है ।....मगर प्यारी बहन ! दिल में एक कसक बेबसी की एक आह, छुपाये लिये जा रहा हूं । अफसोस ! तुम्हारी राखी का कर्ज न चुका पाया ।"[1]

यहां हुमायूं में हार्नी प्रणीत मनस्ताप सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है ।

रक्षाबन्धन नाटक का प्रमुख पात्र हुमायूं है । वह अन्तमुर्खी संवेदन प्रकार का है । हुमायूं की मानवता, धर्मनिरपेक्षता और उदारता - प्रेमी जी के **'रक्षाबन्धन'** नाटक की धुरी है । अन्त में कर्मवती की राख को देखकर हुमायूं कहता है -

> "यह खाक इनसानियत की आंखों का अंजन है । महाराणा ! चिन्ता की यह आग मजहबी तअस्सुब क़ी जलन न पैदा करे । सारे मुसलमान बुरे हैं, यह न समझना....मैं तो हिन्दुओं के कदमों में बैठकर मुहब्बत करना सीखना चाहता हूं ।"

भारत को जिस प्रकार की साम्प्रदायिक एकता चाहिए उसका संकेत करते हुए हुमायूं कहता है -

> "जब सारा मुसलिम कौम की बहनें हिन्दू भाइयों के हाथ में बेहिचक राखी बांधने की हिम्मत करेंगी और सारी हिन्दू कौम की बहनें मुसलमान भाइयों के हाथ में दिली मुहब्बत के साथ अपनी पाक राखी बांधने की मेहरबानी करेंगी, तब हमारी आंखों से पाप का मैल धुल जाएगा ।"

कर्मवती नाटक की नायिका है, उसमें बुद्धिमता, सहिष्णुता और धैर्य की पर्याप्त मात्रा है । अपने एक भाई अर्जुन सिंह की मृत्यु पर भी वह विचलित न होकर कहती है-

> "धन्य हो अर्जुन ! तुमने मेरी राखी का ऋण चुका

> दिया । बाघ सिंह जी! छिः तुम आंसू गिराते हो ! भाई, क्षत्रिय का हृदय जलती हुई मरूभूमि के समान जलहीन होना चाहिए ।"

अपनी जीजी जवाहर बाई की मृत्यु पर इतना ही कहती है -

> "धन्य हो देवी ! तुमने मेवाड़ की कीर्ति को अमर कर दिया । भाइयो ! मनुष्य वही है, जो सुन्दर मृत्यु पाता है । धन्य हो जवाहर बाई ! मेवाड़ की बलिदान माला में तुम चूड़ामणि की भांति चमकेगी ।"

देश की आन पर, देश की मिट्टी पर मरने में उसे हिचकिचाहट नहीं है । वह धैर्य और प्रसन्नता से कहती है -

> "आज हमारे सौभाग्य पर सूर्य हंस रहा है । राजस्थान की रेत ! आज तू अभिमान से चमक रही है । मेवाड़ के सरोवर ! आज तुम में आनन्द की लहरें उठ़ रही हैं ।"

इस नाटक में सभी कथोपकथन गठे हुए और पात्रानुकूल हैं । पात्रों की विभिन्न भाव-लहरियों के अनुसार संवादों का रूप परिवर्तित होता है । भाषा में अलंकारों का बाहुल्य न होकर स्वाभाविकता प्रतीत होती है । यथा - श्यामा कहती है -

> "मेवाड़ के राजकुमार को क्षण भर के लिए रण में जाने से रोका था, उसका प्रायश्चित आज सम्पन्न हो । मां के हृदय ! तू क्यों टुकड़े-टुकड़े होता है ? तू रोता भी है, हंसता भी है । तुझमें आज प्रलय और सृष्टि दोनों मुस्करा रही हैं ।"

हुमायूं, बहादुरशाह, तातार खां फारसी बहुल हिन्दी बोलते हैं । हुमायूं विक्रम से

कहता है -

> "हमें अब दुनियां की हर किस्म की तंगदिली के खिलाफ जिहाद करना चाहिए । हमारा काम भाई के गले पर छुरी चलाना नहीं, भाई को गले लगाना है ।"

'रक्षा-बन्धन' नाटक में जहां-कहीं उपदेशात्मक और धार्मिक एकता का अवसर आया है, इसलिये सम्वाद लम्बे और उकता देने वाले हो गये हैं । इसके उपरान्त भी कथोपकथन ओजस्वी, प्रवाहमय एवं गतिशील है । अवसर के अनुकूल वे सर्वत्र परिवर्तित होते हैं । उदाहरण के तौर पर -

माया - जिनकी हिये की गुल हो गई हैं उन्हें दिन और रात बराबर है । उनके लिये न वक्त आता है न जाता है । (बात बदलकर) तो अच्छा अब मैं जाऊं ।

धनदास - और थालियां भरकर कहां ले चली ? कुछ तो बचने दो देवी ।

माया - कुत्ते की दुम सौ बरस नली में रखी जाने पर भी टेढ़ी टेढ़ी बनी रहती है । यही हाल तुम्हारी तृष्णा का भी है ।"[1]

प्रस्तुत कथोपकथनों से ज्ञात होता है कि धनदास पर आदत के प्रभाव अधिक होने से वह बार-बार स्वार्थ के चुंगल में फंस जाता है । कथोपकथनों की भाषा का कहीं-कहीं काव्यात्मक परिवेश भी दृष्टिगोचर होता है । यथा -

> "मैं हूं डाल से तोड़ी हुई, पैरों से रौंदी हुई कलिका । मैं हूं मुर्च्छित हाहाकार । मैं हूं ऊपर से बन्द, किन्तु भीतर चिरप्रज्जवलित ज्वालामुखी । मेरा जीवन है सुखी हुई

---

1. रक्षाबन्धन, पृ.-74 ।

सरिता, उजड़ा हुआ उपवन, ऊसर खेत, पतझड़
का पेड़ ।"

कथनों की सीधी-सादी भाषा में भव्य-भावों का निर्माण हुआ है ।

शिवा-साधना नाटक (सन् 1934-35)

हरिकृष्ण 'प्रेमी' का शिवा-साधना नाटक ऐतिहासिक होते भी कल्पना का बाहुल्य है । डॉ. बच्चन सिंह के शब्दों में - "यह ऐतिहासिक नाटक न होकर बहुत कुछ इतिहास नाटक हो गया है।" 'शिवा-साधना' 1932-33 में लिखा गया और 1934-35 में प्रकाशित नाटक है । प्रेमी जी ने इस नाटक में शिवाजी के चरित्र के असामान्य पहलुओं के दर्शन कराये हैं । इस नाटक को लिखने की प्रेरणा पर प्रेमी जी ने लिखा है - "अन्तर में कुछ लिखने की बेचैनी लिये हुए मैं गरीब आदमी के 'स्नेह-हीन' दीपक की तरह बुझता-सा जलता रहा । एक बार फिर भभक कर अपने अस्तित्व का परिचय देने आया हूं । यह 'शिवा-साधना' मेरी वही 'भभक' है ।"

'शिवा-साधना' के प्रथम अंक में तुलजापुर के भवानी मन्दिर में मूर्ति की आरती समाप्त होते ही शिवाजी भवानी के चरणों में नतमस्तक होकर कहता है - "मां भवानी ! इस उज्ज्वल आकांक्षा की आग को अपने आशीर्वाद से तीव्र कर दो । मुझे बल दो, साहस दो, और वह अदम्य पागलपन दो, जिससे मैं स्वातंत्र्य-साधना में केवल सांसारिक सुखों की ही नहीं बल्कि प्राणों की आहुति भी दे सकूं । निस्पृह, निर्विकार, निर्लिप्त और निरहंकार होकर कर्म कर सकूं ।"[1] यहां शिवाजी में टॉलमैन द्वारा प्रस्तुत अन्तःस्थ विचलन का प्रभाव परिलक्षित होता है ।

तदुपरांत शिवाजी अपने साथियों से कहता है -

"मुझे विश्वास है कि तुम लोगों की सहायता से मैं एक

---

1. हरिकृष्ण प्रेमी : शिवा-साधना, चौथा संस्करण, पृ.-16 ।

> भारतव्यापी क्रान्ति कर सकूंगा - जिस क्रान्ति की पुकार भग्न मन्दिरों, धराशायी राजमहलों, भस्मसात् पर्ण-कुटियों और रोटियों के लिए हाहाकार करने वाले वस्त्रहीन कृषकों के हृदयों से उठ रही है ।"[1]

प्रस्तुत कथन से शिवाजी के सृजनात्मक व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है ।

इसके बाद के एक दृश्य में शिवाजी दादा जी कोंडदेव से कहता है -

> "वह दिन अवश्य आयेगा, जब पिताजी मेरे कार्यों का समर्थन करेंगे ।"

तत्पश्चात् जीजाबाई कहती है -

> "उठो बेटा ! मैं पिता, पति, बन्ध-बान्धव, सुख स्वार्थ कुछ नहीं जानती । मैं केवल देश को जानती हूं और तुम्हें आदेशक करती हूं कि देश की स्वाधीनता ही तुम्हारे जीवन की चरम साधना हो ।"[2]

यहां जीजाबाई में प्रेरकीय मनोविज्ञान के सिद्धान्त के दर्शन होते हैं ।

शाह जी को कैद में रखे जाने के तत्पश्चात् राजगढ़ में शिवाजी एक वार्तालाप में मोरोपन्त पिंगले से कह उठता है -

> "किन्तु यदि स्वराज्य केवल हिन्दुओं तक ही सीमित रह गया तो मेरी साधना अधूरी रह जायेगी । मैं जो बीजापुर और दिल्ली की बादशाहत की जड़ उखाड़ डालना चाहता

---

1. हरिकृष्ण प्रेमी : शिवा-साधना, चौथा संस्करण, पृ.-19 ।
2. शिवा-साधना, पृ.-23 ।

> हूं वह इसलिये नहीं कि वे मुसलिम राज्य हैं, बल्कि इसलिये कि वे आततायी हैं, एक-तंत्र हैं, लोकमत को कुचलकर चलने के आदी हैं ।"[1]

यहां शिवाजी में रेंक के अनुसार विधायक इच्छा परिलक्षित होती है ।

इस अंक के अन्त में मोरोपन्त पिंगले के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए शिवाजी कहता है -

> "जावली वापस ही देनी थी तो चन्द्रराव मोरे का खून बहाने से क्या लाभ था ? जावली पश्चिमी घाट के समस्त पहाड़ी प्रदेशों को अधिकार में करना सरल हो गया है । प्रतापगढ़ के बनवाने से हमारी सीमा सुरक्षित हो गइ है । अब हम जावली कैसे छोड़ सकते हैं ?"[2]

यहां अरस्तु के अनुसार शिवाजी के नेतृत्व की आतंक की नीति स्पष्ट हो जाती है ।

पांढरपाणी की घाटी में बाजी देशपांडे अपने साथियों के साथ फजल मुहम्मद के साथ लड़ता है । जब तक शिवाजी विशालगढ़ नहीं पहुंचता तब तक बाजी शत्रु के साथ जुझता रहता हे । इसकी बीच बाजी एक सैनिक से कहता है -

> "नेताजी की आज्ञा एक सैनिक के लिए ईश्वरीय संकेत है । मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि मैं तोप की आवाज सुने बिना एक कदम भी पीछे नहीं हटूंगा ।"[3]

इस कथन से ज्ञात होता है कि नेता एवं अनुयायियों में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । यहां बाजी में नेता की प्रतिष्ठा जाग पड़ी है ।

---

1. शिवा-साधना, पृ.-29 ।
2. शिवा-साधना, पृ.-49 ।
3. शिवा-साधना, पृ.-72 ।

द्वितीय अंक के अन्तिम दृश्य में शिवाजी अपने सहयोगियों के साथ भावी योजना के बारे में विचार-विमर्श कर रहा है । एक वार्तालाप में वह मोरोपन्त से कहता है -

> "जंजीरा के सिद्दियों तथा फिरंगियों की तनिक भी उपेक्षा करना उचित नहीं । हमें अपनी जल-सेना को खूब सुदृढ़ बनाना चाहिए । बाजीपुर और दिल्ली की सल्तनतों के समाप्त हो जाने पर समुद्र मार्ग से व्यापारियों के छद्मवेश में आने वाली ये जातियां ही भारतीय स्वतंत्रता की शत्रु साबित होंगी । हमें इनसे भी निबटना है ।"[1]

यहां शिवाजी में योजना निर्माण करने वाले के रूप में नेता का गुण दृष्टिगोचर होता है ।

चारि य शिवाजी के जीवन का केन्द्रबिन्दु है । शिवाजी शाइस्ता खां के सन्दर्भ में एक योजना प्रस्तुत करते हुए मोरोपन्त से कहता है -

> "उसका भी उपाय सोच लिया है । कटराजघाट के जंगल में बैलों के सींगों में और झाड़ियों में मशाले बाँधकर कुछ आदमी वहां नियुक्त कर देंगे । जैसे ही इधर हमारा काम होगा, वे लोग उन्हें जलाकर भाग जावेंगे । शाइस्ता खां के सिपाही हमें उसी ओर जाते समझकर पीछा करेंगे, किन्तु हम सिंहगढ़ की ओर के मार्ग से भाग आवेंगे ।"[2]

यहां शिवाजी के विशेषज्ञ के रूप में नेता का परिचायक मिलता है ।

आगरे के दीवाने-खास में दिलेर-खां, जयसिंह, जसवन्त सिंह तथा अन्य सरदार शिवाजी के बारे में बातचीत कर रहे हैं । लेकिन सासबड में शिवाजी और जयसिंह की

---

1. शिवा-साधना, पृ.-76 ।
2. शिवा-साधना, पृ.-73 ।

मुलाकात हो जाती है । प्रस्ताव स्वीकार होने पर शिवाजी जयसिंह से कहता है -

> "आपकी आज्ञा से मैं मौत के मुंह में भी जा सकता हूं । बात सिर्फ इतनी ह कि उससे मेरा स्वप्न अधूरा ही रह जाएगा । जब आपने मुझे अपना पुत्र कहकर पुकारा है तो फिर हम दोनों के बीच गोपन का आवरण क्यों हो ? मै आपको स्पष्ट बता देना चाहता हूं कि मुझे व्यक्तिगत रूप से राज्य नहीं चाहिए, धन-ऐश्वर्य नहीं चाहिए, सुकीर्ति भी नहीं चाहिए । मैं तो मां-भारत को दीन-दुखी देखकर व्यथित हूं । मैं उसे स्वाधीन देखना चाहता हूं । मुगलों से संधि कर लेने पर मेरा यह कार्य रूक जाएगा ?"[1]

यहां शिवाजी में एरिक फ्रोम के अनुसार इतिहास का दर्शन दृष्टिगोचर होता है । क्योंकि फ्रोम ने मानव इतिहास-निर्मित कहा है ।

एक दृश्य में शिवपुरी की हवेली में शिवाजी, संभाजी और हीरोजी फरचन्द परामर्श कर रहे हैं । इतने में रामसिंह वहां आ जाता है । तब शिवाजी उससे कहता है -

> "मैं तुम्हीं से पूछता हूं कि मैं देश के प्रति विश्वासघात कैसे करूं ।....नेता मृत्यु के बाद भी देश का नेतृत्व करता है, किन्तु उसका नैतिक पतन उसके आन्दोलन का सर्वनाश कर देता है । नैतिक पतन के आगे मृत्यु की कोई हस्ती नहीं ।"[2]

इस कथन से ज्ञात होता है कि शिवाजी की एक विशिष्ट नीति है ।

---

1. शिवा-साधना, पृ.-107 ।
2. शिवा-साधना, पृ.-121 ।

आगे गोह के सहारे सूर्याजी मालुसुरे के साथ गढ़ पर आते ही एक सैनिक प्रश्न करता है कि किन्तु सैनिक जाग पड़े तो ? ताना जी कह देता है -

> "तो क्या होगा, मावले कहीं मौत से डरते हैं । आज यदि हम जीते रहे हतो सिंहगढ़ पर भगवा झण्डा फहराकर रहेंगे और यदि मर गये तो मावलों के साहस और शौर्य की अमिट लकीर भारतीय इतिहास के हृदय पर अंकित कर जाएंगे । चलो, अब हम अपना कार्य आरंभ करें ।"[1]

यहां ताना जी में रेंक प्रणीत प्रतिस्पर्धात्मक इच्छा परिलक्षित होती है ।

जंजीरा द्वीप घेरे में शिवाजी मोरोपन्त पिंगले के साथ परामर्श कर रहा है । वह उससे कहता है -

> "युद्ध के साधनों में धीरे-धीरे क्रान्ति होती जा रही है । इस युग में केवल प्रबल-स्थल-सेना रखने से ही हमारा राज्य सुरक्षित नहीं समझा जा सकता । भारत के पश्चिमी किनारे पर पुर्तगाल-वासी, फ्रांसीसी, डच, अबीसीनिया-वासी तथा अंग्रेज लोग व्यापारियों के छद्म रूप में आकर अपने पैर जमाते जा रहे हैं और धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं । आज ऊंगली पकड़ी है तो कल पहुंचा पकड़ेंगे । मुझे मुगलों से इतना भय नहीं जितना इन फिरंगियों से है ।"[2]

इस कथन में शिवाजी में एक दूरदृष्टि है, जिसमें गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की झांकी परिलक्षित होती है ।

---

1. शिवा-साधना, पृ.-143 ।
2. शिवा-साधना, पृ.-148 ।

दृश्य में आगरे के लाल किले में औरंगजेब दिलेर खां के साथ शिवाजी के निर्गमन के बारे में बातचीत हो रही है । इस वार्तालाप के सिलसिले में एक जगह औरंगजेब दिलेर खां से कहता है -

> "दिलेर खां, शायद तुम ठीक कह रहे हो । लेकिन औरंगजेब को आज चारों तरफ अपने खिलाफ साजिश नजर आ रही है । राजा जयसिंह और तुम्हें वापस बुलाकर मैंने शाहजादा मोअज्जम और राजा जसवन्त सिंह को दक्खिन भेजा । लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि राजा जसवन्त सिह भी शिवाजी से मिल गया है । उसे शुरू से ही औरंगजेब से कीना रहा है ।...मैंने फिर भी उसे मौका दिया । पर जान पड़ता है कि अब मोअज्जम, जसवन्त सिंह और शिवाजी मिलकर मुझे तख्त से उतारने की साजिश कर रहे हैं ।"[1]

यहां हार्नी के अनुसार औरंगजेब का अग्रधर्षी व्यक्तित्व दृष्टिगोचर होता है ।

'शिवा-साधना' पात्र बहुल नाटक है । इस नाटक का नायक शिवाजी है । प्रेमी जी ने अपने नाटक मे उनके चरित्र को ऊंचा उठाकर राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्रदान किया है । हिन्दू और मुसलमानों में धार्मिक और साम्प्रदायिक एकता का उन्होंने प्रयास किया । उनका कथन -

> "यदि स्वराज्य केवल हिन्दुओं तक ही सीमित रह गया तो मेरी साधना अधूरी रह जायेगी । मैं जो बीजापुर और दिल्ली की बादशाहत की जड़ उखाड़ना चाहता हूं, वह इसलिए नहीं कि वे मुसलिम राज्य हैं, बल्कि इसलिए कि वे आततायी हैं, एकतंत्र है, लोकमत को कुचलकर चलने के आदी हैं ।"

---

1. शिवा-साधना, पृ.-153-154 ।

शिवाजी ने स्पष्ट कहा -

> "मैंने कभी किसी मसजिद की एक ईंट को भी आँच नहीं आने दी । जहां मुझे कुरान मिला है मैंने उसे आदर के साथ किसी मौल्वी के पास पहुंचा दिया है । सर्व-साधारण की स्वतंत्रता की साधना करने वाले के हृदय में धार्मिक असहिष्णुता क्यों ?"

इससे सांस्कृतिक एकता और धार्मिक सहिष्णुता की ओर संकेत मिलता है ।

शिवा-साधना के सम्वादों के सम्बन्ध में वही बात कही जा सकती है जो रक्षा-बन्धन या उनके दूसरे नाटकों के सम्बन्ध में कही जाती है । कथोपकथन चरित्र में सहायक है । पात्रानुकूल भाषा है । इस नाटक के सम्वाद नाटकोचित, सरल एवं सरस है । उदाहरण के तौर पर -

> जेबुन्निसा - किसी तरह शिवाजी की जान बचानी होगी !
> जहानारा - उनकी जान बचाकर तुम क्या पाओगी ? वह बहादुर क्या तुम्हें.....
> जेबुन्निसा - और कुछ नहीं, मुझे सिर्फ एक बहादुर की जान बचाने का फख्र हासिल करना है ।"[1]

उपर्युक्त कथोपकथनों में जेबुन्निसा की व्यक्तिगत अनुप्रेरणा उमड़ पड़ी है ।

कथोपकथन परिस्थितियों और घटनाओं के अनुकूल हैं । हिन्दू पात्रों और मुसलमान पात्रों की भाषा पृथक-पृथक है । इस नाटक के कथोपकथन की एक विशेषता यह है कि पात्रों में भावुक संवेदन वाले सम्वादों को भी महत्व दिया गया है जिससे उनके जीवन में 'रसमयता' भी दिखायी पड़ जाती है । जेबुन्निसा कहती है -

---

1. शिवा-साधना, पृ.-116 ।

> "कैदखानों के कैदी बदनसीब होते हुए भी खुशनसीब है क्योंकि उनके दिल होता है, जान होती है, मगर धन-दौलत से भरेपूरे इस शाही महलसरा की कैदी शाहजादियां महज रंग-विरंगी लकड़ी की गुड़िया हैं जिन्हें जज्बातों से बिल्कुल खाली, तमन्नाओं से एकदम सूना और दर्दे दिल से कतई वेखबर समझा जाता है ।"

'शिवा-साधना' नाटक में प्रेमी जी ने प्रसाद परंपरा की व्यंग्योक्तियों को भी पकड़ने की कोशिश की है । प्रसाद ने व्यंग्य के द्वारा प्रभावोत्पादन की मार्मिक शैली अपनायी थी । प्रेमी जी ने हास्य-व्यंग्य का मिला जुला रूप इस नाटक के कथोपकथनों में प्रयोग करने का प्रयास किया है । मसीद खाँ कहता है -

> "अगर यहां से जीत कर वापस गये तो बीबी मुबारिकवादियों से मढ़ देगी और अगर हार गये तो हमें अपने दामन में छुपाकर खुदा कर शुक्र अदा करेगी कि सालों का पाला-पोसा यह सर सलामत तो रहा ।"

प्रेमी जी ने इस नाटक में देश की स्वतंत्रता को सर्वाधिक महत्व दिया तथा प्रान्तीयता, जातीयता और साम्प्रदायिकता से ऊपर उठने का आदर्श प्रस्तुत किया ।

प्रतिशोध

'प्रतिशोध' नाटक 'प्रेमी' जी ने प्रसाद-युग में लिखा लेकिन प्रसादोत्तर युग में प्रकाशित हुआ । इसका सन् 1940 में प्रकाशन है । 'प्रतिशोध' में बुन्देले वीरों की बहादुरी और रणचातुरी को चित्रित किया है । इस नाटक में छत्रसाल के पिताजी चम्पतराम की मृत्यु के प्रतिशोध का एक जीता-जागता चित्र साकार हुआ है ।

विन्ध्यवासिनी के मन्दिर में प्राणनाथ प्रभु अकेला विचार करते हुए कहता है -

> "मुझे तो भारत के दलित हृदयों की पुकार ने बुन्देलखण्ड की इन जंगली उपत्यकाओं में खींच लिया है । हृदय

> अपनी एक साध लेकर जीवित है । आह, वह दिन कब आयगा, जब प्यारा भारत देश स्वतंत्र हो सकेगा ।"

प्राणनाथ प्रभु के सम्मुख छत्रसाल के जन्म की दर्दभरी कहानी प्रस्तुत करती है । तब प्राणनाथ कहता है -

> "बहन ! तुम वीर प्रभु हो । तुम्हारे पुत्रों पर सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड को अभिमान है ।"

लालकुँअरि उससे कहती है -

> "उसके कुछ दिन बाद सारवाहन ने मुझे स्वप्न में दर्शन दिया और कहा - मां ! मैं शत्रु से प्रतिशोध लेने तुम्हारी गोद में फिर आऊंगा । उसके बाद ही छत्रसाल का जन्म हुआ ।"[1]

प्रस्तुत कथन से इच्छा की प्रच्छन्न तृप्ति का रूप दृष्टिगोचर होता है ।

एक अन्य दृश्य में पहाड़सिंह की पत्नी हीरादेवी दतिया के राजा शुभकरण के साथ बातचीत कर रही है । शुभकरण हीरादेवी से कहता है -

> "शुभकरण पहले बुन्देला है, पीछे दतिया का महाराज । जात्याभिमान की रक्षा करने में उसे भिखारी बनकर रहना पड़े तो भी वह भाग्य को दोष न देगा । इस आन पर संकटों के वज्रपात को सहते हुए भी उसका मन मैला न होगा ।"[2]

यहां शुभकरण में वाटसन प्रणीत व्यवहारवाद की झांकी परिलक्षित होती है ।

---

1. हरिकृष्ण प्रेमी : प्रतिशोध, पृ.-14 ।
2. हरिकृष्ण प्रेमी : प्रतिशोध, पृ.-25 ।

प्रतिशोध के प्रथम अंक के अन्तिम दृश्य में चम्पतराय रोगग्रस्त, अवस्था में दिखाई देता है । लालकुँअरि उसके साथ है । इस समय चम्पतराय लालकुँअरि से कहता है -

"अब कोई आशा नहीं । इन हाथों में अब जरा भी ताकत नहीं रही । चुनौती सामने है, पर बुंदेलों का शौर्य आज पिंजरबद्ध सिंह की तरह तड़प-तड़प कर रह जाने के सिवा कुछ नहीं कर सकता । लालकुँअरि आज विधाता मुझे बिल्कुल भूल गये किन्तु कोई परवाह नहीं, तुम तो मेरे साथ हो । देखो लाल, आज बुन्देलों की मर्यादा संकट में है । आज तुम ही मेरी, लाज रख सकती हो ।"

इस कथन से चम्पतराय के दुर्बल अहम् पर प्रकाश पड़ता है । लालकुँअरि चम्पतराय तथा स्वयं स्वाक्रमण प्रेरणावेग का शिकार बनकर पेट में तलवार भोंककर आत्महत्या कर लेती है तब प्रभुनाथ वहां शव के आगे कहता है -

"यह पति और पत्नी की वीर जोड़ी एक साथ स्वर्ग की यात्रा को प्रस्थान कर गई । ऐसी वीर जोड़ी विश्व के किस कोने में कब पैदा हुई है ? वीर चम्पतराय, वीरांगना लालकुँअरि ! जो काम तुम जीते जी न कर सके, वह तुम्हारा बलिदान करेगा । तुम गये, किन्तु तुम्हारा पुत्र छत्रसाल इस साधना के दीपक को प्रज्ज्वलित रखने को जीवित है ।"[1]

इस कथन ज्ञात होता है कि प्राणनाथ प्रभु में वर्दाइ मरके अनुसार सृजनात्मक चिन्तन की अवतारणा हुई है ।

औरंगजेब एक दृश्य में जहांनारा से कहता है -

---

1. प्रतिशोध, पृ.-53 ।

> "जब से मैंने सुना है कि चम्पतराय और लालकुँअरि ने गिरफ्तार होने के बजाय खुदकुशी कर ली, तबसे मुझे नींद नहीं आती । ऐसे साफ दिल और बहादुरा इन्सान को मैंने कितनी तकलीफें दीं । मुझे इसका अफसोस है ।"[1]

यहां औरंगजेब की अन्तर्दर्शन पद्धति परिलक्षित होती है ।

एक संवाद में अंगदराय छत्रसाल से कहता है -

> "जब छत्रसाल का ब्याह हो तो ये आभूषण बहू को . . ."

तब छत्रसाल कह उठता है -

> "हःहः ! मेरा ब्याह ! बहु को आभूषण ! नहीं भैया, इन बातों के लिए स्वतंत्रता के सैनिकों के पास समय नहीं हो सकता ! इन्हें बेचकर हम सैन्य-संग्रह करेंगे ।"[2]

यहां छत्रसाल की कर्तव्यनिष्ठा, देशनिष्ठा एवं सामाजिक दृष्टिगोचर होती है ।

एक दृश्य में छत्रसाल देवगढ़ की तलहटी में घायल अवस्था में दिखाई देता है । अंगदराय वहां आ जाता है । छत्रसाल की पूछताछ करने के उपरान्त वह उससे कहता है -

> "तुम्हारे जीवन को मैं जानता हूं । तुम स्वर्गीय भाई सारवाहन के अवतार हो, जो चौदह वर्ष की आयु में ही शत्रु की प्रबल सेना से अकेले ही भिड़ गये थे । पिताजी

---

1. प्रतिशोध, पृ.-65 ।
2. प्रतिशोध, पृ.-68 ।

का सम्पूर्ण ओज और तेज भी तुम्हें विरासत में मिला है ।"[1]

अर्थात् अंगदराय के विचारों में वंशानुक्रम और पर्यावरण का साक्षेप महत्व प्रतिबिम्बित हुआ है । तदन्तर छत्रसाल अंगदराय से कहता है -

"यह मेरा शिक्षा-काल है । मुगल सेना में रहकर मैंने उनकी युद्ध-नीति बहुत-कुछ देख और समझ ली है । अब मेरी इच्छा है कि कुछ दिन मराठों की युद्धनीति का अध्ययन करूं । इसीलिए मैं शिवाजी के पास जाऊंगा । स्वर्गीया मां का सन्देश छत्रसाल कभी न भूलेगा । बुन्देलों को मुझपर विश्वास करना होगा, किन्तु बीच के इन कुछ दिनों में मैं अपनी नाव को जरा दृढ़ कर लूं । फिर भंवरों की चिन्ता न करते हुए उसे सागर में छोड़ दूंगा ।"[2]

यहां छत्रसाल में रेंक प्रणीत विधायक इच्छा परिलक्षित होती है ।

एक दृश्य में छत्रसाल, बलिदिवान, विजया, प्राणनाथ प्रभु, के[illegible]राय प्रभृति बातचीत में व्यग्र हैं । वार्तालाप के सिलसिले में छत्रसाल बलदिवान से कहता है -

"नहीं भैया, मेरा निश्चय नहीं बदल सकता । मैं नहीं समझता कि तुम मुझे इतना अधिक महत्व क्यों देते हो ! यह तो गुलामी के विरूद्ध जनता का आन्दोलन है । इसका नेतृत्व करने का हमें नहीं प्रत्येक सैनिक को अधिकार है । इस समय मैं नेता हूं, जो कार्य सबसे अधिक संकट का होता है उसे नेता ही किया करता

---

1. प्रतिशोध, पृ.-76 ।
2. प्रतिशोध. पृ.-78 ।

है । अतः मुझी को आत्म-बलिदान का प्रथम अवसर
मिलना चाहिए ।"[1]

यहां छत्रसाल में निर्माणकर्ता नेता और नियंत्रणकर्ता नेता ये दो नेतृत्व के गुण परिलक्षित होते हैं ।

इस नाटक के कथोपकथन संक्षिप्त और सारगर्भित बन पड़े हैं । साथ ही साथ वे पात्र और परिस्थिति के अनुकूल हो गये हैं । उदाहरण के तौर पर -

नववधू - ऐसी बात न कहिए ! शत्रुओं के रक्त से मेरे सुहाग की लाली गहरी ही होगी ।

छत्रसाल - यहां से बाहर जाना भी तो सरल नहीं है । मैं अकेला होता तो.......।

नववधू - राजपूतानी पति के पैरों की बेड़ी नहीं होती स्वामी ! एक तलवार और एक घोड़ा ये दो चीजें मुझे भी दे दीजिए फिर मैं देखती हूं कि शत्रु हमें कैसे रोक पाता है ।

छत्रसाल - "शाबाश ! तुम जैसे वीर-पत्नी पाकर मैं धन्य हुआ ।"[2]

प्रस्तुत कथोपकथनों से नववधू की व्यक्तित्व माप की विधि पर प्रकाश पड़ता है । जिसमें व्यक्तिगत इतिहास की अवतारणा हुई है ।

इस नाटक के कथनों में गंभीर स्थलों पर भाषा गहन हो उठी है एवं भावात्मक स्थलों पर वह भावना-प्रधान हो गई है । इस नाटक पर नेता के मनोविज्ञान का अत्यधिक प्रभाव है ।

---

1. प्रतिशोध, पृ.-113 ।
2. प्रतिशोध, पृ.-130 ।

आहुति

हरिकृष्ण प्रेमी ने 'आहुति' नाटक में राजपूत वीरांगनाओं के जौहर व्रत का जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया है । यह सन् 1940 में प्रकाशित नाटक है' ।

नलहारणोगढ़ के किलेदार की पुत्री चपला गीत गाते हुए एक युवती से कहती है-

> "इस भूमि को केवल पानी की ही नहीं रक्त की भी ऐसी ही भयानक प्यास है । आये दिन यहां रक्त की वर्षा होती है, फिर भी इसकी जीभ लपलपाती रहती है ।"

इतने में ही अलाउद्दीन मीरमहिमा का वहां आगमन होता है । अलाउद्दीन मीरमहिमा से कहता है -

> और दिल जब जल उठता है । उस धानी साड़ी वाली लड़की को देखते ही महिमा ! इतनी बेगमों के होते हुए मेरा महल मुझे वीरान जान पड़ता है । बोलो, तुम मेरा काम करोगे ? उस लड़की से.... ।"[1]

इस कथन से अलाउद्दीन की फ्रायड प्रणीत लिबिड़ो वृत्ति पर प्रकाश पड़ता है ।

एक दृश्य में हम्मीर सिंह का प्रबल अहम् परिलक्षित होता है । यथा -

"मीरमहिमा - मैं अपने कारण किसी को मुसीबत में नहीं डालना चाहता । एक जान की खातिर हजारों जानें बरबाद नहीं करना चाहता ।

हम्मीरसिंह - जो जानें बरबाद होने के लिए बनी हैं, उन्हें विनाश से कौन बचा सकता है ? क्षत्रियों का एक पैर सेज पर

---

1. आहुति, पृ. -7 ।

और दूसरा पैर चिता पर होता है । आप क्षत्रियों को नहीं जानते ।"[1]

दिल्ली का सेनापति मीरगमरू अपने मकान में एकान्त भाषण में कहता है -

"कुछ नहीं, कुछ भी अच्छा नहीं लगता । यह रईस किस काम की । आज रईस, कल भिखारी । मैं यहां ऐश कर रहा हूं और मेरा भाई मारा-मारा घूमता होगा । एक मसनद पर टिक कर बैठा है, दूसरा जमीन पर खड़ा होगा ।"[2]

यहां मीरगमरू के निरोध अथवा दमन पर प्रकाश पड़ता है ।

रणथम्भौर में महाराव हम्मीरसिंह दरबारियों से कहता है -

"सभी बहादुरों की एक जाति है । चाहे मुसलमान हो, चाहे हिन्दू चाहें किसी और जाति का, जो वीर है वह हमारा सगा है, वही हमनारी जाति का है । इसी दृष्टिकोण से मैंने मीरमहिमा शाह को अपना भाई बनाया है ।"[3]

यहां हम्मीरसिंह में व्यक्तिगत अनुप्रेरणा का परिष्कार हुआ है ।

एक दृश्य में हम्मीरसिंह मीरमहिमा से कहता है -

"आप राजपूती आन से शायद परिचित नहीं हैं ।मीर साहब । आपको जाने देना ही हमारी पराजय है । सम्राट

---

1. आहुति, पृ.-13 । (तेइसवां संस्करण)
2. आहुति, पृ.-15 ।
3. आहुति, पृ.-20 ।

> पृथ्वीराज के वंशज अपने सिर पर कायरता का कलक नहीं लगने दे सकते । राजपूत शरणागत के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देता है । रणथम्भौर में जब तक एक भी राजपूत जीवित है वह आपका अंगरक्षक बनकर रहेगा ।"[1]

यहां हम्मीर में सामाजिक स्वीकृति अनुप्रेरक दृष्टिगोचर होता है ।

छायागढ़ के वन की पगडण्डी पर राजपूत सैनिक आपस में बहस कर रहे हैं । एक सिपाही कहता है -

> "यह युद्ध द्रोपदी के चीर की तरह लम्बा होता जा रहा है ।"

दूसरी ओर मीरगमरू और जमाल खां के बीच बातचीत चल रही है । वार्तालाप के सिलसिले में हम्मीर सुरजन सिंह से कहता है -

> "विश्राम ! नहीं सुरजन, जो ज्वाला की चिता पर सोता है, उसे नींद कहाँ ! राजा को देश की, जाति की, वंश की, और न जाने ऐसी कितनी मर्यादाएं पालन करनी पड़ती हैं । जो राजा सुख की नींद सो सकता है, वह राजा नहीं, वसुधा का अभिशाप है ।"[2]

इस कथन में हम्मीर में आदर्श रूप में नेता के गुण परिलक्षित होते हैं ।

रणथम्भौरगढ़ की राजवाटिका में हम्मीर और मीरमहिमा के बीच बातचीत चल रही है । इस अवसर पर मीरमहिमा से कहता है -

---

1. आहुति, पृ.-24 ।
2. आहुति, पृ.-42 ।

> "मैं कल ही अलाउद्दीन के पास जाऊंगा । मेरे उसके पास चले जाने से यह जंग रुक जायेगा, मेरा एक दोस्त बरबादी से जाएगा ।"

सुरजन सिंह के संधि की बात छेड़ते ही हम्मीर कह उठता है -

> "संधि ! संधि की बात सोचना भी पाप है । समझौता क्षत्रिय के जीवन पास नहीं फटक सकता । मित्र या शत्रु, जीवन या मरण, इस पार या उस पार ! बीच का रास्ता हम लोग नहीं पकड़ते । निपटारा संधि के द्वारा नहीं युद्ध के द्वारा ही होगा ।"[1]

यहां हम्मीर में एडलर प्रणीत अग्रधर्षी प्रेरणा-शक्ति दृष्टिगोचर होती है ।

घर-घर में जन्मभूमि की रक्षा का महत्व समझाते हुए ग्रामीण से वह कहती है -

> "जो अपने जीवन का मोह न करे वही तो क्षत्रिय है । केवल क्षत्रिय के घर जन्म लेने से ही कोई क्षत्रिय नहीं हो सकता ।"[2]

यहां चपला में वाटसन प्रणीत व्यवहारवाद का परिष्कार हुआ है ।

महरानी देवल रणभूमि में सभी क्षत्राणियों से कहती है -

> "वीर माताओं, वीर बहनों, वीर पुत्रियों ! आज हम सब एक साथ चिता पर चढ़कर एकरूप हो जायेंगी । हममें न कोई बड़ा है न कोई छोटा । संसार को दिखा दो कि

---

1. आहुति, पृ.-54 ।
2. आहुति, पृ.-60 ।

> वास्तविक जीवन क्या है । जब तक जीना गौरव के साथ जीना, स्वाधीनता को स्थिर रखकर जीना । जिस दिन पराधीनता अपने पैर बढ़ाये, उस दिन या तो उसे भस्मसात् कर दें या स्वयं भस्म हो जायं ।"[1]

यहां महारानी में आत्मगौरव अनुप्रेरक उमड़ पड़ा है ।

वैसे भी 'आहुति' के संवादों में संक्षिप्तता, गतिशीलता एवं ओजस्विता का परिष्कार हुआ है । इससे नाटक की रोचकता और प्रभावक्षमता बढ़ गयी है । यथा -

महारानी - मैं समझती हूं प्रियतम ! जौहर की ज्वाला हमारी प्रतिज्ञा कर रही है । चौहान कुल का गौरव अक्षुण्ण रहेगा महाराव ! जौहर की लपेटों से चौहानों के प्राणों में प्रलयंकारी ज्वाला प्रज्वलित होगी ।

हम्मीर - तो कल हम वीर-व्रत लेंगे । कल अन्तिम युद्ध होगा । केसरिया वस्त्र पहनकर हम बाहर निकलेंगे । तुम चिता तैयारकर रखना । यदि हम विजय पाकर लौट आये तो जौहर की आवश्यकता न होगी, अन्यथा महाप्रकाश मे मिल जाना ।

महारानी - आपकी आज्ञा का पालन होगा ।"[2]

उपर्युक्त कथोपकथनों में सांस्कृतिक निर्धारण का सबल परिष्कार हुआ है । इस नाटक के सवादों की भाषा सरल, सीधी, सहज एवं प्राभावोत्पादक है । इसमें दार्शनिक एवं कवित्वमय कथन भी लिखे गये हैं ।

स्वप्नभंग (1940)

हरिकृष्ण प्रेमी द्वारा लिखा गया 'स्वप्नभंग' ऐतिहासिक नाटक है जिसमें हिन्दू और

---

1. आहुति, पृ.-86 । 2. आहुति, पृ.-75 ।

मुस्लिम के सामंजस्य निर्माण का परिणाम है ।

शाहजहां की दो पुत्रियां - जहांनारा और रोशन आरा बगीचे में राधा मालिन के पास आ जाती है । वहां राधा पहले जहांनारा के गले में फूल-माला पहनाती है । इसका विपरीत अर्थ लगाकर छोटी बहन रोशन आरा कह उठती है -

> "नहीं बहन जहांनारा । तुम बड़ी हो तिसपर दारा का तुमपर अनन्य स्नेह है । यह नौकरों का कर्तव्य है कि वे पहले दारा और जहांनारा का आदर करें और बच्ची-खुची.....।"[1]

इस कथन से रोशनआरा में जीभ की फिसलन परिलक्षित होती है जो उसके चेतन-अचेतन मन का परिचायक है ।

औरंगजेब औरंगबाद मे अपने एक आत्मनिवेदन में कहता है -

> "नीरस और निर्मम औरंगजेब ! तू किसी को प्यार नहीं करता । तलवार और कुरानशरीफ, तेरे जीवन के दो ही आधार हैं । तलवार तेरी जीवन-सहचरी है और कुरान-शरीफ तेरे जीवन का प्रकाश ।. ...दारा, शुजा और मुराद ये मेरी शतरंज के मुहरे हैं । ये सब किसी न किसी नशे में गर्क हैं । दारा दीवाना है उपनिषदों के पीछे, मुराद को शराब और सुन्दरी ही सब कुछ है, शुजा बगाल के संगीत में जिन्दगी को डुबो चुका है । होश में अगर कोई है तो औरंगजेब ।"[2]

एक दृश्य में आगरा के दीवानेखास में शाहजा, दारा, छत्रसाल, हाडा, दिलेर खां,

---

1. हरिकृष्ण प्रेमी, स्वप्नभंग, पृ.-19 ।
2. हरिकृष्ण प्रेमी, स्वप्नभंग, पृ.-34 ।

रूस्तमेजंग, खलीलुल्लाह खां प्रभृति के साथ बातचीत कर रहा है कि राष्ट्र के धर्म के नाम पर दो टुकड़े न हो जाएं । यथा -

"खलीलुल्लाह खां - शाहजहां ! आज हर बात में हम हिन्दुओं का मुहँ ताकते हैं, हम पराधीन हैं ।

शाहजहां - पराधीन ! प्रेम से मनुष्य को जीत लेना क्या पराधीनता है । तलवार से साम्राज्य जीते जाते हैं, लेकिन प्रेम से स्थिर रखे जाते हैं । हिन्दुस्तान के बादशाह को हिन्दू बनकर रहना होगा ।"[1]

यहां शाहजहां की श्रेष्ठता-ग्रंथि पर प्रकाश पड़ता है ।

नादिरा आगरा के राजमहल में अकेली चिन्ताग्रस्त अवस्था में खड़ी है । इतने में ही जहांनारा वहां आ जाती है । वार्तालाप के सिलसिले में नादिरा जहांनारा से कहती है -

"दुख मनुष्य को दार्शनिक बना देता है । तुम बातों में उड़ाकर गीत सुनाने से छुटकारा पाना चाहती हो । भाभी को आसानी से नहीं भुलाया जा सकता । सुनाओ न । संसार में संगीत, काव्य, चित्र और नृत्य आदि की कलाएं न होतीं तो मनुष्य अपनी वेदना को कैसे सहता । जीवन रेगिस्तान-सा सूना और नीरस हो जाता ; दूर तक कहीं हरियाली नजर न आती । दुखी और तृषित प्राणों को स्नेह और सहानुभूति का एक कण भी न मिलता । सुनाओ न ।"[2]

यहां नादिरा पर लेविन प्रणीत गति सिद्धान्त का गहरा असर है । क्योंकि जीवन

---

1. हरिकृष्ण प्रेमी, स्वप्नभंग, पृ.-45 ।

2. स्वप्नभंग, पृ.-70 ।

का सन्तुलन बिगड़ जाने के कारण तनाव पैदा होता है ।

दारा की मृत्यु के बाद प्रकाश जहांनारा के सम्मुख कहता है -

> "आज एक महान स्वप्नभंग हो गया । क्या राष्ट्रीय एकता के लिए एक महात्मा का बलिदान व्यर्थ जाएगा । क्या दारा का स्वप्न सदा स्वप्न ही बना रहेगा ! क्या भारत की भावी पीढ़ियां इस महान बलिदान को भूल जावेंगी ....वह पूर्ण पुरूष दारा जो न केवल मुसलमानों का, न केवल हिन्दुओं का, बल्कि सारे संसार का प्रकाश-स्तम्भ था - जिसका व्यक्तित्व देश काल की सीमा के पास पहुंच चुका था ।..... (हस्तलिखित किताबों का बड़ा बंडल जहांनारा के हाथ में देता है ।). ..जो दारा को देखना चाहें वे उन्हें इन पुस्तकों में देखें । इस भ्रम और अंधकार से भरे भव-सागर से पार उतरने का मार्ग पावें । यहां न कोई हिन्दू है न मुसलमान - केवल उस 'एक' उस खुदा उस ब्रह्म का अलग-अलग घर में प्रतिबिम्ब है ।"

इस नाटक के संवादों में सरलता, संक्षिप्तता और स्वाभाविकता दृष्टिगोचर होती है । इन संवादों में पात्रों एवं परिस्थितियों के अनुसार गम्भीरता, आवेग एवं ओज का आविष्कार हुआ है । उदाहरण के तौर पर -

"रोशन आरा - (पास बैठकर) अब्बा !

शाहजहां - (आंखों में आंसू भरकर) बेटी !

रोशन आरा - आप मुझे माफ कर दें ।

शाहजहां - तुमने क्या अपराध किया है ?

रोशन आरा - आप सब जानते हैं । मैंने आजकल अपने आप को धोखा दिया । मन को बहुत समझाया लेकिन अपराध की ज्वाला चैन नहीं लेने देती ।... मेरा

तो जी करता है मैं आत्महत्या कर लूं । अब्बा,..आपने
कैसे इतने आघात बर्दाश्त किए ?"

-स्वप्नभंग, पृ. -147-148 ।

प्रस्तुत कथोपकथन में दुर्बल अहम् की अवतारणा हुई है ।

छाया (1941)

यह प्रेमी जी का सामाजिक नाटक है जिनमें साहित्य-सृष्टा के जीवन पर गहरा प्रकाश डाला गया है । प्रकाश नदी के किनारे रात्रि के तीन बजे विक्षिप्त-सी अवस्था में प्रवेश करता है । इस समय वह अपने आत्म-निवेदन में कहता है - "संसार को प्रकाश के गीत चाहिए, प्रकाश नहीं चाहिए । लोग कहते हैं, तुम्हारी कविता साहित्य की अमूल्य संपत्ति है, किन्तु कोई यह नहीं देखता कि विश्व साहित्य को अमूल्य संपत्ति देनेवाला कवि, अपनी पत्नी की इज्जत ढकने के लिए एक धोती तक खरीदने में भी समर्थ नहीं है, अपनी बच्ची को दूध पिलाने को भी दाम नहीं पाता । उस दिन जब साहित्य-सभा के मंत्री मुझे मान-पत्र दे रहे थे, सभा के बाहर कचेहरी का प्यादा समन लिये खड़ा था इस तरह कब तक अपना लोहू पीकर मैं साहित्य भण्डार भर सकूंगा ।"[1]

एक दृश्य मे रजनीकान्त के अपराध मनोविज्ञान पर प्रकाश पड़ता है । यथा -

"शकर - रजनीकान्त ! प्रकाश को बरबाद न होने दूगा, आप लोग एक भोले कवि को नष्ट कर रहे हैं ।

रजनीकान्त - ज्योत्सना मेरा परीक्षा यंत्र है । इस यंत्र से मैं नौजवानों के दिलों की धड़कनें गिनता हूं ।.. .आदमी रूपी जानवर जब अपनी वासना को कपड़ पहनाता है, तो मुझे हंसी आती है ।"[2]

छाया में व्यवहार के चिरस्थायी प्रतिरूप प्रकार के व्यक्तित्व की यथार्थ रूप में अवतारणा हुई है । यथा -

"प्रकाश - छाया ! तुम मेरा बल, प्रतिभा, पौरूष, धन-वैभव, आशा, साहस और स्फूर्ति हो ।

छाया - (सभी के सम्मुख) आप लोग साहित्य-सेवी, कवि और नाटककार युग की वाणी है और भविष्य के निर्माता

---

1. हरिकृष्ण प्रेमी, छाया, पृ. -13 (तीसरा संस्करण) ।
2. हरिकृष्ण प्रेमी, छाया, पृ. -41 (तीसरा संस्करण) ।

हैं । उधर देखो वह रूपया मनुष्य से अपमानित होकर अपनी अकिंचानता पर रो रहा है । एक घड़ी पहले इसी रूपये की वसूली के लिए आपको सरकारी प्यादा लाना पड़ा था, अब इसे उठाते हुए हृदय शंकित और लज्जित हो रहा है । रूपये को अपने सिर न चढ़ने दो, मनुष्यो ! रूपये को मनुष्य का सुख छीनने दो, मनुष्यो ! रूपये को मनुष्य का अपमान न करने दो, मनुष्यो !....(प्रकाश के चरणों में बैठकर) आपकी छाया सदा आपके साथ रहकर आपके रास्ते के कांटे बनेगी । सदा आपके हृदय में आशा का दीपक जलायगी, बल्कि स्वयं दीपक बनकर आपका पथ आलोकित करेगी । छाया मिटे तो मिट जाय लेकिन प्रकाश अमर रहे ।"[1]

छाया के कथोपकथन ओजस्वी, प्रवाहमय एवं गतिशील है । सरलता एवं पात्रानुकूलता इनके मौलिक गुण हैं । इस नाटक के कथनों में भाषा सरल, मधुर और वातावरण के अनुसार है । इसमें कहीं-कहीं काव्यमयी साहित्यिक भाषा में बड़े कलात्मक चित्र उमड़ पड़े हैं । यथा -

स्नेह - मां जब बाबू जी कविता पढ़ते हैं, हजारों लोग तालियां पीटते हैं, तारीफ करते हैं । कोई इतने पैसे नहीं दे देता कि उनका कर्ज चुक जाय ।

छाया - नहीं बेटी, कोई अपनी गाँठ को पैसा नही देना चाहता ।

स्नेह - और वह देवेन्द्र जी, जिन्होंने अपने बाबू जी की किताबें छापी हैं जिन्होंने अभी नई कोठी बनवाई है, क्या वे भी नहीं देते ?"[2]

उपर्युक्त कशोपकथनों में स्नेह की आत्म-प्रकाशन वृत्ति पर प्रकाश पड़ता है ।

कई स्थलों पर नाटककार के सौन्दर्यशील कवि हृदय की अभिव्यक्ति हुई है ।

xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

1. छाया, पृ.-79-80 । छाया, पृ.-10 ।

जैसे -

> "पापपुरी में यदि वह पैर रखेंगे तो पाप भी पुण्य हो जाएगा । वह पाप के पेड़ से भी पुण्य के फल तोड़ेंगे, ऐसा जादू है उनकी वाणी में ।"

प्रेमी जी के अन्य नाटकों के कथोपकथन इस प्रकार हैं -

'बन्धन' 1941

'प्रेमी' जी का एक सामाजिक नाटक है जिसमें पूंजीपति एवं मजदूरों का संघर्ष यथार्थ रूप में चित्रित किया गया है । इसके कथोपकथनों में वास्तविक स्थिति के साथ समझौता, भावनाजन्य क्रियाओं का परिलक्षित होना, अचेतन अनुप्रेरणा, सामाजिक सुरक्षा के भाव आदि परिलक्षित होते हैं ।

'बंधन' के संवाद सुगठित, संक्षिप्त एवं उपयुक्त हैं । उनमें संयम, गाम्भीर्य एवं सरसता का परिष्कार हुआ है । यथा -

दूसरा बालक - और चोर के घर में चोरी करना बुरा नहीं है"।
सरला - लकिन रायबहादुर साहब ने रूपया चोरी करके नहीं व्यापार से जमा किया है ।
तीसरा बालक - चोरी न सही बेइमानी सही -
सरला - क्यों ?
चौथा बालक - काम तो सारे मजदूर मिलकर करते हैं । फिर मिल की सारी आमदनी सबको बराबर क्यों नहीं बाँटते ? रायबहादुर साहब को तो उसमें इतना परिश्रम नहीं करना पड़ता ।
पहला बालक - हां और वे ही सारा लाभ ले जाते हैं । है न यह बेइमानी ।"[1]

---

1. छाया - 36-37 ।

प्रस्तुत कथोपकथन से बच्चों की सृजनात्मक कल्पना पर प्रकाश पड़ता है ।

'बंधन' नाटक के कथनों की भाषा-शैली सुबोध एवं भावपूर्ण है । इसमें व्यंग्य कथनों का भी सुचारू रूप से अवलम्ब हुआ है । उदाहरणतया -

"आदमी ! ह:ह:ह: आदमी ! आदमी बनने से क्या लाभ ? और यह बताओ, आदमी पशु नहीं तो क्या है ? हमारे पिता ! वह शरीफों के शिरमौर ! वे कितने बड़े पशु हैं ! क्या तुमने कभी अच्छी तरह उन्हें देखा है ?"

इस नाटक में समाज, मनोविज्ञान एवं बाल-मनोविज्ञान का यथार्थ निरूपण है ।

1945 मे हरिकृष्ण प्रेमी ने विषपान' नाटक में मेवाड़ की राजकुमारी कृष्णा का एक वास्तव एवं करूणाजनक चित्र प्रस्तुत किया है । इसके पात्रों के कथनों में परिपक्वता एवं द्वन्द्व परिलक्षित होता है । पारलौकिक धर्म प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है । एक दृश्य में रमा कहती है -

"फांसी, नहीं, यह नारी धर्म है । नारी संसार में केवल देने आई है, लेने नहीं । यदि वह कुछ लेती है तो संसारभर का कष्ट, दुनियाभर की वेदना, विश्वभर का अभिशाप । आठोंपहर घरों के बन्दीगृह में बन्द रहकर वह पुरूष को कर्मक्षेत्र में भेजती है । वह दीपक की भांति जलकर घर का अंधेरा दूर करती है । यही नारी की सार्थकता है ।"[1]

इस नाटक के अधिकांश संवाद सरल, सजीव, सशक्त एवं प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं । उनमें भावात्मकता, ओजपूर्णता एवं दार्शनिकता का उचित रूप में समावेश हुआ है जैसे -

---

1. विषपान, पृ.-71 ।

केसर - क्या आप प्रेम के लिए संसार छोड़ नहीं सकते ? आप मेरे हैं - मेरा संसार है । मैं आपको लेने आयी हूं ।
जगत - केसर, प्रेम त्याग चाहता है ।
केसर - केवल नारी से - पुरूष से नहीं ।
जगत - आज तुम मुझसे लड़ने आयी हो, केसर !
केसर - हां महाराज ! अपने प्यार के लिए । अपने अधिकार के लिए । मुझमें क्या नहीं ? फिर आप क्यों और विवाह कर रहे हैं ।"[1]

उपर्युक्त कथोपकथनों से केसरबाई की कामप्रवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है ।

कथनों की भाषा सीधी, सरल और सरस है । इसमें नाटकत्व एवं कवित्व का सामंजस्य सुन्दर रूप से हुआ है ।

प्रेमी जी का 'उद्धार' नाटक ऐतिहासिक है जिसमें चित्तौड़ के सिसोदिया राजवंश के महाराजा लाखा के द्वितीय पुत्र अजय सिंह का कथानक है । संवादों द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं के संदर्भ में, वर्तमान राजनीति और समाज नीति की उलझनों और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है । सम्वादों में देशवासियों में राष्ट्रीयता के महत्व को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया गया है । इसमें केवल तीन अंक हैं ।

(सन् 1949) 'उद्धार' का नायक हमीर एक दृश्य में मालदेव से कहता है -

"आपको वंशाभिमान के अतिरेक ने पथ-भ्रष्ट कर दिया था, किन्तु हमें जानना चाहिए देश को जाति, वंश और सभी सांसारिक वस्तुओं से ऊंचा है । उसकी मान रक्षा के लिए हमें सर्वस्व बलिदान करना चाहिए ।"[2]

यहां नेता की उच्च इच्छाशक्ति का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।

---

1. विषपान, पृ.-79-80 । 2. उद्धार, पृ.-120 ।

हमीर में मानवोचित कमजोरियां भी विद्यमान हैं । जिस समय कमला के प्रेमपाश में वह आबद्ध है, लगता है, वह सब कुछ भूल गया है - उदाहरण के लिए -

हमीर - पंछी को घायल करके तड़प-तड़प कर मर जाने के लिए छोड़कर वधिक चला जाना चाहता है ।

कमला - जिस व्यक्ति को देश की स्वतंत्रता के लिए विदेशी सत्ता और स्वदेशी देशद्रोहियों के षड्यन्त्रों से जूझना है उसके मुख से ऐसे शब्द शोभा नहीं देते ।

हमीर - तो तुम समझती हो कि स्वाधीनता के सैनिकों में हृदय के स्थान पर शिला-खंड होता है ।

कमला - अवश्य ही ।

हमीर - और तुम भूलती हो कि शिलाखंडों में से भी रस-निर्झर फूट पड़ते हैं । कमला जीवन की स्वाभाविक भूख प्यास को हम नष्ट नहीं कर सकते । कुछ काल के लिए वे प्रसुप्त भले ही हो जाएं, किन्तु सर्वदा लुप्त नहीं हो सकती । तुमने मेरे जीवन में आकर मेरे सोए हुए अनुराग को जागृत कर दिया है । मेरी तुम्हारे प्रति अनुरक्ति क्या अच्छा नहीं लगता ।"[1]

इस नाटक के संवाद सरल, स्वाभाविक एवं पात्रानुकूल है । भाव, भाषा तथा अभिनय की दृष्टि से वे अतीव महत्वपूर्ण बन पड़े हैं । उदाहरणतया -

सुजान - तो तुम मेरे चाणक्य बनना चाहते हो ?

भूपति - हां, यदि आप चन्द्रगुप्त बनने को उत्सुक हो ?

सुजान - यदि मेवाड़ के उद्धार का कोई मार्ग निकलता हों तो मैं प्रस्तुत हूं ।

भूपति - इसके लिए आपको महाराणा जी से विद्रोह करना पड़ेगा ।

सुजान - ऐसी नीचता मैं नहीं करूंगा ।[2]

---

1. उद्धार, पृ.-102-103 । 2. उद्धार, पृ.-50 ।

प्रस्तुत कथोपकथनों में इड और अहम् के संघर्ष की यथार्थ अवतारणा हुई है । इस नाटक पर जनमत का यथेष्ट प्रभाव है ।

(सन् 1951) 'शपथ' प्रेमी जी के श्रेष्ठतम नाटकों में है । इसकी कथा का सम्बन्ध हूणों के आक्रमण और दशपुर (वर्तमान मन्दसौर) के नायक विष्णुवर्द्धन द्वारा प्रतिरोध से है । भारत में हूणों के भयंकर आक्रमण से इस नाटक की कथा-वस्तु प्रारंभ होती है । 'शपथ' का भी नायक जनजीवन के बीच में पलकर प्रकट हुआ है, अतः उसका कार्यकलाप तथा व्यवहार मानव जीवन को विशेष रूप से स्पर्श करता है -

> "भारत के अन्य राजा अपने-अपने प्रदेशों में मुंह छिपाये बैठे थे, उन्हें यह नहीं सूझता था कि अपने शत्रु को संगठित होकर पराजित कर भारत से निकाला जाय - जनता में से एक वीर प्राण खड़ा होकर विश्वविजयी हूणों की शक्ति को धूल में मिलाकर देश को स्वतंत्र करता है । वास्तव में यह घटना भारतीय प्राणों की ओज, आत्मविश्वास और बल प्रदान करने वाली है ।"[1]

वही एक वीर, विष्णुवर्द्धन है जो 'शपथ' का नायक है । हूणों के युद्ध में विष्णुवर्धन के पिता मार डाले जाते हैं । तभी विष्णुवर्धन शपथ लेता है -

> "महाकाल के इस बिजली मे समान चमकने वाले अस्त्र की शपथ खाकर कहता हूं कि बर्बर हूणों को भारत की सीमा से निर्वासित किये बिना अब यह असि म्यान में मुँह नहीं छिपायेगी ।"

इस नाटक में कंचनी नर्तकी है, परन्तु वह देशभक्ति, साहस, शौर्य, त्याग आदि गुणों से मंडित है । विष्णुवर्धन उसके संबंध में स्वयं कहता है -

---

1. शपथ, पृ.-6 ।

"देश कार्य की स्वयं-सेविकाओं में तुम सबसे आगे रही ।"

सुहासिनी एक शरणार्थिनी बाला है वह एक वीर रमणी है,..उसका निम्नलिखित सम्वाद उसकी वीरता को पुष्ट करता है -

"किन्तु, मैं निवेदन करना चाहती हूं कि तुम्हारे लोचनों में स्नेहसागर लहराता हुआ देखकर मैं जितनी पुलकित होती हूं, प्रज्वलित ज्वालामुखी देखकर भी उतनी ही प्रफुल्लित ।"[1]

उसका सच्चा राष्ट्रप्रेम तो तब प्रकट होता है जब अपने देशद्रोही अग्रज की हत्या अपने ही तीर से कर डालती है । विष्णुवर्धन और सुहासिनी का संवाद -

विष्णुवर्धन - अपने अग्रज पर शस्त्र संचालित करते हुए तुम्हारे हाथ कांपे नहीं ।

सुहासिनी - रणक्षेत्र में न कोई शत्रु है न कोई बहिन । वहां शत्रु के सामने शत्रु खड़ा होता है । मैंने अपने अग्रज का वध नहीं किया, मैंने तो एक देशद्रोही नरेश कही हत्या की है - मुझे अपने इस पुण्य-कार्य के लिए गर्व है ।"[2]

यहां इसका हृदय कितना कठोर दिखाई पड़ता है अपने देशद्रोही अग्रज की हत्या करने पर उसे लेशमात्र भी खेद नहीं होता । नाटककार ने पात्रों के संवादों द्वारा व्यक्तित्व के निरूपण में सन्तुलन और विविधता का ध्यान रखा है ।

सन् 1959 में प्रकाशित 'सम्वत्-प्रवर्तन' ऐतिहासिक नाटक है । शकारि विक्रमादित्य के संबंध में लिखा हुआ, यह प्रेमी जी का प्राचीन काल से संबंधित नाटक है । तीन अंकों के इस नाटक में वर्तमान का चित्रण है । इस नाटक की कथा के अनुसार

---

1. शपथ, पृ.-74 ।
2. शपथ, पृ.-134-135 ।

गर्दभिल्लदर्पण के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से मालव प्रदेश को मुक्त किया और शकों का मालव प्रदेश से उच्छेद हो जाता है और विदेशी सत्ता से मुक्ति पाने के उल्लास में नए संवत् का प्रवर्तन किया जाता है । इसमें अनेक स्थलों पर स्वतंत्रता प्राप्ति के उल्लास वर्णित हैं .

"देश हुआ स्वाधीन हमारा,
खूब खुशी से गाओ रे ।
आज हमारी धरती अपनी
अपना है आकाश रे ।
सूर्यमुक्ति का चमका नभ में,
लेकर नया प्रकाश रे ।"

सन् 1951 के उपरान्त इधर प्रेमी जी ने 'सम्वत्-प्रवर्तन' के अलावा कई नाटक लिखे जिनमें 'ममता' को छोड़कर अधिकांश ऐतिहासिक पीठिका पर आधारित है । भग्न-प्राचीर (1954), कीर्तिस्तम्भ (1955 ई.), संरक्षक, विदा, ममता (1959 ई.) तथा सांपों की सृष्टि (1959 ई.) ।

'भग्न प्राचीर' की कथा महाराणा संग्राम सिंह के जीवन के उस अन्तिम काल से सम्बन्धित है, जिस समय वे राजपूत शक्तियों को संगठित कर बाबर से युद्ध करते हैं । यह तीन अंकों का रंगमंचोपयुक्त नाटक है । प्रेमी जी ने नाटक की भूमिका में लिखा है - "इस नाटक से पाठकों एवं विद्यार्थियों के मन पर इतना ही प्रभाव डालना चाहता हूं कि यदि देश को स्वतंत्र रखना है तो सम्पूर्ण भारत को एक मानकर हमें राष्ट्रीय सगठन करना चाहिए ।"

स्वतंत्रता के बाद लिखे गये प्रेमी जी क नाटकों में 'कीर्तिस्तम्भ' महत्वपूर्ण. हें । कीर्तिस्तम्भ में चित्तौड़ के महाराणा रायमल के पुत्रों - संग्रामसिंह, पृथ्वीराज और जयमाल तथा सुरजमल के बीच सत्ता-प्राप्ति के अन्तर्कलह का चित्रण है । नाटक में स्वगत-भाषण तथा एकान्त भाषण नहीं है । इसकी भूमिका में लिखा है - "भारत सदियों की पराधीनता के पश्चात् स्वतंत्र हुआ है और अब इसे नवार्जित स्वतंत्रता की रक्षा भी करनी है । प्राचीन इतिहास हमारी शक्ति और दुर्बलता का दर्पण है ।"

'संरक्षक' का कथानक भारत के अंग्रेजी काल के इतिहास से अपना संबंध रखता है । 'बिदा' की कथा शाहजादा अकबर के उस प्रयत्न से संबंधित है । 'ममता' भी सामाजिक नाटक है । इसकी प्रमुख कथा प्रेम से संबंधित है, जिसके परिप्रेक्ष्य में सामाजिक रूढ़ियों तथा जातीय बन्धनों पर आघात किया गया है । 'सांपों की सृष्टि' (1959 ई.) नाटक में अलाउद्दीन खिलजी के अन्तिम दिनों की झांकी प्रस्तुत की गई है । इस नाटक में प्रेमी जी ने मुसलमान-पात्रों के मुंह से भी हिन्दी भाषा के कथोपकथन कहलाये हैं । वे स्वयं भूमिका में स्पष्ट लिखते हैं - "मैंने अपने 'रक्षाबन्धन', शिवा-साधना' आदि नाटकों में मुसलमान पात्रों की भाषा उर्दू रखी थी । किन्तु जब मैंने कुछ ऐसे नाटक लिखे जिनमें अधिकांश पात्र मुसलमान थे तो मुझे अनुभव हुआ कि यदि उनकी भाषा उर्दू रखूंगा तो सारा नाटक उर्दू का हो जाएगा अतः मैंने पिछली परंपरा तोड़कर सभी पात्रों की भाषा हिन्दी रखना ही उचित समझा ।" पुण्यमित्र के कथानक को लेकर प्रेमी जी ने 1968 में 'शक्ति-साधना' नाटक लिखा है ।

चरित्र-चित्रण को सजीवता प्रदान करने तथा कथानक को गतिमान करने का कार्य कथोपकथन द्वारा ही संभावित है । 'प्रेमी' के नाटकों में कथानक गतिशील है तथा चरित्र-चित्रण सजीव । "उनके संवादों में प्रेम, शौर्य, दार्शनिकता एवं समाज चिन्तन को मुख्य स्थान मिला है । निरर्थक संवादों की योजना भी उन्होंने नहीं की है । और प्रायः उनके संवाद पात्रों के व्यक्तित्व का प्रकाशित करने वाले रहे हैं ।"[1]

'प्रेमी' जी के कथोपकथनों में इतिहास को जीवन्त करने की चाह है, नवीन समस्याओं को उभारकर उनका हल बताने की लालसा है तथा राष्ट्रप्रेम, मानवप्रेम की अभिव्यक्ति के साथ हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, साम्प्रदायिक ऐक्य, सामाजिक रूढ़ियों आदि को अभिव्यंजित करने की उत्कट अभिलाषा है । 'प्रेमी' की संवाद-योजना निरन्तर विकासमान रही है ।

वृन्दावनलाल वर्मा के नाटकों में संवाद

उपन्यासकार की हैसियत से तो वर्मा जी ने हिन्दी का मस्तक ऊंचा किया ही है, इसके साथ ही साथ उन्होंने अपना ध्यान नाट्य-रचना की ओर भी आकृष्ट किया है । वर्माजी

---

1. भारतीय नाट्य-शास्त्र (सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रंथ), पृ.-360 ।

ने उपन्यासों के साथ-साथ लगभग बीस-बाइस सामाजिक व ऐतिहासिक नाटकों की भी सृष्टि की है । वर्मा जी के ऐतिहासिक नाटकों पर उनकी प्रतिभा और कल्पना जितनी तन्मयता के साथ रम सकी है उतनी सामाजिक नाटकों में नहीं । लेकिन सामाजिक नाटकों की संख्या कम नहीं है । वर्मा जी के ऐतिहासिक नाटकों के नाम इस प्रकार हैं - झांसी की रानी (1948), पूर्व की ओर (1950), वीरबल (1950), ललित विक्रम (1953) आदि उल्लेखनीय है ।

वृन्दावनलाल वर्मा जी ने ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में भी सफलता प्राप्त है । उनके सामाजिक वर्ग के नाटकों के नाम इस प्रकार हैं - राखी की लाज (1943), बांस की फांस (1947), खिलौने की खोज (1950), केवट (1951), नीलकंठ (1951), सगुन (1951), निस्तार (1956), देखा-देखी (1956), आदि प्रमुख हैं ।

इन नाटकों में सामाजिक और ऐतिहासिक कथानक ग्रहीत हुएं हैं । इन्होंने मध्यकालीन भारत का आंचलिक इतिहास अपने नाटकों द्वारा प्रस्तुत किया है । इस प्रकार बुन्देलखंड को विशेष गौरव प्राप्त हुआ है । उनके सामाजिक नाटकों की समस्याएं समाज के बाहरी ढांचे से संबंध रखती हैं । पात्रों के अन्तर्जगत में प्रवेशकर सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने की क्षमता वर्मा जी में अधिक नहीं दिखाई पड़ती ।

वर्मा जी ने अपनी नाट्यमाला में प्रथम पुष्प सन् 1949 ई. में पिरोया जिसका नामकरण 'राखी की लाज' किया । इसकी कथा का संबंध 'रक्षाबन्धन' से है जिसके द्वारा बहन भाई के सिर खरीद लेती है । इस नाटक में आकस्मिकता, कौतूहल तथा रोमान्टिक प्रेम को विशेष रूप से जीवन्त किया गया है । सामान्यतया वर्मा जी के नाटकों का ऐतिहासिक और सामाजिक महत्व चाहे जितना हो शिल्प की दृष्टि से उनके नाटकों का अधिक महत्व नहीं है । यद्यपि कौतूहल को जागृत रखने की पूरी चेष्टा की गयी है फिर भी रंग-शिल्प पर ध्यान ने देने के कारण उनके सभी नाटक रंगमंच की उपयोगिता के बहुत दूर हैं ।

राखी की लाज (1949 ई.)

यह वर्मा जी का सामाजिक नाटक है । इस नाटक में मेघराज, गलती से अपनी धर्मबहन के यहां डाका डालने आ जाता है तब वह सरदार से कहता है

> "कुछ नहीं । चलिए यहां से । आप गलत घर में आये हैं । चलिये शीघ्र छोड़िये इस जगह को ।"[1]

इस कथन में मेघराज की श्रेष्ठताग्रंथि दिखाई देती है वह सरदार के कहने पर भी अपना प्रण नहीं त्यागता है ।

जब थानेदार मेघराज और चम्पा के अनुचित संबंध की बात कहता है तो चम्पा कहती है -

> "मैं सामने आती हूं । चलिए जहां ले चलना हो कोई भी धमकी मुझको मनचाहा कहलाने के लिए विवश नहीं कर सकती । मैं तैयार हूं । आप मेरे भाई को नहीं सता सकेंगे । लीजिए मेरा बयान जहां लेना हो ।"[1]

यहां चम्पा में नीरीत्व दृष्टिगोचर होता है उसके अहम् पर भी प्रकाश पड़ता है ।

इस नाटक में गांव की एकता पर भी बल दिया गया है । गांव की उन्नति के सन्दर्भ में भी सोमेश्वर बालाराम से कहता है -

"दादा हम लोगों ने अपने सेवादल को खूब संगठित किया है । सरकार से बन्दूकें भी मिलेंगी । हम लोग कवायत परेड सीखेंगे । सब लोगों के खास तौर पर युवकों के जीवन में नियम तरतीब अनुशासन आएगा और फिर हम लोग आसानी से डाकुओं और बीमारियों का सामना कर सकेंगे और गांव की उन्नति के लिए किसी भी काम को दृढ़तापूर्वक बढ़ा सकेंगे ।"[3]

इस कथन से सोमेश्वर की कल्पना क्रिया में उसके अचेतन मन की विशिष्ट

---

1. वृन्दावनलाल वर्मा - राखी की लाज, पृ.-33 ।
2. वृन्दावनलाल वर्मा - राखी की लाज, पृ.-67 ।
3. वृन्दावनलाल वर्मा - राखी की लाल, पृ.-79-80 ।

कार्य पद्धति का विशेष रूप है ।

इस नाटक में गतिप्रेरक एवं चुस्त संवादों की प्रचुरता है । इसी कारण पात्रों का चरित्रोद्घाटन बड़े ही सजीव और यथार्थ ढंग से हो जाता है । उदाहरणतया -

मेघराज - मार दो, मार दो । जितनी खुशी मुझको मरने में हो रही है उतनी तुमको मेरे मरने में नहीं मिलेगी ।
सरदार - बेईमान उस लड़की के प्रेम ने तुमको भ्रष्ट किया है और हम सबका सत्यानाश ।
मेघराज - खबरदार सनीचर, जो इस प्रकार की बात बकी । मैं भले मां बाप का लड़का हूं । मेरी मौज ने मुझको संपेरा और आवारा बनाया । परन्तु वह मौज बहिन को पहिचानने और बचाने से नहीं सकी ।
सरदार - बहिन ! वह छोकरी तेरी बहिन ।"[1]

इन संवादों से स्पष्ट है कि मेघराज में अचेतन मन की कार्यपद्धति उमड़ पड़ी है ।

वर्मा जी ने संवादों में भारतीय संस्कृति एवं संस्कारों का वातावरण सुरक्षित रखने की भावना से यथार्थ शब्दों का प्रयोग किया है । चुने हुए विशिष्ट शब्दों में पात्रों की अन्त:प्रवृत्तियां और उत्कट मनोभाव प्रकट हुए हैं ।

फूलों की बोली

यह भी उनका सामाजिक नाटक है । इस नाटक में स्वर्ण रसायन द्वारा स्वर्ण प्राप्त करने वालों की मूर्खता पर तीखा व्यंग्य है । नाटककार ने स्वयं ऐतिहासिक नाटक कहा है लेकिन यह सामाजिक नाटक है । जयनाथ 'नलिन' ने अपनी पुस्तक में लिखा है - "इसमें तनिक भी ऐतिहासिकता नहीं, केवल इसका आधार ऐतिहासिक घटनामात्र है । सभी

----

1. राखी की लाज, पृ.-37 ।

पात्र और घटनाएं काल्पनिक हैं । इस नाटक को तो ऐतिहासिक न होकर सामाजिक ही समझना चाहिए - पूर्णतः वर्तमान युग का ।"[1]

इस नाटक के प्रथम अंक के एक दृश्य में माधव, पुलिन तथा माया के संभाषण से सिद्ध के चरित्र पर, उसकी कामुकता पर प्रकाश पड़ता है । यथा -

पुलिन - सिद्धराज का किया हुआ कुकर्म नहीं होगा यह ।
उनका-सा वेश बनाकर कोई और आया होगा ।
माया - वही था, वही था । सब कुछ तो बतला दिया मैंने ।
वह काम और रस की भी बातें करता था ।
माधव - दुष्ट था और लम्पट भी ।"[2]

सिद्ध और बलभद्र उज्जैन के बाहर एक झाड़ी में आते हैं । सिद्ध ने चेहरे पर चेचक के दाग बना लिये हैं । और काली दाढ़ी है । बलभद्र ऋषि नागार्जुन के वेश में हैं । दोनों में अद्भुत नाटक की तारीफ चल रही है ।

सिद्ध - तुम कितने आज्ञाकारी हो ! और कितने सुन्दर ! यदि तुम स्त्री होते तो शायद मैं सन्यास छोड़कर तम्हारे साथ विवाह कर लेता !!! तुम परम सुन्दर हो और अत्यन्त बुद्धिमान । तुम बकुल हो, बेला के फल हो ।
बलभद्र - आप विवाह कर लेते !
सिद्ध - मैं तुमको वैसे भी बहुत चाहता हूं, इतना कि जितना संसारभर में किसी भी स्त्री-पुरूष को नहीं चाहता ।[3]

सिद्ध की यह वृत्ति स्वलिंगी कामभावना की प्रतीक है । सिद्ध की कामवासना का विकास उसके ऋषित्व के आडम्बर में रूक जाता है और वह परलिंगी की अपेक्षा बलभद्र जैसे स्वलिंगी को ही प्रेम करता है । माया बलभद्र के प्रेम में फंस चुकी है, इसका सबूत

---

1. जयनाथ 'नलिन' : हिन्दी नाटककार, पृ.-223 ।
2. फूलों की बोली, पृ.-57 ।
3. फूलों की बोली, पृ.-53 ।

निम्नलिखित वार्तालाप है -

बलभद्र - मैंने आपको एक दिन अपना गाना सुनाने के लिए कहा था, सुनाऊं ?

माया - अवश्य ! परन्तु मुझसे अब 'आप-आप' न कहा करो, मुझको अच्छा नहीं लगता 'तुम' कहा करो, 'तुम' । समझे न ?[1]

बलभद्र अपना असली रूप सभी के प्रकट करके माया और कामिनी के सम्मुख कहता है -

"मेरे ऊपर दया करो देवियों । मैं अनाथ हूं । संसार में मेरा कोई नहीं है । उस दुष्ट सिद्ध की काली छाया के नीचे मैं भी कालिख में पुत गया, परन्तु मैं उसको पोछ डालूंगा ।"[2]

इस कथन में बलभद्र की इस वृत्ति में तादाम्यीकरण के गुण दिखायी देते हैं ।

इस नाटक के कथोपकथन से प्रत्येक पात्र की मनोवैज्ञानिक जानकारी मिलती है । स्वर्ण-रसायन के पुजारी सिद्ध निरर्थक प्रयोग करके चमत्कार की सृष्टि उत्पन्न करता है । उसकी बोली अत्यन्त कौतूहलपूर्ण है । सर्वत्र उसकी सांकेतिक बोली होती है । इसकी यथार्थ प्रतीती निम्नलिखित कथोपकथनों में दिखाई देती है -

कामिनी - आपने कौन सी भाषा खी है ?

सिद्ध - फूलों की बोली ।

माया - फूलों की बोली ।

कामिनी - फूलों की बोली !! फूलों की बोली कैसी ?

सिद्ध - कल रात मैंने कुछ फूलों के नाम लिये थे न ?

---

1. फूलों की बोली, पृ.-73 ।

2. फूलों की बोली, पृ.-82 ।

कामिनी - लिये थे । और मैं समझ गयी थी कि इनका कोई गूढ़, कोई बहुत छिपा हुआ अर्थ होगा ।

सिद्ध - इसमें कोई सन्देह नहीं । नहीं तो भला पाटल, तमाल, अलसी इत्यादि के फूल पत्तों से क्या होता है ?

माया - तो उन फूलों के नाम केवल संकेत थे ?

सिद्ध - जैसे मुझको आवश्यकता पड़े तो माया को माया न कहूंगा । किसी फूल का नाम रखूँगा । क्या नाम रखूँ माया तुम्हारा ?

माया - (हंसकर) चाहे जौन-सा ।

सिद्ध - हां, मंजरी - नहीं, मल्लिका मंजरी । और कामिनी का, (कामिनी पर आंख गड़ाकर) कामिनी तो वैसे ही एक फूल का नाम है । परन्तु अपने मतलब के लिये कामिनी का नाम कुमुदनी रख लूंगा ।"[1]

इस वार्तालाप में सिद्ध ने अभ्यास और अभिमान की प्रीति का प्रयोग कर लिया है ।

बांस की फांस में कॉलेजियट लड़कों के दो रूप रखे हैं । इस नाटक के संवाद बहुत सरल है । छोटे-छोटे वाक्यों में नाटककार ने मानो गागर में सागर भर दिया है । संवादों में पात्रों के अनुसार गंभीरता, हास्यविनोद और प्रभावोत्पादक कला-संपन्नता दिखाई देती है । कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं -

गाकुल - (रूद्धकण्ठ से) अच्छा गीत और सुनाओ पुनीता ।

पुनीता - गीत तो सुना दूंगी, क्योंकि एक दिन में दो गाने सुनाने का मैंने वचन हारा है, पर आपका गला क्यों भर आया है ?

गोकुल - तुम अब किसी का कभी गाली नहीं दोगी ?

पुनीता - कभी नहीं । क्यों आपको क्या सन्देह है ? आपने क्या

---

1. फूलों की बोली, पृ.-35,36 ।

मुझको अभी तक क्षमा नहीं किया ?

गोकुल - मैं तो उस बात को भूल ही गया हूं ।

पुनीता - (सोचकर) नहीं, मां कहा करती है कि बांस से फांस बुरी होती है । फांस कसकती रहती है ।

गोकुल - क्या तुम्हारे मन में भी कुछ कसक रहा है ?

पुनीता - नहीं तो ! मुझको तो आपकी उस आंख पर हंसी आती है । ह ! ह !! ह !!! ह !!!! ।[1]

उपर्युक्त संवादों में पुनीता और गोकुल की अन्त:प्रवृत्तियां यथार्थ रूप में उमड़ पड़ी हैं । इस नाटक में मनोवेगों का उतार-चढ़ाव मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रकट करने में भाषा का एक गठीला एवं चुस्त रूप दृष्टिगोचर हुआ है ।

'झांसी की रानी' नाटक में रानी लक्ष्मीबाई का चरित्र इतिहास के आधार पर चित्रित किया है । इसमें कई स्थल के संवाद मनोविज्ञान के सबल आधार पर लिखे गये हैं । यथा-

वयस्कों की अपेक्षा बालकों की पतिमाएं अधिक सजीव होती है । इसकी प्रतीति मनू के निम्नलिखित कथोपकथनों में आ जाती है -

मनू - क्यों नहीं रहा काका ? वही आकाश है, वही पृथ्वी है, वे ही सूर्य, चन्द्रमा और तारे । सब वे ही हैं । अब क्या हो गया है ?

बाजीराव - अब देश का भाग्य लौट गया है ।

मनू - कैसे क्यों ? ग्वालियर, इन्दौर, बड़ौदा, नागपुर, सतारा, भरतपुर और इतने बड़े राजस्थान के होते हुए भी अंग्रेजों ने आप सबको दाब लिया ।

बाजीराव - अंग्रेज चालाक हैं । हथियार उनके पास अच्छे हैं । वे शूरवीर भी हैं । भाग्य उनके साथ हैं और हमलोगों में फूट है ।

---

1. बांस की फांस, पृ.-59 ।

मनू - दादा, क्या भाग्य में शूरवीर होना भी लिखा रहता है ? यदि ऐसा है, तो अनेक सिंह स्यार होते होंगे और बहुत-से स्यार सिंह ।"[1]

जूही और तात्या के संभाषण में देशप्रेम तथा स्वातंत्र्यनिष्ठा दिखायी देती है यथा -

जूही - अंग्रेज तरह-तरह के लोभ देकर सिपाहियों को बेधरम करना चाहते हैं । सिपाही अपना धरम नहीं छोड़ेंगे । उनमें बहुत गुस्सा छाया हुआ है ।

तात्या - यही हालत उत्तर की और पूर्व की छावनियों का भी है ।

जूही - सिपाहियों को अंग्रेज सीख देते हैं कि नमक को भँजाते रहना ।

तात्या - सिपाही जिस भूमि के हैं नमक तो उसी भूमि का है । और उसी भूमि की भँजायेंगे ।........

जूही - वह दिन कब आवेगा, सरदार साहब ? वह दिन जब हम सब स्वतंत्र होंगे ?

तात्या - हम सब कब स्वतंत्र होंगे यह अपने मिले हुए प्रयत्न पर टिका है । प्रयत्न का आरंभ कब होगा यह थोड़े दिन बाद बतला दिया जायेगा एक ही तारीख और एक ही समय पर होगा वह ।"[2]

इस संवाद में इच्छाशक्ति की यथार्थ अवतारणा हुई है ।

ग्वालियर किले के पार्श्व में रानी लक्ष्मीबाई तथा बाबा गंगादास में हुआ वार्तालाप ध्यान देने लायक है । यथा -

लक्ष्मीबाई - हमलोगों के जीवनकाल में स्वराज्य स्थापित हो

---

1. वृन्दावनलाल वर्मा . झांसी की रानी, पृ.-11-12 ।
2. झांसी की रानी, पृ.-52 ।

जाएगा, बाबा जी ?

बाबा गंगादास - यह मोह क्यों बेटी ? पहले से आरंभ किए हुए काम को ही तो बढ़ा रही हो न ? दूसरे लोग आयेंगे । वे इसको बढ़ाते जायेंगे ।"[1]

इस नाटक के संवादों में सबलता के साथ स्वाभाविक प्रयोग हुआ है । उनमें गत घटना का यथार्थ परिचय मिलता है और साथ ही मनोवेगों का उतार-चढ़ाव भी दिखाई देता है । उदाहरण के लिए -

लक्ष्मीबाई - (मुस्कराकर) मेरा कदाचित यह अन्तिम युद्ध होगा (गम्भीर होकर) तात्या, तुमसे मुझको बहुत आशा थी । दृढ़ हो जाओ तो अब भी बहुत कुछ कर सकोगे ।

तात्या - आपकी आज्ञा का पालन अवश्य किया जायगा । अक्षर अक्षर का अनुसरण ।

लक्ष्मीबाई - तैयार हो जाओ ! लड्डू, श्रीखण्ड और भंग को गड्ढे में फेंक दो । राग-रंग को बहा दो । (शांत होकर) तात्या तुम कुशल सेनापति हो । तुरन्त मोर्चे बांधो । मैं भी आकर अपनी योजना बतलाती हूं । उसके अनुसार डटकर काम करो ।

तात्या - इसी के लिये मैं सेवा में आया था ।"[2]

इन संवादों से ज्ञात होता है कि लक्ष्मीबाई योजना निर्माण करनेवाले के रूप में नेता का परिचायक है । वर्मा जी के संवादों की भाषा में शब्द-चयन विचारों और भावों का यथार्थ प्रतिनिधित्व करता है ।

'खिलौने की खोज' नाटक में वर्मा जी ने काम प्रवृत्यात्मकता का मनोवैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया है । डॉ. सलिल और सरूपा का बचपन से एक दूसरे पर प्रेम है पर

---

1. झांसी की रानी, पृ.-125 ।
2. झांसी की रानी, पृ.-127 ।

(68)

आगे चलकर वे दोनों एक दूसरे से सदा के लिए बिछुड़ जाते हैं । सरूपा का पुत्र केवल सलिल के घर जाता है । इन दोनों के संवाद में मनोविज्ञान का बाहुल्य दिखाई है । यथा -

सलिल - तुम्हारी मां ने रोका था और वहीं फिर लौटाने के लिए सहमत हो गयी ? उन्होंने इसको देखा ? देखकर क्या कहा था ?

केवल - (उसी हर्षमग्नता के साथ) कुछ कष्ट में पड़ गयी, फिर प्रसन्न हो गयी । उसी घड़ी से मुझको बहुत प्यार करने लगी । आप का नाम सुनकर किसी चिन्ता में पड़ गई । यह खिलौना उनकी आकृति से कुछ मिलता है । शायद इसलिये । इसीलिये शायद वह इसको रख लेना चाहती थी ।

सलिल - (आश्चर्यचकित स्वर में) उनकी आकृति से मिलता है ?

केवल - जी हां कुछ-कुछ ।"[1]

इन संवादों से ज्ञात होता है कि डॉ. सलिल में संवेदना जागृत होती है । संवेदना से संबंध रखने वाली भावनाएं और अनुराग ही मनुष्य की चेष्टा का निश्चय करते हैं । सरूपा की उत्तेजना से इसका यहां प्रतिफलन हुआ है

इस संभाषण से विदित होता है कि सरूपा की मानसिक बीमारी का निम्नलिखित वार्तालाप में यथार्थ चित्रण हुआ है

सलिल - आपने उस खिलौने को देखा था ?
(सरूपा धक्का-सा खाती है । हड़बड़ा जाती है और मुंह को ज्यादा उघाड़कर उसके सामने हो जाती है. । उसकी आंखें विस्फाटित हैं ।)

सरूपा - देखा था - फिर ?
(सलिल एक क्षण के लिये ध्यान के साथ उसको देखता है ।)

---

1. खिलौने की खोज, पृ.-56 ।

सलिल	-	खिलौने को देखने से पहले आपकी जैसी अवस्था रहती थी उसकी अपेक्षा अब कैसी है ?
सरूपा	-	(कुछ सम्भलकर) कुछ अच्छी है, परन्तु फिर भी काफी खराब है ।
सलिल	-	यह अवस्था कब से खराब चली आ रही है ?
सरूपा	-	जब से केवल गर्भ मे आया । लगभग सत्रह साल हुए ।
सलिल	-	आपने उसको जन्म से ही नही चाहा ? या कम चाहा ?
सरूपा	-	चाहा तो है, मेरी संतान है, पर कम चाहा है, अब बहुत चाहती हूं ।
सलिल	-	परन्तु आप चाहती थी कि सन्तान होवे ही नहीं - क्या यह बात ठीक है ?
सरूपा	-	आप कहते क्या हैं !!
सलिल	-	वतलाइये, इसके बाद ही आपका इलाज शुरू हो जायेगा, स्मरण करिए । (सरूपा कुछ सोचने लगती है, सोचती रहती है)
सरूपा	-	(कुछ क्षण उपरान्त) मैं नहीं चाहती थी ।"[1]

गतिप्रेरक संवाद-रचना इस नाटक की महान सफलता है । मनोवेगों का उतार-चढ़ाव यथार्थता के साथ चित्रित हुआ है । वे सलिल एवं आशयपूर्ण होने के नाटकों को चार चांद लग गये हैं । उदाहरणतया -

केवल	-	मां, तुमको क्या हो गया है ?
सरूपा	-	बेटा, मैं तुमको आगे कभी नहीं मारूंगी, कभी गाली नहीं दूंगी ।
केवल	-	और मैं चाहे जहां जाऊं ?
सरूपा	-	चाहे जहां जा, देवी माई तेरी रक्षा करेंगी, पर इधर-उधर मत जाइय्यो बेटा ।

---

1. खिलौने की खोज, पृ.-83 ।

केवल	-	उस दिन तो तुमने भाई की भभूत लेने से इन्कार कर दिया था ।
सरूपा	-	आगे नहीं करूंगी । वह तेरी रक्षा करती रहेंगी ।
केवल	-	लाओ, इस मूर्ति को डाक्टर को लौटा आऊं ।
सरूपा	-	(कुछ सोचकर) नहीं मत ले जा, रख ले अपने संदूक में फिर ।
केवल	-	(हंसकर) कहा था न कि तुम्हारा मन बदल जाएगा ! अब बताओ, चोर कौन है ? मैं या तुम ?
सरूपा	-	(प्यार के साथ) तुम नहीं बेटा, मैं । (फिर भौंहें सिकोड़ लेती है ।)"[1]

ये संवाद मनोविश्लेषण की दृष्टि से अतीव महत्वपूर्ण हैं । इस नाटक में कुन्ठित मनोग्रस्तता का प्रत्यक्ष प्रभाव है ।

इन नाटकों के अतिरिक्त केवट, मंगलसूत्र, बीरबल आदि भी प्रमुख है । 'केवट' में राजनीति की वर्तमान घातक स्थिति का एक यथार्थ चित्र खींचा है । उदाहरण के तौर पर -

गोदावरी	-	केवल एक बात में थोड़ा सा हो जाएगा, मुझे जीवनभर सेवा करनी है, स्त्रियों के आन्दोलन की पराकाष्ठा पर पहुंचना है, इसलिए विवाह नहीं करूंगी तुला को करना पड़ेगा ।
हिमानी	-	व्याह हो जाने पर भी यह रंगी तो आपके ही पास ।
गोदावरी	-	अवश्य ! मैं तो इनसे खाना कपड़ा भर लूंगी ।
तुला	-	अरे वैसे ही न जाने क्या-क्या कहती चली जा रही हो ।
गोदावरी	-	ह ! ह !! ह !!! अच्छा । हम सब समाज सेवा और राजनीति में भाग लेंगे, जिसकी बहुत दिनों जरूरत रहनी है ।"[2]

---

1. खिलौने की खोज, पृ.-43 ।

इस संवाद में गोदावरी की 'जीवन-शैली' उमड़ पड़ी है जिसमें उसके जीवन के प्रति होने वाला एक आशावादी दृष्टिकोण दृष्टिगोचर हुआ है ।

वर्मा जी ने पात्रों के मन की अतल गहराइयों को आधुनिक परिवेश में रखकर देखा-परखा है । इनके नाटकों के संवाद सफल, निर्दोष, गतिप्रेरक एवं मनोवैज्ञानिक बन पड़े हैं ।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक और संवाद

लक्ष्मीनारायण मिश्र जी ने मनोवैज्ञानिक समस्या-नाटकों का प्रारंभ प्रसाद जी के काल से ही प्रारंभ कर दिया था । प्रसाद-युग में लिखे गये नाटकों में मिश्र जी के चार प्रमुख नाटक हैं - 'अशोक' (1926), 'संन्यासी' (1931), 'राक्षस का मन्दिर' (1931) और 'मुक्ति का रहस्य' (1932) । लेकिन मिश्र जी की नाट्यकला प्रसाद-युग की नाट्यकला से कई रूपों में भिन्न है । इन्होंने गीत योजना, स्वगत भावुता तथा रोमांस से मुक्त करके हिन्दी की नाट्यकला को वैचारिक धरातल की ओर मोड़ा । वर्तमान युग की उलझी हुई समस्याओं को नाटक के रूप में प्रस्तुत करने वाले पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र समस्या नाटकों के प्रस्तोता माने जाते हैं ।

बुद्धिवादी दृष्टिकोण ग्रहण करते हुए उन्होंने तीन परंपरा के अन्तर्गत नाटक लिखे -

ऐतिहासिक नाटक - गरूडध्वज नाटक, वत्सराज अशोक, नारद की वीणा, वितस्ता की लहरें आदि ।

समस्या नाटक - राक्षस का मंदिर, मुक्ति का रहस्य, सन्यासी, सिन्दूर की होली, राजयोग तथा आधी रात आदि ।

अनूदित नाटक - 'समाज के स्तम्भ', 'गुड़ियाघर' । ये इब्सन के 'पिलरस आफ सोसायटी' तथा 'डाल्स हाउस' के हिन्दी अनुवाद हैं ।

बुद्धिवाद द्वारा जिन समस्याओं को मिश्र जी ने सुलझाना चाहा है, उनका ऐसा समाधान नहीं हो पाता कि मस्तिष्क मान ले और तर्क निरन्तर हो जाय । डॉ. नगेन्द्र का यह मत पूर्णतः सही है "मिश्र जी के स्वभाव और मस्तिष्क समझौता करके एक सार नहीं

हो पाए । आज उनके चेतन में बुद्धिवाद इसी कारण शुद्ध तर्क पर अवलम्बित नहीं है । उसके भीतर चाहे मिश्र स्वयं न भी मानें, भावुकता की एक धारा बह रही है ।"[1] उदाहरण के रूप में 'मुक्ति का रहस्य' की आशा देवी के संवादों में स्वरूप सतह से बौद्धिक ज्ञात होता है किन्तु गहराई से देखने पर उसकी भावात्मकता एवं भावुकता स्पष्ट हो जाती है ।

मिश्र जी का कथन है "हमारा नित्य का जीवन जैसा है रंगमंच का जीवन उससे मेल खा सके । इसी कारण मैंने स्वगत की प्रणाली को अस्वाभाविक समझकर छोड़ दिया है । पात्रों की भीतरी भावनाओं और प्रवृत्तियों को व्यक्त करने में जितना सहायक मूक अभिनय होता है - उतना स्वगत नहीं ।"[2]

मिश्र जी के संवादों की भाषा नितांत गतिहीन, कृत्रिम और बोझिल है । न उसमें प्रसाद की-सी काव्यात्मकता है न बोलचाल की प्रवाहमयता । वास्तव में वह भाषा है ही नहीं, शब्दों का समुच्चयभर हैं - लकिन "वह पहले नाटककार हैं जिन्होंने समसामयिक एवं सर्वमान्य जीवन के सर्वसाधारण प्राणी को अपने नाटकों का पात्र बनाया । पात्रों को अच्छे-बुरे के वर्गों से निकालकर सत्-असत् भावनाओं से पूर्ण यथार्थ व्यक्ति को नायक का स्थान दिया । सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों से पात्रों का चयन किया । उन्होंने झूठी भावुकता और मार्मिकता से पीछा छुड़ाकर नर-प्रकृति को अपने वास्तविक रूप में प्रस्तुत किया ।"[3]

रोमांस और भावावेश बहुत पुरानी चीजें हो गई - यह तो जिन्दगी की बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या का युग है' की घोषणा करने वाले नाटककार शैक्ससिपयर, द्विजन्द्रलाल राय और जयशंकर प्रसाद की नाट्यकला की प्रतिक्रिया तथा इब्सन और शा के अनुकरणस्वरूप नाट्यरचना मे प्रवृत्त हुए । सुधार युग का स्थूल आदर्शवाद अथवा वर्तमान संघर्ष से घबड़ाकर कल्पनालोक या स्वर्णिम अतीत में पलायन जिन्हें स्वीकार्य नहीं हुआ उन्होंने तत्कालीन जीवन की 'बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या' करने के लिए समस्या नाटक का माध्यम अपनाया ।"[4] लक्ष्मीनारायण मिश्र इस धारा के प्रमुख नाटककार हैं । मिश्र जी गीतों से मुक्त है । वे नाटकों में स्वगत भाषण के भी विरोधी हैं इसलिये उनके नाटकों में

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ.-53 ।
2. मुक्ति का रहस्य, लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ.-13 ।
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ.-554-55 ।
4. लक्ष्मीनारायण मिश्र, मेरा दृष्टिकोण : राक्षस का मन्दिर, पृ.-7 ।

सम्वाद लम्बे हैं । 'वत्सराज' में उदयन तथा यौगन्धराय का बौद्ध धर्म के विरोध में तथा 'सिन्दूर की होली' में मनोरमा के संवाद लम्बे भाषण प्रतीत होते हैं । स्वगत शब्द न लिखने पर भी एकांकी संवादों की योजना भी है ।

मिश्र जी अपने नाटकों को भावुकता से भी मुक्त नहीं कर पाये हैं । मिश्र जी के अधिकांश नाटक प्रसाद की भावुकता और रोमांटिक दृष्टि की प्रतिक्रिया के रूप में लिखे गये हैं । उदाहरण के तौर पर - 'मुक्ति का रहस्य' की आशादेवी, 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा और चन्द्रकला, 'आधी रात' की मायावती, 'राजयोग' की चम्पा आदि को प्रस्तुत किया जा सकता है जिनका स्वरूप सतह से बौद्धिक ज्ञात होता है परन्तु गहराई से देखने पर उनकी भावात्मकता एवं भावुकता स्पष्ट हो जाती है ।

मिश्र जी का कथन है "बुराई और भलाई के मेल से ही जिन्दगी बनी है।"[1] समस्या नाटकों में एक ही पात्र में सत्-असत् का अन्तर्प्रवाह दिखाया जाता है ।

मिश्र जी ने मनोविश्लेषणता की शैली सरसता से अपनाई है । अतः संवाद प्रायः टूटे वाक्यों में चलता है । भाषा के माध्यम से संवादों में कवित्व का यथासंभव बहिष्कार किया गया है । डॉ. नगेन्द्र के अनुसार "उसमें तीखापन अवश्य मिलता है ।- परन्तु वह सत्य का तीखापन अवश्य मिलता है परन्तु वह सत्य का तीखापन है, भाषा का उतना नहीं ।"[2] मिश्र जी ने वार्तालाप को अधिकाधिक स्वाभाविक बनाने के लिए अंग्रेजी के संपूर्ण वाक्य ज्यों के त्यों उठाकर रख दिये हैं । डॉ. मान्धाता ओझा के शब्दों में - कथोपकथन को यथार्थवादी रंगमंचोपयोगी स्वाभाविकता प्रदान करने के लिए मिश्र जी ने अपने समस्या नाटकों में सामान्यतः नित्यप्रति की बोलचाल में व्यवहृत भाषा शैली का ही प्रयोग किया है ।"[3] संवाद स्वाभाविकता से हटा हुआ प्रतीत न हो इसलिए उन्होंने अपने नाटकों में स्वगत और जनान्तिक भाषणों तथा गीतों का निषेध किया है ।

'अशोक' मिश्र जी की पहली नाट्यकृति है । यह ऐतिहासिक नाटक है जिसमें इतिहास-प्रसिद्ध अशोक का चरित्र चित्रित है । इस नाटक में संवादों की भाषा सरल तथा

---

1. मुक्ति का रहस्य : भूमिका : पृ.-10 ।
2. डॉ. नगेन्द्र : आधुनिक हिंदी नाटक, पृ.-56 ।
3. डॉ. मान्धाता ओझा - हिन्दी समस्या नाटक, पृ.-199 ।

मुहावरेदार है । संवादों के द्वारा चरित्र-विकास दिखलाया गया है । एक दृश्य में - अशोक को भी साम्राज्य की लिप्सा नहीं थी । वह तो एक नियति के चक्र में बंधा, धर्मनाथ की योजना का अंगमात्र है । वह अपने कथन में कहता है -

> "गुरूदेव आपको यह स्पष्ट करना चाहता था कि मैं यह साम्राज्य नहीं चाहता जिसके लिये मुझे इतना दीन होना पड़े । मुझे सम्राट होना है और मैं यह जानता भी नहीं कि एक चक्र की भांति घुमाया जा रहा हूं ।"

इसी प्रकार वह भवगुप्त से कहता है -

> "यह साम्राज्य तुम्हारा है भाई, तुम्हीं सम्राट बनो । मैं रास्ता भूल चुका था, फिर लौट आया ।"

धर्मनाथ भी अशोक को ब्राह्मण-धर्म की श्रेष्ठता को समझाता हुआ कहता है -

> "राजकुमार, ब्राह्मणों का वह दिन चला गया - सदैव के लिए चला गया, जब चक्रवर्तियों के मुकुट म उनके चरण सुशोभित होते थे । सदैव परलोक का चिन्तन करते रहने के कारण ब्राह्मणों ने अपना यह लोक खो दिया, नहीं तो जितना आत्म-बलिदान इस जाति ने अदृश्य के लिए किया है, उतना बलिदान यदि दृश्य के लिए किये होती तो आज यह विशाल विश्व उसकी मुट्ठी में होता ।"

'अशोक' नाटक मिश्र जी का प्रसाद-परंपरा का ही नाटक है । इसमें भी भावुकता, राष्ट्रीयता, संवेदनशीलता तथा चारित्रिक गरिमा के आयोजन हैं । भारत की गरिमा विदेशियों के मुंह से कहलाने का मोह इसमें भी है । एक कथन में ऐन्टीपेन्टर कहता है -

> "कितना सुन्दर यह देश है । मानो एक खिला हुआ सौन्दर्य है - एक गूंजता हुआ संगीत है - एक जागता हुआ प्रकाश है - मानव गौरव की एक कहानी है जिसका अन्त नहीं ।"

प्रसाद-युग में मिश्र जी के तीन समस्या-प्रधान नाटक लिखे गये - सन्यासी, राक्षस का मन्दिर और मुक्ति का रहस्य । मिश्र जी नाट्य-कला का शृंगार सर्वप्रथम समस्या नाटकों से किया । " 'सन्यासी' नाटक में दो समस्याएं प्रधान हैं - एक है नारी की समस्या । स्त्री को अपने व्यक्तिगत विवाह-संबंध में, समाज में विचरण करने के लिए तथा संसार में अपना व्यक्तित्व बनाने के लिए क्या अधिकार मिलना चाहिए और कैसे ? पुरूष का उसपर किस प्रकार अधिकार मिलना चाहिए और कैसे ?" उदाहरण - मालती जो कि नाटक की नायिका है । वह भावुक तथा दृढ़संकल्प की नारी है । वह त्याग भी कर सकती थी वह प्रेम में त्याग के महत्व को स्वीकार करती हुई कहती है - "इसीलिये कि मेरे नारकीय प्रेम के कारण तुम अपने कर्तव्य से गिर रहे हो । जब पिताजी ने कहा था तभी तुमने मुझसे विवाह क्यों नहीं किया । हम दोनों के जीवन का जो सबसे सुन्दर समय था - जब हम दोनों एक दूसरे के हृदय से लगे रहना चाहते थे...जब मेरी आराधना तुम करते थे और तुम्हारी मैं । ....लेकिन हम लोगों के प्रेम का आधार वासना, जवानी की उपभोग की इच्छा...ईश्वर ने हम दोनों को बचा लिया ।" नाटक में कहीं-कहीं संवाद लम्बे हो गये हैं ।

'राक्षस का मन्दिर' भी मिश्र जी का नारी-समस्या पर आधारित है । इसमें इब्सन की यथार्थवादी कला और शेक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी नाट्य पद्धति का समन्वय मिलता है । इस नाटक के संवादों में कहीं-कहीं आधुनिक बुद्धिवाद मिलता है । यथा -

> "मैं तो दिल से चाहता हूं - मनुष्य की वही प्रारंभिक जिन्दगी फिर लौट आती । न कोई बन्धन, न कोई चिन्ता ! न धर्म, न सदाचार, न कानून, न क्रांति । भेद-भाव का नाम नहीं....सब कुछ एक रस...स्वरूप एक में, जहां न पितृधर्म है-न मातृधर्म-न पत्नी धर्म-न पति धर्म । जहां कर्तव्य है, न आदर्श ।"

पात्र यथार्थवादी-बुद्धिवादी व्यक्ति होते हुए भी कभी-कभी भावुक आदर्शवादी हो जाता है । मुनीश्वर अपनी पत्नी दुर्गा से संवाद कहता है -

> "देखो दुर्गा, अपने पत्नीत्व को भूल जाओ - मातृत्व का ख्याल करो । ईश्वर ने तुम्हें पुत्र दिया है - तुम्हें जीने के साधन की कमी नहीं है । मैंने तुम्हें छोड़ दिया ....तो छोड़ दिया । तुम देवी हो...मैं राक्षस हूं । तुम

> अपना धर्म जानती हो....उसके अनुसार चलती हो । मैं पता नहीं किस लहर में बहा जा रहा हूं । जो जी चाहता है, कर बैठता हूं - धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक की परवाह नहीं करता ।"

इस नाटक के संवादों में काव्यत्मक भाषा तथा गीतों का समावेश भी प्रसाद युग के प्रभाव का द्योतक है ।

'मुक्ति का रहस्य' प्रसाद-युग में मिश्र जी का स्वच्छन्दतावादी नाट्यकला के प्रभाव से मुक्त नाटक है । इसमें समाज का वास्तविक और यथार्थवादी चित्रण किया है । इस नाटक में नारी की यौन-समस्या को केन्द्र बनाकर कथा का विकास किया गया है । एक दृश्य में आशा देवी, उमाशंकर के प्रति उसका भावुक या रोमानी लगाव ही नहीं है, -वह यथार्थवादी धरातल पर उससे प्रेम करना चाहती है पर उमाशंकर आदर्शवादी भावुकता से नीचे नहीं उतर पाता । वह कहती है -

> "मैं चाहती थी...मेरे प्रेम में कोई हिस्सेदार न बने । मैंने अपना हृदय निकालकर तुम्हारे चरणों में रख दिया । लेकिन तुमने उसका ख्याल नहीं किया । जिस दिन मैं तुम्हारे प्रेम के लिये, तुम्हारी मुस्कराहट के लिये, तुम्हारे स्पर्श के लिये या स्त्री अपने पुरूष से जो कुछ चाहती है...उसके लिये मरी जा रही थ...उस समय तुम मेरा सम्मान करते थे .....।"

इस नाटक की संवाद-योजना स्वाभाविक और रंगमंचोपयुक्त है । सभी पात्र अपनी परिस्थितियों और संस्कार के अनुरूप वार्तालाप करते हैं । संवादों में लोक प्रचलित भाषा का प्रयोग है । स्वगत भाषण और गीतों के अभाव के कारण संवादों का धरातल यथार्थवादी हो गया है । इस नाटक की संवाद-याजना में हास्य-व्यंग्य की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है । इसमें कहीं-कहीं पात्रों के कथन लम्बे हो गये हैं । इस नाटक में नारी बुद्धिवाद का भी परिचय देती है । आशा देवी अपनी परिस्थितियों का बौद्धिक विश्लेषण करके सांसारिक व्यावहारिकता और उपयोगितावादी दृष्टि का परिचय देती है । आशादेवी अपने कथन में कहती है -

> "अच्छा तो सुनो । मैं चाहती हूं कि जिस तरह हमारा पाप एक है.....उसी तरह हमारा जीवन भी एक हो जाय । तुमने कभी मुझसे कहा था कि मेरे लिये तुम पहले पुरूष हो । उस समय मैं तुमको घृणा करती थी... आज मैं तुम्हें प्रेम करती हूं ।"[1]

उमाशंकर के प्रति अपनी भावुकता को परित्याग कर वह त्रिभुवन को जीवन-साथी बना लेती है । अर्थात् मिश्र जी की अन्तश्चेतना प्रसाद उनकी कला से प्रभावित रही है । डॉ. देवराज ने ठीक ही लिखा है - "प्रसाद जी के कला के वे कायल हैं । सम्भव है, परिस्थितियों के कारण उनके अन्दर प्रसाद की नाट्यकला के प्रति विद्रोह के भाव जगे हो पर उनके अन्दर कहीं न कहीं आदरभावना भी दुबकी पड़ी थी, जो ज्वार उतर जाने पर फिर उभर आयी ।"

मिश्र जी के सभी समस्या नाटकों में प्रायः बुद्धिवादी नारियां परिस्थिति विशेष में वैवाहिक नैतिकता का परिचय देती हैं जो परंपरावादी लगता है । समाधान का उपयुक्त रूप नाटक में विवेचित यौन समस्या के बौद्धिक मनोवैज्ञानिक प्रवाह के अनुरूप न होने के कारण आरोपित-सा लगता है ।

नाटक के संवाद व्याख्यात्मक अधिक तथा कार्यकलाप के प्रेरक कम हैं । नाटक की समस्त भाषा नितान्त गतिहीन, कृत्रिम और बोझिल है ।

सिन्दूर की होली' नाटक में समसामयिक मध्यमवर्गीय भारतीय जीवन की विविध सामाजिक, पारिवारिक एंव वैयक्तिक समस्याओं को उजागर करने का प्रयत्न है । इस नाटक में सामाजिक, पारिवारिक, शासकीय, न्याय-विधि, सेक्स, विवाह एवं वैधव्य से संबंधित जो समस्याएं उठाई गई हैं उन पर नाटककार ने तार्किक शैली में एवं बौद्धिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है ।

'सिन्दूर की होली' में बाल-विधवा मनोरमा विधवा-विवाह और नारी उद्धार के आन्दोलन को पुरूष-उद्धार कहकर व्यंग्य और विश्वास के अनोखे अवसर सारे नाटक में प्रस्तुत

---

1. मुक्ति का रहस्य, पृ.-104 ।

करती गयी है । मुरारीलाल से उसका यह कहना कि "पुरूष तो वैधव्य का अनुभव कभी नहीं करते, इसलिये यह बात स्त्री ही कह भी सकेगी" - इसका प्रमाण है ।

मनोजशंकर और उसके संबंध में मुरारीलाल का जब सन्देह होता है तो मनोजशंकर भभक उठता है और कहता है "यह विधवा, आप नहीं जानते या शायद जानते भी हैं, अग्नि है, हलाहल है । कोई भी पुरूष उसे छूकर या पीकर जी नहीं सकता ।.......

मुरारीलाल - तुम्हारा हृदय प्रेम से नहीं.....

मनोरमा - (होंठ पर अंगुली रखकर) इसलिये कि मैं विधवा हूं ।

मुरारीलाल - लेकिन तुमने तो अपने प्रेमी का मुख भी नहीं देखा, तुम्हें इसका ज्ञान नहीं ।

मनोरमा - इन आंखों से तो कभी नहीं देखा, लेकिन कल्पना की आंखों से नित्य देखती हूं, नित्य । बीस वर्ष का सुन्दर, स्वस्थ, सम्मोहक शरीर, चन्द्रमा-सा मुख, कमल सी आंखें, कमान-सी भौंहें, घने काले नीलम-से चमकीले बाल, (आंख मूंदकर) वह स्वरूप इस समय मेरे सामने आ गयी है । देखिए तो शायद आपको भी देख पड़ जाय ।"

इसी प्रकार मरणशय्या पर पड़े हुए रजनीकान्त के हाथ से अपनी मांग भर लेती है । इस प्रकार वह उस पुरूष से वैवाहिक संबंध रखने का आदर्श रखती है जिसे उसका हृदय चाहता है । पिता का घर त्याग कर कहती है -

"आपने कृपाकर मुझे इतनी शिक्षा दे दी है कि मैं अपना निर्वाह कर सकूं ।"

अर्थात् जिसके हृदय में पति का रूप यौवन का सारा आकर्षण लेकर इस तरह जमकर बैठा हो, कोई भी दूसरा पुरूष उसके लिए इतना हीन और दरिद्र होगा कि वह उसकी ओर देखना भी नहीं चाहेगी । अब भारतीयता का इससे अधिक स्वस्थ मुख हम क्या देखना चाहेंगे । इस नाटक में प्रेम और विवाह से सम्बद्ध अनेक प्रश्न उभारे गये हैं और उनके विषय में तर्क-वितर्क किये गये हैं ।

'आधी रात' (1937 ई.) नाटक मे एक प्रेमी नारी के जीवन की समस्या उठाई गई है, जो विदेशी मानदण्डों के ऊपर भारतीय नारी जीवन की प्रतिष्ठा करना ही उसका उद्देश्य प्रतीत होता है ।

मिश्र जी का कहना है "इन समस्या नाटकों ने शुक्लजी से लेकर आज तक के अधिकांश आलोचकों की नीचे की धरती को जैसे एकदम उखाड़ फेंका । एक स्वर में लोग कहते रहे कि मेरे ये नाटक पश्चिम से प्रभावित हैं, इसलिए भारतीय मान्यताओं के प्रतिकूल हैं । पर बात ऐसी नहीं थी । एक-एक नाटक के कथानक, व्यापार, संवाद और परिणति पर विचार कर लेने पर जो तथ्य सामने खड़ा होता है, वह यह है कि नर-नारी के प्रेम और आकर्षण के साथ ही साथ हमारे जीवन की जो अन्य समस्याएं नाटकों में आयी हैं, वे भारतीयता को और भी अधिक चमका देती हैं । नारी चाहे जिस रूप में पहली बार जिस पुरूष के राग का माध्यम बनती हैं, उसे जन्म भर उसी के साथ रहना है । इस कठोर नियम और मान्यता में उसके निजी प्रेम को हारना ही पड़ता है ।"

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने हिन्दी नाटक साहित्य में समस्या नाटकों के लिये प्रसिद्ध रहे हैं लेकिन उनके ऐतिहासिक नाटकों का भी महत्व कम नहीं है । इन्होंने अपने ऐतिहासिक नाटक प्रसाद की प्रतिक्रियास्वरूप लिखे हैं । डॉ. बब्बन त्रिपाठी की धारणा है "प्रसाद ने हिन्दू जीवन दर्शन को जो रूप दिया है वह उपनिषदों के अनुसार अयथार्थ है । वैसा प्रेम विशेष तो कहीं भी भारतीय ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होता । सामयिक लेखकों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अपना विरोध प्रकट करते हुए भारतीय संस्कृति के उदात्त स्वरूप को सामने लाना मिश्र जी के नाटकों की रचना की मूल प्रेरणा है ।

1948 ई. मे 'गरूड़ध्वज' मिश्र जी का संस्कृति प्रधान नाटक है । इसमें विदिशा के शुंग सेनापति विक्रमादित्य नायक के रूप में प्रदर्शित किए गये हैं, किन्तु नाटक का नायक सर्वशक्तिसम्पन्न होते हुए भी अपनी महत्ता से अधिक अपने राष्ट्रध्वज (गरूड़ध्वज) को गौरव देता है ।

विक्रममित्र अपने चरित्र, बल और निःस्वार्थ सेवा से जनता की श्रद्धा का भाजन बन जाता है । इसके राज्य में अनुशासन भंग करने का साहस भी किसी व्यक्ति को नहीं । एक दृश्य में एक दिन एक सैनिक भूलवश विक्रममित्र को महाराज कहकर अनुशासन भंग करता

है, उस दिन वह भयभीत हो कांपता हुआ कहता है -

> "मैंने सेनापति की जगह महाराज जो कह दिया - यह अपराध अक्षम्य है । कदाचित् सेनापति विक्रममित्र के राज्य-विधान में इससे बड़ा कोई भी दूसरा अपराध नहीं है ।"[1]

इस कथन से प्रतीत होता है कि विक्रममित्र अपने चरित्र-बल से राज्य में सुव्यवस्था और न्याय के प्रति निष्ठा उत्पन्न करता है ।

एक संवाद में विक्रममित्र की न्यायप्रियता, सदाचार और पराक्रम से यवन विदेशी भी भारत को अपना देश समझने लगे हैं । यवन हदोदर कहता है -

> "जिस धरती के अन्न जल से पला व्यक्ति उस धरती धर्म में जब तक अपने को ढाल नहीं लेता, तब तक तो वह अत्याचारी है । उसे अधिकार नहीं है उस धरती पर रहने का । हमारे पूर्वज इस देश में आने के साथ ही इस देश के धर्म में ढल गए । जुपिटर और मिनर्वा को तो वे यवन-देश में ही छोड़ आए । यहां तो श्री विष्णु, महेश्वर, लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती के भक्त हो गए । ऐसा नहीं करने पर तो वे इस देश में विश्वास के पात्र कभी होते ही नहीं ।"[2]

इस कथन में मुस्लिम लीग को लक्ष्य किया गया है ।

'नारद की वीणा' (1947 ई.) मिश्र जी ने प्रागैतिहासिक काल की एक घटना के आधार पर इस नाटक की रचना की है । यह मिश्र जी का सांस्कृतिक नाटक है । इस नाटक में आयार्य नारायण प्रह्लाद की पराजय के बाद नितान्त शान्त मुद्रा में अपना कार्य

---

1. गरूड़ध्वज : लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ. -7 (1948 ई.)
2. गरूड़ध्वज, पृ. -68-69 ।

करता हुआ कथन कहता है -

> "संघर्ष और तप में ही यह प्रकृति पूर्ण है और प्रकृति के पूर्ण होने में ही हम भी पूर्ण हैं । द्रोह और वैर में नहीं । दो नदियों के मिलने में पहले संघर्ष होता है , और फिर एक धार हो जाती है ।"

प्रह्लाद की हार का कारण बताते हुए नारायण कहता है -

> "प्रह्लाद धीर है, विख्यात धनुर्धर है, किन्तु तब भी इनकी उत्तेजना पराजित करेगी । भीतर से शान्त नहीं है, वह विजय के समीप नहीं जा पाता ।"

नाटककार की मान्यता है -

> "धर्म व्यक्ति का नहीं होता, जाति का नहीं होता, वह तो प्रकृति का होता है ! जिस भूखंड की प्रकृति का जो गुण और स्वभाव है, उसी के अनुरूप उसके निवासियों का धर्म होता है xxxxx इस भूखंड की प्रकृति में ही प्रेम और तुष्टि है ।"

वस्तुतः मिश्र जी ने ऐतिहासिक नाटकों में जन-श्रुतियों के आधार पर खोज भी की है । मिश्र जी के अन्य ऐतिहासिक नाटकों में दशाश्वमेघ, वत्सराज और वितस्ता की लहरें हैं । 'वितस्ता की लहरें' नाटक में इतिहास और कल्पना का मिश्रण है वस्तु का संगठन बड़ा स्वाभाविक तथा कलापूर्ण है । मिश्र जी के नाटकों में सवादों की भाषा काव्यमयीन न होकर सरल, स्वाभाविक, अन्तर्जगत के चित्रण में समर्थ, ओजस्वी, नाट्योपयोगी और मनोरम है । मिश्र जी का मत है कि मिश्र जी का मत है "प्रसाद के नाटकों में रंगमंच पर जो आत्महत्याएं कराई जाती हैं, संवाद में जो अस्वाभाविकता पाई जाती है, प्रेम की अभिव्यक्ति में जो लम्बे भाषण कराए जाते हैं, कौमार्य को विवाह से जो श्रेष्ठ माना जाता है, कल्पना में जो उन्माद भरा जाता है, वह भारतीय नाट्य पद्धति के विरूद्ध है । इसीलिए प्रसाद के

नाटकों की प्रतिक्रिया में मुझे अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी ।" ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास को नये परिप्रेक्ष्य में देखने की प्रवृत्ति भी बढ़ी है ।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटक और संवाद

हिन्दी नाटक को पाश्चात्य शैली से विभूषित करनेवाले नाटककारों में 'अश्क' जी का नाम विशेष उल्लेखनीय माना जाएगा । उन्होंने विषय तथा शैली दोनों में पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण किया है । सैक्स के साथ-साथ सामाजिक, राजनीतिक समस्याप्रधान नाटक लिखने वालों में भी इनका महत्वपूर्ण स्थान है । समस्याओं को अत्यन्त व्यापक और उग्र रूप देने का उन्होंने विशेष प्रयत्न किया है । समस्याओं और समाधानों को उपदेशात्मक एवं गम्भीर रूप में प्रस्तुत नहीं करते अपितु उनका निदर्शन हास्य व्यंग्यमयी शैली में करके संवादों को अधिक नाटकीय और प्रभावशाली बना दिया है ।

'अश्क' जी ने अपनी नाट्यकला की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए लिखा है - "मैंने सामाजिक, राजनीतिक, सांकेतिक मनोवैज्ञानिक सभी प्रकार के नाटक लिखे और पढ़े हैं । पश्चिम के प्रसिद्ध नाटककारों में मुझे इब्सन, मेतरलिंक, स्ट्रिण्डबर्ग, चेखोव, सिनोनोव, ओनील, काकमैन, माघम, प्रिस्टले ने गद्य नाटक लिखने की प्रेरणा दी है ।"

- 'आदि मार्ग' की भूमिका ।

'अश्क' हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं जिनके नाटकों में रंगमंच की चेतना सुस्पष्ट है । उन्हें रंग-मंच के विधि-विधानों एवं अभिनय कला की बारीकियों का ध्यान और ज्ञान दोनों हैं और संवादों की नाटकीयता, पात्रानुकूलता, रोचकता एवं व्यंग्यात्मकता की दृष्टि से भी वे अद्वितीय हैं । जगदीशचन्द्र माथुर के अनुसार - "पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के किताबी ज्ञान की उन्होंने निजी अनुभव और पर्यवेक्षण के खरल में कूट-पीसकर सामाजिक दिग्दर्शन का नवीन और तथ्यपरक रसायन तैयार किया ।"[1] विभिन्न तत्त्वों को ग्र[illegible] कर उन्हें नये रूप में ढाल देने की अश्क की क्षमता सराहनीय है ।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जी का 'जय-पराजय' (1937) एकमात्र ऐतिहासिक नाटक है और अन्य सभी सामाजिक नाटक हैं । इस नाटक की कथावस्तु इतिहास के राजपूत काल से

---

1. भारतीय नाट्य-साहित्य : सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, पृ. -370 ।

ली गई है । इस नाटक में 'अश्क' जी के पात्रों के सवाद सामन्तयुगीन आदर्शवादिता और मर्यादा तथा व्यक्तिगत अह की भावना पर तीखा व्यग्य करते हुये परिलक्षित होते हैं ।.

'स्वर्ग की झलक' चार अकों का सामाजिक नाटक है जिसमें आधुनिक शिक्षा का दुष्परिणाम तथा विवाह की समस्या उठायी गयी है । इसमें दाम्पत्य के नीरस परंपरागत रूप के प्रति व्यग्य भी काफी तीव्र हैं । परन्तु इसके पात्रों में भी कोई विशेष द्वन्द्वात्मक चरित्र नहीं है । इस नाटक में डाक्टर केशव के वार्तालाप के द्वारा प्रेम का रहस्य समझाने का प्रयास किया गया है ।

"अनिला पूछती है - प्रेम क्या है केशव ?

केशव - दूसरे में स्वार्थ को पाना और डर से मुक्ति, यही प्रेम की परिभाषा है ।

अनीला - प्रेम कुछ नहीं चाहता । प्रेम स्वयं मुक्ति है ।

केशव - इस धरती पर तो दो प्राणी प्राणरक्षा के लिए, स्वार्थ के लिए पास आते हैं । एक दूसरे से परच जाने को विवश होते हैं और एक दिन प्रेम के देवता बन जाते हैं ।

अनिला और केशव के वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनीला के मन में अपने पति के प्रति एक संघर्ष चल रहा है और अवसर पडने पर उसका बदला लेना चाहती है । केशव के ऑपरेशन के समय उसके अन्त:करण से यह ध्वनि आ रही है -

"डाक्टर अनीला ! शाबाश ! यही सुनहला अवसर है । अपना बदला लो । नारी के अपमान का बदला लो । मैं ही तुम्हारी प्रगति का कारण हू । मैं पुरूष को तड़पते देखना चाहती हू ।.....निकल जाने दो प्राण । नस-नाड़ियों को बन्द मत करो । इस गाल ब्लेडर को देखो, कैसा खराब है ! इसे काटो मत (तीव्र स्वर) तुम सुनहला अवसर खो रही हो । शत्रु को प्राण दे रही हो । तुमने इसे मार डालने का निश्चय किया था ।, (हताश क्रोध) तुमने गाल ब्लेडर काट दिया । तुमने

> केशव की बात मानी । (अल्प विराम, जैसे धौकनियां चलती हों । फिर एकदम तेज) अब भी अवसर है, छोड़ दे, फोरसेप्स अन्दर छोड़ दे, सीमित, ओह, ओह, तू नहीं सुनती, नहीं सुनती, ओह, ओह तुने मुझपर ही छुरी चला दी, तुने मधुलक्ष्मी की हत्या कर दी, तू अपने अपमान को भूल गयी, अपनी प्रतिज्ञा को भूल गई ।"

'स्वर्ग की झलक' आधुनिक शैली पर लिखा गया है । नाटककार ने इसकी भूमिका में लिखा है - "नाटक का उद्देश्य शिक्षा अथवा आधुनिक नारी के विरूद्ध न होकर उस मनोवृत्ति के विरूद्ध होना है जो हमारे यहां अधिक शिक्षित लड़की में पैदा होती जाती है । ...प्रत्येक शिक्षित लड़की के लिये पूर्ण रूप से आधुनिक, साथ ही धनी पति का मिलना कठिन है ।"

इस नाटक में समाज के संक्रान्तिकालीन विवाह और प्रेम की समस्या के एक पहलू का यथार्थ उद्घाटन भी होता है । रघु एक पत्रकार है । उसकी पहली पत्नी का स्वर्गवास हो गया है । रघु अपने मित्र और राजेन्द्र की शिक्षित पत्नियों को देखकर स्वयं के लिये पढ़ी-लिखी लड़की चाहता है ।

> "रघु - इस भूषण के रहते हुए भी पत्र तक वह ठीक से नहीं लिख सकती । बात करने, कपड़ा पहनने की उसे तमीजन नहीं । चार मित्र आ जायें तो लाज से दुबककर अपने कमरे में जा बैठे । मैं पूछता हूं मुझे फिर चक्की का पाट गले में बांधने को क्यूं कहते हैं ।"[1]

एक दृश्य में रघु का विवाह एक पढ़ी-लिखी लड़की के साथ तय होता है । नाटक के दूसरे अंक में रघु के मित्र अशोक और उसकी पत्नी के पारिवारिक जीवन की झांकी है । वह खाना बनाने से भी इन्कार कर देती है । यहां तक कह देती है -

"मैं क्या जानूं...मैं स्वयं तो चूल्हा झोंक नहीं सकती..।"

अशोक उसपर चीखता है और अन्त में अपने भाई की साली (अनपढ़) से ही विवाह कर लेता है ।

---

1. स्वर्ग की झलक : उपेन्द्रनाथ अश्क ।

इस नाटक में मध्यमवर्गीय जीवन की धुरीहीनता और दम्भ पर हल्का-फुल्का व्यंग्य है ।

'कैद और उड़ान' में नारी की विषम समस्या के दो पक्ष हैं । इसमें वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के चक्र में उलझे हुए मानव के अन्तर्मन में बसने वाली पीड़ा घायल संस्कार और प्यासी खुंखार प्रवृत्तियां देखी हैं । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसकी उन्मुक्त काम-पिपासा 'अप्पी' में यौन स्वच्छन्दता की ओर प्रवृत्त हुई है जबकि 'वीणा' इस प्रकृत वासना में स्वतः ही लवलीन है ।

इस नाटक कैद और उड़ान में स्त्री-पुरूष के अतयंत्रित मनोवेग, उनके अवरोध और परिष्कार का ही सांकेतिक चित्रण है । यह नाटक अप्पी के जीवन की नीरसता, प्राणहीनता और व्यर्थता को प्रस्तुत करता है । नाटक के हर पात्र की अपनी-अपनी कैद है अप्पी की उसके पति की प्रेमी कवि दिलीप की और उसकी वर्तमान प्रेमिका वाणी की - मानवीय स्थिति की ऐसी परिणति हिन्दी नाटक में नया स्वर देती है ।

'कैद' नाटक का पात्र प्राणनाथ 'गिल्टी कान्शसनेस' के घुटन में घुट रहा है कि अप्पी के साथ विवाह करके उसने अन्याय किया है । अप्पी को वह सदैव बीमार कहता है -

प्राणनाथ - किंतु जहां रोग है वहां इलाज भी तो है । तुम्हारे रोग का तो इलाज ही नहीं । काश तुम्हारे रोग की दवा मेरे पास होती ।

अतः 'कैद' एक प्रकार से ट्रेजैडी नाटक है परन्तु परंपरावादी नहीं । जीवन व्यक्तियों के यथार्थ संघर्ष और द्वन्द्व की ओर संकेत करके लेखक नाटक में प्रारंभ से अंत तक समाज की करूण स्थिति के गर्भित सत्य को प्रस्तुत करता है ।

'अलग-अलग रास्ते' नाटक में वैवाहिक समस्या का उग्र रूप दिखाई पड़ता है । इसमें रानी और राजी नामक दो बहनों के अलग-अलग रास्तों की कथा है ।

रानी आधुनिक युग की नारी है, जो क्रान्ति का संदेश लेकर, प्राचीन सड़ी-गली

परंपराओं का उन्मूलन करने पर तुली हुई है । पिता के आग्रह पर भी वह, अपने लोभी पति के साथ जाना उचित नहीं समझती । रानी अपने पिता ताराचन्द से कहती है -

"आपके धर्म की बातें मैंने बहुत सुन लीं पिता जी !
आपका धर्म भी पुरूषों का धर्म है ।"

अर्थात् परिणाम यह होता है कि विद्रोही रानी परंपरावादी पिता का घर त्यागकर अन्यत्र चली जाती है किन्तु राजपति से अपमानित होने पर भी अपने श्वसुर के यहां शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करती है ।

'छठा बेटा' एक स्वप्न नाटक है । इस पर हिन्दू वर्ग के 'दी अण्डर स्टार्म' की शैली का प्रभाव देखा जा सकता है । इसमें एक शराबी पिता के मानसिक स्तरों का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है । उसके अचेतन मन में छटे बेटे दयालचन्द का रूप इस प्रकार स्वप्न के रूप में मूर्तिमान हो उठता है कि प्रतीक रूप में वह मानव-मन की अभिलाषा का द्योतक हो जाता है ।

इस नाटक में 'अश्क' जी ने विवाह, परिवार तथा प्रेम आदि की समस्याएं एक साथ उठायी है । नाटककार ने अपनी सारी संवेदना सबसे अधिक मां को प्रदान की है । इसके संवाद अत्यन्त स्वाभाविक, रोचक, चुटीले और गतिशील हैं ।

'अश्क' जी ने 'अंजो दीदी' नाटक की रचना 1943 ई. में की । 'अंजो' अभिजात्य वर्ग की नियंत्रित और अनुशासित प्रवृत्ति की महिला है । 'अंजो दीदी' नाटक में - "अंजो के जीवन-दर्शन और सजीव कथा पर इस नाटक की रचना हुई है, एकक विशुद्ध मनोवैज्ञानिक सत्य तथा मानसिक प्रक्रिया है ।"[1] इस नाटक की 'ट्रजेडी' यही है कि अंजो दीदी' का चरित्र मनोवैज्ञानिक कथा का उदाहरणमात्र है, कथा का दर्शन उसमें नहीं है । यथा - "मैं कुछ नहीं देता - शून्य और शून्य बराबर शून्य ।"[2]

एक दृश्य में वकील साहब अंजो की मृत्यु के वाद शराब को कभी हाथ भी नहीं

---

1. विवेक के रंग : सम्पादक देवीशंकर अवस्थी, पृ.-387 ।
2. विवेक के रंग : सम्पादक देवीशंकर अवस्थी, पृ.-388 ।

लगाते । ओमी कहती है -

> "उस दशा में ममी की मृत्यु से पापा के दिल पर कुछ ऐसा असर हुआ कि उन्होंने फिर न घर, न कचहरी - शराब को कभी हाथ नहीं लगाया । अपना जीवन नियमित बना लिया उन्होंने और एकदम सन्यासी-से बन गए ।"

नाटक के अन्त में श्रीपति अंजो के चरित्र का विश्लेषण करते हुए कहता है -

> "वह घर को घड़ी की तरह चलाना चाहती थी । पर वह न जानती थी कि घड़ी मशीन है । इन्सान मशीन नहीं.....इन्सान का मशीन बनना सनक का दूसरा रूप है । अंजू यदि इसे समझती तो जीजा जी को चोरी से शराब पीने और अंजू को मरने की जरूरत न पड़ती ।"

इस नाटक की मूल समस्या है पति-पत्नी में विचारों की विषमता ।

'अंधी गली' को 'अश्क' ने अपना नवीन नाट्य प्रयोग माना है । परन्तु 'अंधी गली' वास्तव में शिथिल रूप से संबद्ध सात एकांकियों का संग्रहमात्र है, एक सम्पूर्ण नाटक नहीं ।

जगदीशचन्द्र माथुर के अनुसार "श्रमसाध्य और प्राणवान पात्रों का सृजन अश्क की प्रमुख विशेषता है । जान पड़ता है कि अश्क नाटक लिखते समय ज़ब एक आधारभूत भावना के लिए आंखें दौड़ाते हैं तो कल्पना की आंखें नहीं, स्मृति के नेत्र होते हैं । इसलिए मध्यवर्ग की आर्थिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थिति के विश्लेषण में उन्हें लम्बे भाषणों का सहारा नहीं लेना पड़ता, वे केवल परिस्थिति विशेष के ऊपर से पर्दा उतारकर रख देते हैं ।"[1]

'अश्क' के पात्र सामान्य जन की भांति तकिया कलमों का प्रयोग करते हैं, बातचीत करते-करते उलझन में पड़ जाते हैं, खण्डित वाक्यावलियां उनके मुंह से निकलती हैं । अधसुनी भंगिमाएं उनके संवादों में बिखरी पड़ी हैं और गम्भीर वार्तालाप के बीच वे कोई छोटी-मोटी चर्चा भी छेड़ देते हैं । संवाद अन्यन्त रोचक, चुटीले, स्वाभाविक और गतिशील

---

1. जगदीशचन्द्र माथुर : भारतीय नाट्य-साहित्य, संपादक-डॉ. नगेन्द्र, पृ.-37। ।

हैं । उन्होंने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के अन्दर पनपने वाली कई समस्याओं का उद्घाटन अपने नाटकों में बड़ी कुशलता से किया है ।

डॉ. रामकुमार वर्मा के नाटकों में संवाद

डॉ. रामकुमार वर्मा वस्तुतः ऐतिहासिक नाटककार हैं "स्वाधीनता के बाद लिखित उनके ऐतिहासिक नाटक जहां किसी प्राचीन भारतीय विचार या चरित्र को समाधान या आदर्श के रूप में उपस्थित करते हैं वहां गहरे अन्तर्द्वन्द्व, अलगाव और भटकाव में से सत्य को तलाशते हैं । कोई बना-बनाया-सा समाधान वे प्रस्तुत नहीं करते वरन् प्रश्न देते हैं । अपने समय की प्रबल आकांक्षाओं को व्यक्त करने का, गहरी शंकाओं या चुनौतियों से जूझने का सर्जनात्मक प्रयास इनमें स्पष्ट परिलक्षित होता है ।"[1] इनके नाटकों पर उनके कवि हृदय का विशेष प्रभाव है । संवादों पर भी काव्य का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है ।

'विजय-पर्व नाटक में डॉ. वर्मा जी ने सम्राट अशोक के जीवन की कुछ महत्वपूर्ण घटनाएं चित्रित की हैं । इस नाटक में अहिंसा की हिंसा पर विजय दिखलाई गई है ।

एक दृश्य में सम्राट के सन्दर्भ में सुगाम के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए सुदन्त कहता है -

> "मैं ? इसी सोन नदी के किनारे हम दोनों का द्वन्द्व-युद्ध हो और मगध के योग्य शासक का निर्णय । इसी इच्छा से तुम मुझे यहां लाये हो ? किन्तु सुगाम ! मैं...मैं द्वन्द्व-युद्ध नहीं करूंगा । अपनी माताओं की अश्रुधारा में किसी भाई की रक्त-धारा नहीं मिलाऊंगा । मैं सम्राट पद के लिए द्वन्द्व-युद्ध नहीं करूंगा । पाटलिपुत्र विपत्तियों में डुब रहा है । मैं उस पर अपने कृपाण का बोझ नहीं रखूंगा । हां...तुम सम्राट बनो । पाटलिपुत्र के योग्य शासक ! मैं जीवनभर अपनी माताओं की सेवा करूंगा ।"[2]

---

1. आलोचना : अप्रैल जुन 1968 : पृ.-91, विष्णुकान्त शास्त्री का लेख ।
2. डॉ. रामकुमार वर्मा : विजय-पर्व, अष्टम संस्करण, पृ.-99 ।

इस कथन में सुदत्त में मनोवैज्ञानिक सलीवन प्रणीत सन्तोष की भावना दृष्टिगोचर होती है ।

सुगाम से चंडगिरिक कहता है

"स्वर्गीय सम्राट बिन्दुसार के स्थान पर अशोक को ,
सम्भानित किया जायेगा ।"

सुगाम को यह वार्ता अरूचिकर लगती है वह चंडगिरिक की भर्त्सना करत हुए कहता है -

"सम्राट अशोक को रटने वाला दादुर ! तू दुर्विनीत भी
है । द्वन्द्व के लिये प्रस्तुत हो ।"[1]

इस नाटक के कथनों में काव्यत्व होते हुए भी इनमें दुरूहता एवं जटिलता महसूस नहीं होती । यथा -

सुगाम - मैं आक्रमण तो करूंगा ही, अशोक ! पहले यह जानना चाहता हूं कि अमात्य खल्लाहक और अंगरक्षक चंडिगिरिक कहां है ?

अशोक - दो भाइयों के बीच में कोई बाहरी व्यक्ति नहीं होना चाहिए, सुगाम । इसीलिए दोनों को ही यहां रहने की अनुमति नहीं दी । अब यहां केवल मैं हूं और तुम हो । हम दोनों का जीवन, जीवन है, कोई प्रदर्शिनी नहीं जो बाहरी व्यक्ति देखें ।

सुगाम - अशोक ! तुम जानते थे कि मैं यहां आने वाला हूं ?

अशोक - निस्संदेश ! मैं अपने अन्य भाइयों की भी प्रतिक्षा कर रहा हूं । वे सब कहां हैं ?

सुगाम - कहीं दूर नहीं होंगे, किन्तु जानते हो, इसका परिणाम क्या होगा ?

अशोक - भाइयों के मिलने का परिणाम बुरा नहीं होता, यह मैं

जानता हूं ।"[1]

उपर्युक्त कथोपकथनों में अशोक के नैतिकाहं का परिचय मिलता है और सुगाम के इड के अधीन होना । अशोक का क्रोध पाकर सुगाम की मानो घिग्घी बंध जाती है । वह अस्पष्टता के साथ अशोक से कहता है -

> "तुम ऐसा कर सकते हो कि...यदि सुसीम योग्य नहीं है अर्थात् उसे सिंहासन के योग्य नहीं समझते तो...तो मैंने....अर्थात् मैंने....मार्ग, आदर्श पर चलने का प्रयत्न...नहीं....साधना की है...। मैं....अर्थात् मैं...।"[2]

यहां सुगाम की जीभ की फिसलन से उसके अन्तर्द्वन्द्व की जानकारी मिलती है ।

एक दृश्य में अशोक का पुत्र महेन्द्र एक भयानक समाचार लिए हुए प्रवेश करता है । उसके द्वारा विदित होता है कि उज्जयिनी और उसके सीमावर्ती राज्यों में सुगाम षड्यन्त्र रच रहा है । सभी बातों को जानकर माता महादेवी महेन्द्र से कहती है -

> "महेन्द्र ! क्या राजनीति कभी विश्राम नहीं लेती ? जीवन की स्वाभाविकता इस राजनीति से इस प्रकार आहत हो जाती है जिस प्रकार इस फूल का हृदय सुई की नोंक से बिंधा हुआ है । फूलों की माला की भांति राज्यश्री भी वैभव की माला बनाती है, किन्तु माला में बिंधे हुए फूलों में वह सौन्दर्य कहां जो मन्द वायु में झुमते हुए लता की गोद में है । यह राजनीति तो ऐसी मृगतृष्णा है, जिससे आंखों को आशा का संदेश तो मिलता है, किन्तु कण्ठ सूखा रह जाता है ।"[3]

महादेवी के इस काव्यात्मक वार्तालाप में उसके चेतन एवं अचेतन मन का द्वन्द्व परिलक्षित होता है ।

---

1. विजय-पर्व, पृ.-30 । 2. विजय-पर्व, पृ.-32 ।
3. विजय-पर्व, पृ.-54 ।

अशोक के एक कथन में प्रतिस्पर्द्धात्मक इच्छा परिलक्षित होता है । अशोक बुद्धिभद्र से कहता है -

> "मैं यह जानना चाहता हूं, बुद्धिभद्र ! कि कुमारामात्य सुगाम को अपने आप पर विश्वास क्यों नहीं है ? वे भी तो सम्राट बिन्दुसार के पुत्र हैं । यदि वे विद्रोह करना चाहते हैं, ता छद्मवेश की आवश्कता नहीं है । साहस हीनता का नाम ही छद्मवेश है ।"[1]

इसी तरह महादेवी और उपगुप्त में हुआ संवाद मनोविज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । उपगुप्त महादेवी से कहता है -

> "समय की प्रतिक्षा करो । महाराज में परिवर्तन होगा ।, जब किसी व्यक्ति में शक्ति की क्षमता होती है तब बुरे मार्ग से अच्छे मार्ग पर और अच्छे मार्ग से बुरे मार्ग पर जाने में विलम्ब नहीं लगता । महाराज में शक्ति की क्षमता है और वे बुरे मार्ग पर हैं । किसी भयानक भावना से उनके हृदय का दिशा परिवर्तन सम्भव है । वे विजय के आकांक्षी हैं । विजय प्राप्त करें । किंतु हिंसा से नहीं, अहिंसा से । वे शासन करना चाहते हैं, करें, किन्तु क्रोध से नहीं, करूणा से । विनाश करें, किन्तु जाति का नहीं, अपनी तृष्णा का । वे ज्ञान-प्राप्ति में यत्नशील हों, राज्य प्राप्ति में नहीं । ज्ञान अमर है, राज्य क्षणभंगुर है ।"[2]

उपगुप्त के संवाद से यह पता चलता है कि महादेवी अपने पति को कान्तासम्मित उपदेश से सजग कर सकें । इस कथन में बुरी आदतों को तोड़ने के नियम भी परिलक्षित हुए हैं ।

कलिंग-युद्ध के उपरान्त अशोक को हिंसक घटनाओं से बहुत दुःख होता है ।

---

1. विजय-पर्व, पृ.-67 । 2. विजय-पर्व, पृ.-126 ।

वह सभी के सम्मुख कहता है -

> "आज से मैं हिंसा किसी भी रूप में न करूंगा । और देखुंगा कि किसी मनुष्य का रक्त इस पृथ्वी पर न पड़े । प्रत्येक स्थान पर, सिंहासन पर, अन्तःपुर में, प्रजा की सेवा करूंगा । आज से मेरा महान् कर्तव्य होगा कि मैं सब जीवों की रक्षा का अधिक से अधिक प्रबन्ध करूं ।"[1]

अशोक का यह कथन व्यवहार के चिरस्थायी प्रतिरूप प्रकार के व्यक्तित्व का परिचायक है । वह 'स्व' को बोध कराता है । स्वगत्यात्मकता ही उसके व्यक्तित्व का अंग है, जिसे मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है ।

विजय-पर्व के संवाद प्रभावपूर्ण एवं दर्शकों की उत्सुकता को बढ़ाने वाले हैं । पात्रानुकूल काव्यत्व से ओतप्रोत भाषा इस नाटक का असामान्य गुण है । इस नाटक के संवादों में हास्य-व्यंग्य एंव उक्ति-वैचित्र्य का आविष्कार भी दिखाई देता है । सम्पूर्ण नाटक पर मनोविश्लेषण एवं आचरणवाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।

'कला और कृपाण' नाटक सम्राट उदयन के बौद्धधर्म स्वीकार करने के कारणों पर प्रकाश डालता है । इसीलिये यह कृति सांस्कृतिक महत्ता भी रखती है । 'कला और कृपाण' की भूमिका में डॉ. वर्मा जी ने लिखा है "नाटक की कथावस्तु के सूत्रों का निर्माण करते समय मेरे मस्तिष्क में भास के दो अमर नाटकों की भी स्मृति थी । प्रतिज्ञायोगंधरायण में वासवदत्ता के विवाह की कथा है । उसमें उदयन के चरित्र की दो विशेषताएं उभरी हैं । पहली उनकी आखेटप्रियता दूसरी वीणावादन की कला । इन विशेषताओं को मैंने भी उदयन के चरित्र में प्रतिष्ठित किया है ।"[2]

'कला और कृपाण' नाटक का नायक उदयन आखेटक के बहाने अपने सेनापति के साथ विन्ध्य-भूमि के एक वन में आया है, जिसका पथ-प्रदर्शन शेखरक और शंखचूड करते हैं । दूर से किसी स्त्री की पग-ध्वनि को सुनकर शेखरक चन्द्रचूड से कहता है -

> "तुम कदाचित् अपनी स्त्री को शृगाल ही समझते होगे ।

---

1. विजय-पर्व, पृ.-137 । 2. कला और कृपाण, भूमिका भाग, डॉ. रामकुमार वर्मा ।

> तुम नहीं समझते, शंखचूड ! इसीलिये तो मैं निर्झर के समीप बैठना चाहता था कि उस स्त्री से दो क्षण कुछ बातें होतीं । निर्झर की बहती हुई लहरों में उसका प्रतिबिम्ब सौगुना सुन्दर होता । जलराशि में तरंगित होता हुआ उसका रूप ऐसा लगता कि पृथ्वी में स्वर्ग निवास कर रहा है ।"[1]

इस कथन में शेखर की कामुक वृत्ति पर प्रकाश पड़ता है ।

इस नाटक के प्रथम अंक के एक दृश्य में मंजुघोषा नामक किरातकन्या की पालिता सारिका सम्राट उदयन के शब्दवेधी बाण से आहत हो गई है । इसी कारण मंजुघोषा क्रोधित हो उठी है । अपना दुख एवं उद्वेग प्रदर्शित करने के उपरान्त मंजूघोषा उदयन से कहती है -

> "तुम्हारे बाण तीक्ष्ण हैं, किन्तु तुम्हारी वाणी कोमल है । और...और तुम्हारे मस्तक का यह चिह्न सूचित करता है कि तुम भी कभी क्षत-विक्षत हुए होगे । इसीलिए तुम्हारी वाणी में कोमलता और सहानुभूति है । यदि यह सत्य हो तो बोलो, मेरा न्याय कर सकोगे ? कर सकोगे, मेरा न्याय ? मेरी सारिका को पुनः जीवित करो ! कर सकते हो ।"[2]

इस संवाद में उसके अचेतन मन का प्रभावी आविष्कार हुआ है । साथ ही वह उदयन की ओर आकृष्ट हुई परिलक्षित होती है ।

कौशाम्बी के राजप्रसाद में वासवदत्ता उदयन की प्रतिक्षा में है । इतने में ही सुहासिनी उदयन के आखेट से लौटने की वार्ता देती है । उदयन को देखकर सुहासिनी वासवदत्ता से कहती है -

> "महादेवी की जय हो । महाराज भी यहां शीघ्र ही आ

---

1. कला और कृपाण, पृ.-5 । 2. कला और कृपाण, पृ.-21 ।

> जाते हैं । किन्तु वे कक्ष-द्वार के स्वर्ण पिंजर में बैठा हुई , सारिका को देखकर न जाने क्यों कुछ देर के लिये रूक गये । अनिमेष नेत्रों से वे सारिका को देखते रहे, फिर उन्होंने एक ठण्डी सांस लेकर दूर क्षितिज की ओर देखा और सिर झुकाकर न जाने किन विचारों में लीन हो गए ।"[1]

कथोपकथन द्वारा यहां सुहासिनी के द्वारा उदयन के संवेदनशील हृदय की एवं उसके अन्तर्द्वन्द्व की झांकी दर्शायी गयी है । तदुपरान्त वासवदत्ता तथा उदयन के बीच हुआ वार्तालाप देखने लायक है -

> वासवदत्ता - यदि मैं यह निवेदन करूं, आर्य ! कि जिस मात्रा में यह वत्सराज्य विशाल होता जा रहा है उसी मात्रा में मैं लघु होती जा रही हूं ?
>
> उदयन - महादेवी ! तुम लघु होती जा रही हो ? कैसे ? जिसकी सुघोषिता वीणा के स्वरों के लिये संसार की सीमाएं छोटी हो गई हैं, जिसकी कीर्ति गाथा के सूत्र में उज्जयिनी और वत्स एक हो गये हैं, वह लघु कैसे हो सकती है, महादेवी ?"[2]

इस कथोपकथन से स्पष्ट होता है कि उदयन के मन में महादेवी के प्रति सम्मान की भावनाएं हैं, जो उसके नैतिकाहं की परिचायक है ।

जब मंजूघोषा को यह पता चलता है कि उसकी सारिका के आखेटक महाराज उदयन ही है वह, वह उनसे क्षमा मांगती हुई दोनों के सम्मुख कहती है -

> "मेरा अभियोग मुझे लौटा दीजिए महाराज ! मैं किसी - प्रकार का न्याय नहीं चाहती, किसी प्रकार का न्याय नहीं चाहती । आपके चरणों पर मैं सहस्र सारिकाएं

---

1. कला और कृपाण, पृ.-27 ।
2. कला और कृपाण, पृ.-28-29 ।

निछावर कर सकती हूं । ओह ! न जाने मैंने कितने अपशब्दों का प्रयोग किया, देवि ! मैं आप से क्षमा की भिक्षा मांगती हूं । महाराज से मैंने न जाने कितने अपशब्द कहे होंगे ! मेरी सारिका का रक्त आंखों में क्रोध बनकर समा गया था । मैं क्या जानती थी कि उस वनखण्ड में मेरे समक्ष स्वयं महाराज ने मुझे कितना आदर दिया था, और पापीयसी....पापयसी ।"[1]

इस कथन में मंजूघोषा का अहं जागृत होकर उसकी रक्षा करना चाहता है और साथ ही उसकी हीनता ग्रंथि भी उसे बार-बार विवश कर रही है ।

वैसे तो नाटक के संवाद अधिक सफल, निर्दोष मनोवैज्ञानिक एवं कलात्मक बन पड़े हैं । उदाहरण के तौर पर -

सीमावती - (हंसकर) आप की बाहुलता । उसका स्थान पुष्पमालाएं ग्रहण नहीं कर सकतीं, बहिन ! सजीव कंठ के लिये तो सजीव बाहुलता ही चाहिए ।

वासवदत्ता - वह अधिकार तो मैंने तेरे लिये छोड़ दिया है ।

सीमावती - मेरे लिये ?

वासवदत्ता - और क्या ! बाहुलता जितनी ही नवीन होती है, उसकी सुगन्धि उतनी ही मादक होती है ।

सीमावती - मेरी सुगन्धि क्या ! मैं तो एक साधारण श्रेष्ठीकन्या हूं ।

वासवदत्ता - श्रेष्ठी-कन्या क्या, यदि तू किरात-कन्या भी होती तो आर्य की दृष्टि में तू महान होती ।"[2]

इस कथोपकथन में काम सिद्धान्त का यथार्थ निरूपण हुआ है ।

उदयन की दृष्टि में जहां कृपाण होना चाहिए वहां भिक्षा-पात्र आना खतरनाक है । इस अवसर पर उसका स्व वार्तालाप मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से द्रष्टव्य है । अतः

---

1. कला और कृपाण, पृ.-44 ।

कला और कृपाण के संवाद सरल, संक्षिप्त, ओजपूर्ण एवं पात्रानुकूल है । यथा -

उदयन - तथागत...! शान्ति और अहिंसा का उपदेश करते हैं । सोती हुई निरपराध पत्नी को छोड़कर जो कर्मयोग से भागे, वे किसी अहिंसा का उपदेश देंगे ! अपने अबोध शिशु पर भी जिन्हें दया नहीं आई, वे किस शान्ति का उपदेश करेंगे ? भगवान राम वन में गए, वे अपनी पत्नी सती सीता को भी साथ ले गए । किन्तु तथागत.. वन में गए चोरी से और अपनी पत्नी सती यशोधरा को जीवनभर रोने के लिए छोड़ गये ! यह कैसा धर्म है ! यह कैसी शान्ति है ! जिसे कर्मयोग में अनुरक्त रहना चाहिए, वह निर्वाण में अनुरक्त है । कायर शाक्यकुमार ! तुम क्षत्रिय होकर युद्ध में आसक्त नहीं हो सके ? धर्म ! शान्ति ! अहिंसा ! इसका प्रचार तो यशोधरा को करना चाहिए, तुम्हें नहीं...।"[1]

इस कथन में उदयन पर धर्म और संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव है ।

इस नाटक में हिंसा पर अहिंसा की विजय सूचित की गई है । नाटक ऐतिहासिक होने पर भी वर्तमान का संदेशवाहक है । इसमें दर्शक के मन पर यह विश्वास स्थायी हो जाता है कि एक न एक दिन पाशविक प्रवृत्तियों पर करूणा, दया, समता, आदि मानवीय वृत्तियां अवश्य सफल होंगी । यह नाटक एक विशिष्ट आदर्श की स्थापना करता है ।

'नाना फड़नवीस भी डॉ. वर्मा जी का ऐतिहासिक नाटक है । इसमें महाराष्ट्र की अठारहवीं सदी की राजनीतिक अवस्था का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है । इस नाटक के संवाद पात्रानुकूल, संक्षिप्त, हृदयस्पर्शी एवं मनोविज्ञान से परिचालित हैं । इस नाटक की भाषा सरस, अर्थवाही और सर्वांगसुन्दर है । उदाहरण के तौर पर -

नाना - श्रीमंत ! आपके नेत्र कितने हैं ?

नारायण - दो

---

1. कला और कृपाण, पृ.-61 ।

नाना - और उन दो नेत्रों की दृष्टि ?
नारायण - एक
नाना - इसी तरह आप दो हैं किन्तु दृष्टि एक है ।
गंगा - धन्य, हो नाना ! आपने मेरे प्रश्न का उत्तर दे दिया ।"[1]

इस वार्तालाप में विशेषकर नाना के व्यक्तित्व में राजनीतिज्ञता की झलक परिलक्षित होती है । इस नाटक पर नेता के मनोविज्ञान का विशेष प्रभाव है ।

'महाराणा प्रताप' भी ऐतिहासिक नाटक है । इस नाटक में महाराणा प्रताप का उदात्त एवं प्रेरणादायी चरित्र चित्रण किया है । महाराणा प्रताप के भाई जगमल एवं सगर के सम्भाषण देखने से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों कर्तव्यहीन एवं आत्मविश्वासहीन हैं । जगमल अपनी महारानी की दाहिनी आंख फड़कने पर चिन्तातुर हो जाता है और सगर पत्नी से पूछे बिना कुछ नहीं कर पाता है । इससे उनके अपरिपक्व व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है । प्रताप के आ जाने पर जगमल अटकते हुए स्वर में उससे कहता है -

> "तुम...तुम मेरे महाराणा बनने का विरोध...विरोध करने आये हो ? तुम ज्येष्ठ हो...मैं मानता हूं किन्तु, पिता की घोषणा तो सबको मान्य होनी ...चाहिए । पिता चाहते थे कि ...मैं मेवाड़ का महाराणा बनूं । मेवाड़ की सेवा करना पुण्य है और...पिता की आज्ञा टालना पाप..पाप है ।"[2]

यहां पर जगमल की जीभ की फिसलन परिलक्षित होती है, जो उसकी आत्मविश्वासहीनता का परिचायक है ।

मेवाड़ का पवित्र और गौरवशाली मुकुट महाराणा प्रताप के मस्तिष्क पर सुसज्जित होता है । अर्थात् स्पष्ट ही है कि महाराणा प्रताप में नेता के अनुकूल कई गुण विद्यमान हैं । इस अवसर पर महाराणा प्रताप कई लोगों के सम्मुख कहता है -

---

1. डॉ. रामकुमार वर्मा ।
2. डॉ. रामकुमार वर्मा : महाराणा प्रताप, पृ.-21, प्रथम संस्करण ।

> "मेवाड़ भूमि के वीरों ! आज अपनी मातृभूमि मेवाड़ को प्रणामकर मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि जो विश्वास मेरे सामन्तों ने मुझपर किया है, उसकी जीवन भर रक्षा करूंगा और अपने रोम-रोम से अपनी मातृभूमि की सेवा करता हुआ उसकी स्वतंत्रता के लिए अपने प्राण उत्सर्ग कर दूंगा ।"[1]

यहां पर मनोवैज्ञानिकता के अनुसार प्रताप में विधायक इच्छा परिलक्षित होती है ।

एक दृश्य में कमलमीर के समीप उदयसागर में महाराणा प्रताप भगवान एकलिंग की पूजा कर रहा है । पूजा होने के बाद वह चन्द्रसिंह से कहता है -

> "मातृभूमि चित्तौड़ का उद्धार करने के लिए हमें अपने सम्पूर्ण जीवन को बदलना है ।...जीवन की समस्त विलासिता का अन्त करना होगा । ....सोने चांदी के पात्रों में भोजन करने का जो तुम्हारा अभ्यास हो गया है, उसका परित्याग करना होगा । उन पात्रों के स्थान पर वृक्षों के पत्तों का उपयोग होगा । मिष्ठान के स्थान पर कन्दमूल भी हो सकते हैं ।....सोने के लिए रेशम और मखमल की शैया नहीं होगी । कठोर भूमि पर सामान्य वस्त्र बिछाकर ही शयन करना होगा ।....परिवार और वंश वालों से कह दो कि इन नियमों का कठोरता से पालन किया जायेगा । भगवान एकलिंग की आज्ञा है कि जब तक चित्तौर की भूमि स्वाधीन नहीं होगी तब तक सिसोदिया वंश का कोई भी व्यक्ति स्त्री अथवा पुरूष सुख विलासिता के जीवन से किसी प्रकार का संबंध नहीं रखेगा ।"[2]

इस संवाद में महाराणा के व्यक्तित्व में अग्रधर्षी प्रेरणा-शक्ति का प्रभाव परिलक्षित होता है ।

---

1. डॉ. रामकुमार वर्मा : महाराणा प्रताप, पृ.-32, प्रथम संस्करण ।
2. महाराणा प्रताप, पृ.-36-37 ।

इस नाटक का नायक भी महाराणा प्रताप है । वह मेवाड़ का जीता-जागता आदर्श रूप है । नाटक के अन्त में प्रताप सभी के सम्मुख कहता है -

> "शक्तिसिंह, भील सरदार और भामाशाही तुम लोग मेवाड़ के रत्न हो ! भामाशाह द्वारा सुरक्षित सम्पत्ति तो निर्जीव सम्पत्ति है, तुम लोग मेवाड़ के सजीव वैभव और शक्तिशाली नक्षत्र हो, जिनका यश कभी धूमिल न होगा ! इस संपत्ति से मेवाड़ की ध्वजा फिर एक बार आकाश में फहरायेगी । अकबर बादशाह का आक्रमण उतना दुःखदायी नहीं है - बादशाह तो आक्रमण किया ही करते हैं - दुःखदायी तो वे विश्घाती हमारे भाई हैं जो अपना कर्तव्य भूलकर अपनी ही मातृभूमि की परतंत्रता के बीज बोते हैं । किन्तु कुछ चिन्ता की बात नहीं है ।"[1]

प्रताप के इस महत्वपूर्ण सम्भाषण से स्पष्ट हो जाता है कि स्वार्थलिप्सा, तथा गृह-कलह मनुष्य के अधोमति की जड़ है । प्रताप में विधायक इच्छा का यथार्थ परिष्कार हुआ है ।

इस नाटक का प्रत्येक पात्र अपने स्वभाव के अनुसार भाषा का प्रयोग करते हैं । और उस भाषा में काव्यत्व अधिक पाया जाता है । यथा -

जगमल - सगरसिंह ! मेरी इच्छा है कि प्रतापसिंह के आने पर तुम मेरे साथ रहोगे ।

सगर - मैं रहता तो अवश्य, महाराणा जी ! किन्तु मुझे पिता की याद आ रही है ।

जगमल - पिता की याद तो मुझे भी आ सकती है ।

सगर - किन्तु तुम अपने को सम्हाल सकते हो, क्योंकि तुम महाराणा हो ! प्रतापसिंह क्रोध में भरे हुए आ रहे हैं ! (नेपथ्य में देखता है ।) उनके साथ दो व्यक्ति

---

1. महाराणा प्रताप, पृ.-88 ।

> और भी हैं । मुझे यहां नहीं रहना चाहिए क्योंकि मेरी पत्नी कहती थी कि जहां दो या तीन व्यक्ति आपस में बात करें, वहां नहीं रहना चाहिए । फिर मैं अपने पिता की याद क्यों करूं ।"[1]

इस वार्तालाप से ज्ञात होता है कि सगर अपनी पत्नी पर निर्भर रहता है । अतः उसमें अनुपालक व्यक्तित्व दृष्टिगोचर होता है ।

इस नाटक के संवादों की भाषा पात्रों के स्वभाव के अनुसार प्रयुक्त हुई है । पात्रों के संवादों में भावात्मक शैली, विश्लेषणात्मक शैली, अलंकारिक शैली एवं व्यंग्यात्मक शैली का यथार्थ निरूपण हुआ है ।

डॉ. वर्मा जी के अन्य ऐतिहासिक नाटकों में 'जौहर की ज्योति' (जिसमें सत्रहवीं शताब्दी के मारवाड़ के इतिहास एवं उसके आत्मसम्मान का एक अनूठा नमूना है ।) तथा 'सारंग स्वर' है । 'सारंग स्वर' में रानी रूपमती और सुलतान बाज बहादुर के संगीत प्रेम को लक्ष्य करके लिखा गया नाटक है ।

'जौहर की ज्योति' नाटक के एक दृश्य में महाराणा जसवन्तसिंह के पुत्र अजीतसिंह एवं सफीयत की भेंट होती है । इस समय दोनों के बीच हुआ वार्तालाप मनोविज्ञान की दृष्टि से दृष्टव्य है -

> अजीत - यह लड़की तो बहुत अच्छी है । मैं इसे बहुत प्यार करूंगा ।
>
> सफीयत - मेरा नाम सफीयत उन्निसा बानू है । तुम भी तो मुझे बहुत अच्छे लगते हो ।
>
> \- - - - - - -
>
> अकबर - अभी से ऐसा मेल हो गया ? (दोनों जाते हैं ।)
>
> दुर्गादास - बच्चे बहुत जल्दी अपने मित्र बना लेते हैं । बड़े लोग ही छोटी-छोटी बातों पर एक-दूसरे से शत्रुता मोल लेते हैं ।"[2]

---

1. महाराणा प्रताप, पृ.-29 । 2. जौहर की ज्योति, पृ-46-47 ।

यहां दुर्गादास के कथन से बच्चों के संवेगों के नियंत्रण के मार्गान्तरीकरण का परिचय मिलता है ।

'सारंग-स्वर' नाटक के कथोपकथन पात्रों के अनुरूप हैं । वे संगठित, संयत एवं प्रभावी हैं । यथा -

रूपमती - प्रियतम ने अपना धनुष-बाण मांगा, लेकिन मैने नहीं दिया । मैंने कहा कि मैं स्वयं आखेट करूंगी । मैंने धनुष पर बाण चढ़ाकर ऐसा निशाना लिया कि एक बाण में ही सिंह धरती पर तड़पने लगा ।

रेवा - साधु ! महारानी ! आपके लक्ष्य भेद की प्रशंसा तो स्वयं सुलतान किया करते थे ।

रूपमती - सोचती हूं कि ऐसा ही बाण मैं आदम खां पर चलाऊं, लेकिन....

रेवा - लेकिन महारानी ?

रूपमती - प्रियतम ने मुझे युद्ध-भूमि में नहीं जाने दिया । अब जब युद्ध जब युद्ध समाप्त हो गया है तब छल से बाण मारना एक क्षत्राणी के लिए कलंक की बात होगी ।"[1]

उपर्युक्त कथोपकथनों में रूपमती के व्यक्तित्व का दुहरा रूप दृष्टिगोचर होता है । यहां पर उसके चेतन-अचेतन मन का संघर्ष भी यथार्थ रूप में चित्रित हुआ है ।

डॉ. रामकुमार वर्मा के ऐतिहासिक नाटकों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उनके नाटकों में उदात्त, कर्तव्यनिष्ठ और सृजनात्मक व्यक्तित्व से अनुप्रेरित पात्रों की अवतारणा हुई है । इनके नाटकों के संवादों में स्वाभाविकता, प्रवाहयुक्तता, मर्मस्पर्शीत्व एवं मनोवैज्ञानिकता परिलक्षित होत है । काव्यत्व से ओत-प्रोत संवादों की भाषा सरल, अर्थवाही और सर्वांग सुन्दर बन पड़ी है ।

---

1. सारंग-स्वर, पृ.-42 ।

अन्य नाटककारों के नाटकों में संवाद

डॉ. दशरथ ओझा जी का 'सम्राट समुद्रगुप्त' नामक ऐतिहासिक नाटक सम्राट समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व से संबंधित है । इस नाटक के संवाद पात्रानुकूल, स्वाभाविक और मनोविज्ञान से परिपूर्ण हैं । उदाहरणतया -

मधुमती - कैसा संकल्प ?

समुद्रगुप्त - जब तक मैं मातृभूमि का उद्धार न कर लूं, देश को निरापद न कर लूं, सम्पूर्ण देश को एक सूत्र में न बाध लूं ? तब तक मैं अन्य किसी बन्धन से मुक्त रहूंगा ।

मधुमती - तो हमारी राजनन्दिनी आपके संकल्प-सिद्धि में बाधक न होगी । यौधेय महाराज महासेनापति की इसमें सहमति है, महाराज ।

समुद्रगुप्त - मैं महान बन्धन में बंधा हूं भद्रे ।"[1]

इस कथन में उदात्तीकरण का परिष्कार हुआ है ।

जगदीशचन्द्र माथुर ने 'शारदीया' में खर्दा युद्ध के परिपार्श्व में बायजाबाई तथा नरसिंहराव के प्रेम की अनूठी कहानी प्रस्तुत की है । एक दृश्य में बायजा और सरना में आत्मीयतापूर्ण वार्तालाप चल रहा है । सरना बायजा से कहती है -

> "मैंने बहुत दिन निबाहा । जब तक जीवित रहूंगी अपनी बाईसाहब की स्मृति का सबल धारे रहूंगी, पर इस घर की दीवारें मानो मुझ पर संदेह की दृष्टि डाल रही हैं । फटकार और मारपीट सह लूं, पर यह संदेह, यह शक ! मेरा मन थक गया है, बाई साहब ।"[1]

इस सम्भाषण से सरना के भय एवं चिन्ता की जानकारी मिलती है । इस नाटक के संवाद संक्षिप्त, स्वाभाविक, प्रभावशाली और ओजमय है । यथा -

बायजा. - तुम नहीं जानते नरसिंह के मेरे ऊपर क्या बीती है !

---

1. सम्राट समुद्रगुप्त डॉ. दशरथ ओझा, पृ.-30 ।

किन आकांक्षाओं के यज्ञ में आहुति बनाई गई हूं ।

नरसिंह - लेकिन सिन्धिया महाराज ने तुम्हारे ही लिए क्यों हठ किया ?

बायजा. - रूपासक्ति, जिसे वह प्रेम कहते हैं ।"[1]

इन संवादों में अन्योन्य क्रिया विश्लेषण पद्धति परिलक्षित होती है ।

इनके नाटकों की भाषा सरल और पात्रों के अनुकूल हैं । इस नाटक में सृजनात्मक चिन्तन एवं अन्तप्रेरणा का यथोचित परिष्कार होता है ।

डॉ. धर्मवीर भारती का काव्य-नाटक 'अंधा-युग' महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का आधार लेकर इस नाटक में युद्धोपरान्त उत्पन्न बाह और आन्तरिक समस्याओं का मानवीय स्तर पर विवेचन किया गया है । युद्ध से उत्पन्न होने वाली मूल्यहीनता, अमानवीयता, विकृति, कुण्ठा और वैयक्तिक तथा सामूहिक विघटन का सजीव चित्रण किया है । निस्सन्देह 'यह कथा उन्हीं अन्धों की है' परन्तु मूलतः - 'यह कथा ज्योति की ही है अन्धों के माध्यम से ....।"[2] इस गीति-नाट्य के अधिकांश पात्रों - युयुत्सु, संजय, गान्धारी, धृतराष्ट्र आदि सभी में भयानक मानसिक द्वन्द्व विद्यमान है । युयुत्सु आधुनिक आचरण के विभ्रमों का प्रतीक है, जिसका अन्तिम निष्कर्ष हैं - यथा -

"अन्तिम परिणति में
दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का ।"न3स

अंधा-युग की भाषा, उसका काव्य नई कविता की शक्ति के द्योतक हैं, परन्तु कहीं-कहीं गहन नाट्य परिस्थितियों का चित्रण करने मे मुक्त-छन्द समर्थ नहीं हो पाता और लगता है जैसे पात्र अपनी बात पूरी तरह नहीं कह पा रहे - वे जैसे अपने कथन से

स्वयं संतुष्ट और तृप्त नहीं हैं । इसके संवादों में विशिष्ट स्वभाव वाले पात्रों की पात्रता और निजता प्रकट कर पाने की भी प्रभावशाली क्षमता नहीं है ।

डॉ. लक्ष्मीनारायणलाल स्वतंत्रता के उपरान्त परंपरा को आत्मसात करके और पश्चिमी नाट्य साहित्य के गम्भीर और महत्वपूर्ण तत्त्वों को गहरे में पचाकर हिन्दी नाटक के लिए नवीन राहों का अन्वेषण करने वालों में महत्वपूर्ण स्थान हैं । इनके 'अंधा कुआं', 'दर्पण', 'मादा केक्टस' आदि नाटक लिखे - 'अंधा कुआं' नाटक में लाल जी ने ग्रामीण जीवन के परिवेश में आर्थिक विपन्नता के कारण उत्पन्न होने वाले सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है ।

डॉ. लक्ष्मीनारायणलाल के प्रसिद्धि प्राप्त नाटक 'मादा कैक्टस' का विशिष्ट स्थान है । इस नाटक में एक ओर प्रणय और दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व तथा अपनी कला के बीच चित्रकार अरविन्द किस प्रकार अपनी पत्नी सुजाता और मित्र एवं शिष्या आनन्दा के जीवन को निस्सार तथा निरर्थक बना देता है, इसका हृदय-स्पर्शी चित्रण हुआ है । इस नाटक में यौन नैतिकता के बदलते मूल्यों को रेखांकित करने का प्रयास है । इस नाटक के संवादों में पुराने और नये मूल्यों का संघर्ष पाते हैं -यथा -

> दद्दा - सोशल स्ट्रक्चर पर विश्वास नहीं । सारे ट्रेडेशिन को आपने तोड़ा । पुराने मोरल वेल्यूज को आपने ठीकरा समझ लिया फिर आपके पास क्या है जिसके सहारे आप जियेंगे और अपनी कलाकृतियां तैयार करेंगे ।"

नये पुराने संघर्ष के साथ ही मूल प्रश्न यह भी उठाया गया है कि नर-नारी की निकटता विवाह के कवचों में ही मर्यादित और सुरक्षित है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नारी-संसर्ग की तीव्र लालसा उसे वंशानुक्रम से प्राप्त हुई है परन्तु 'विवाह' के प्रति उसके मन में एक भय समा गया है । दद्दा से उसका यह कथन इसका प्रमाण है -

> "मैं फिर विवाह नहीं करना चाहता । आपने तीन विवाह किए थे । मां के स्वर्गवास के चार ही महीने बाद आपने दूसरी शादी की थी उसे हंटरों से मारते थे आप । फिर उसी के सीने पर आपने तीसरी शादी भी की । भाग्यवश

एक-एक करके दोनों मर गईं ।"[1]

यह सम्भवतः हिन्दी का प्रथम नाटक है जिसमें चरित्रांकन के लिये प्रतीक, संगीत और प्रकाश का इतना अधिक सार्थक प्रयोग किया गया है । इस नाटक में शिल्प के प्रायः सभी उपकरण चरित्रांकन के लिये अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयुक्त हुए हैं ।

आर्थिक विषमता की समस्या का आधार बनाकर भी समस्या नाटक लिखे गये । ऐसे नाटकों में भगवतीचरण वर्मा का 'तुम्हें रूपया खा गया ' और रामनरेश त्रिपाठी का 'पैसा परमेश्वर' प्रसिद्ध हैं । यथा - इन्कम टैक्सवालों ने चालीस लाख रूपये का नोटिस दिया है । इस कारण मदन और मानिकचन्द की स्त्री चिन्ताग्रस्त अवस्था में मानिकचन्द से सेफ की चाभी मांग रहे हैं । मानिकचन्द जीवितावस्था में चाभी देना अस्वीकार कर देता है । किशोरीलाल मानिकचन्द को तिजोरी की चाभी देने की सलाह देता है । किन्तु मानिकचन्द उससे कहता है - "नही किशोरीलाल, तुम अपना रूपया वापस ले लो और अपने अभिशाप से मुझे मुक्त कर दो ।"

किशोरीलाल - किस-किसके अभिशाप से मुक्त होते फिरोगे, मानिकचन्द ! तुम अभिशाप को गलत समझ रहे होगे । तुम्हारे ऊपर मेरा अभिशाप नहीं, अभिशाप रूपये का है ।..तुम्हारी सुख शांति अर्थ के पिशाच ने तुमसे छीन ली, तुम्हारा सन्तोष उसने नष्ट कर दिया । उस दिन जब तुम दस हजार रूपया चुराकर लाए थे, तब तुमने समझा था कि तुम रूपया खा गए...लेकिन तुमने बहुत गलत समझा था ।

मानिकचन्द - मैंने गलत समझा था ।

किशोरीलाल - हां, तुमने गलत समझा था । मैं कहता हूं कि तुमने इस रूपया नहीं खाया था, रूपया तुम्हें खा गया ।"[2]

इस नाटक के संवादों से स्पष्ट होता है कि अर्थ-पिशाच मनुष्य की ममता, दया, प्रेम आदि कोमल भावनाओं का गला घोंट देता है और मानव की मानवता को खा जाता है ।

---

1. मादा कैक्टस, पृ. -48 ।
2. तुम्हें रूपया खा गया : रामनरेश त्रिपाठी ।

राजेन्द्र शर्मा का 'रेत की दीवार' नामक नाटक में विवाह की समस्या को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखा गया है । एक आधुनिक वर्ग है, जिसके प्रतिनिधि हैं, अशोक, नरेन्द्र और रेखा । प्राचीन के पक्षपाती हैं सुरेन्द्र, छुनियां, गुलाबराय । उन्मुक्त प्रेम का आसक अशोक नवयुवक कहता है - "मैं अपनी उन्नति के रास्ते में विवाह की दीवार नहीं खड़ी कर सकता ।" अशोक का मित्र नरेन्द्र तो यहां तक ललकारकर कहता है - "मैंने तो अपने पिताजी को अल्टीमेटम दे दिया है कि शादी करूंगा तो कमला से ।" नवयुवती रेखा कहती है "विवाह की वेदी पर स्त्री को स्वतंत्रता की बलि चढ़ानी पड़ती है । कमला कहती है "मेरी मां मुझे नरक में ढकेलना चाहती है । पर मैं अब इस झूठे रिश्ते पर अपने छोटे प्रेम का बलिदान नहीं करूंगा । प्राचीन विचारकों के उपासक श्री सुरेन्द्र आधुनिकतावादी स्वच्छन्द प्रेमोपासक अशोक का विरोध करते हुए कहते हैं "विवाह आवश्यक है । स्त्री पुरूष की लाठी है, सहारा है ।" इस प्रकार इन संवादों में दो विरोधी विचारों का संघर्ष परिलक्षित होता है ।

इसी दौर के दो अन्य महत्वपूर्ण नाटक है नरेश मेहता का 'सुबह के घंटे' और लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'आदमी का जहर' । इन नाटकों में भी मादा कैक्टस की भांति कलाकार के व्यक्तित्व-संघटन की समस्या उठाई गई है ।

विष्णु प्रभाकर का बहुचर्चित नाटक 'डाक्टर' भी उल्लेखनीय है,। विष्णु प्रभाकर रंगमंच के बढ़ते हुए आन्दोलन से प्रभावित होकर रंगमंचीय नाटकों के सृजन में प्रवृत्त हुए हैं । मन्नू भण्डारी का 'बिना दीवारों का घर' नाटक में एक पढ़ी-लिखी लड़की की बढ़ती हुई लोकप्रियता और प्रमुखता से पति की ईर्ष्या, खोज और अन्ततः पत्नी के गृहत्याग का बड़ा ही आत्मीयतापूर्ण चित्र प्रस्तुत किया गया है ।

आलोक शर्मा का 'चेहरा का जंगल' एक संवादहीन नाटक है जो अपने आप में एक प्रयोग है तथा संवादहीन नाटक के लिस संभावना भी देता है ।

सावित्री के संवाद मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' की स्थिति को उजागर करते हैं -

सावित्री - एक दिन....दूसरा दिन, एक साल....दूसरा साल, कब
तक....क्यों, घर दफ्तर, घर दफ्तर...सोचो चो,

चख चख...किट किट...क्या सोचो...कुछ मत
सोचो, होने दो, जो होता है ।"[1]

उपर्युक्त संवाद से स्पष्ट है कि कुल मिलाकर मोहन राकेश का 'आधे-अधूरे' नाटक की महत्वपूर्ण उपलब्धि है जीवन की विरूपता का चित्रण ।

वैसे तो मोहन राकेश ऐतिहासिक नाटकों के लिए प्रसिद्ध हैं । ऐतिहासिक नाटकों में 'आसाढ़ का एक दिन' और 'लहरों का राजहंस' प्रसिद्ध है । 'आसाढ़ के एक दिन' के संवादों में पात्रों के मनोवेगों का उतार-चढ़ाव यथार्थ रूप में चित्रित हुआ है । ये छोटे-छोटे, चुस्त और गठीले हैं । उदाहरणतया -

मल्लिका - मां !
अम्बिका - इसके मन में यह कल्पना नहीं है क्योंकि यह भावना के स्तर पर जाती है । इसके लिए जीवन में....
मल्लिका - तुम उठ क्यों आयी मां ? तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है । चलो चल कर लेट जाओ ।"[2]

यहां कथनों में संवेगात्मक विकास का परिचालन हुआ है । इस नाटक पर सौन्दर्यात्मक कल्पना तथा प्रेरकीय मनोविज्ञान का गहरा प्रभाव है ।

नाटककार मोहन राकेश ने 'लहरों के राजहंस' (1963) नाटक में नंद और उसकी पत्नी सुन्दरी के मन का अर्न्द्वन्द्व का यथार्थ रूप में चित्रित किया है । इस नाटक के प्रधान पात्र हैं नन्द और सुन्दरी ।

सुन्दरी के मन में नन्द के बारे में शक आता है । इस समय का एक वार्तालाप द्रष्टव्य है । यथा -

---

1. आधे-अधूरे, मोहन राकेश, पृ.-78-90 ।
2. आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश, पृ.-79 ।

सुन्दरी - आप उस समय यह नहीं सोच रहे थे कि भिक्षुओं की मण्डली में शायद वे भी होंगी,.....शायद आपसे भिक्षा लेने के लेने ही वे इस द्वार पर रुकी होंगी ?

नन्द - मै तो नहीं, पर लगता है तुम यह बात सोच रही थी । इसीलिए तुम्हे लगा कि शायद मैं भी. ..।"[1]

इस कथन मे स्थानान्तरण की अभिव्यक्ति हुई है । इस नाटक के संवाद संयत, गतिशील, सरल, मार्मिक और प्रभावपूर्ण बन पड़े हैं । उदाहरण के तौर पर -

सुन्दरी - और आपने इसकी चर्चा तक मुझसे करना आवश्यक नहीं समझा ?

नन्द - मैं तुम्हारे उत्साह मे बाधा डालना नहीं चाहता था । सोचा था कि इनमें से अधिकाश लोग एक बार जाकर कहने से....

सुन्दरी - कितना मान होता मेरा कि जाकर कहने से जो लोग आते, उनका मुझे इस घर में स्वागत करना पड़ता ! आपने यह नहीं सोचा कि मैं....कि मैं....।"[2]

इन संवादों से ज्ञात होता है विषम परिस्थिति के कारण सुन्दरी का आत्मसम्मान जाग उठा है । इस नाटक में मनोविश्लेषण का अत्यधिक प्रभाव है ।

प्रसादोत्तर काल में इब्सन तथा बर्नार्ड, शॉ के अतिरिक्त कई अन्य यूरोपीय नाट्यकारों की कृतियों का भी अनुवाद हुआ । मारिस मेटरलिंक के नाटकों का हिन्दी अनुवाद 'सरस्वती' के सम्पादक बख्शी जी ने किया । उनके दो नाटक 'सिस्टर बीट्रिस' और 'दी यूजलेस डेलिबरेन्स' का मर्मानुवाद 'प्रायश्चित' और उन्मुक्ति का बन्धन' नाम से हुआ । 'प्रायश्चित' नाटक में अलौकिक तत्त्व की प्रधानता है ।

आधुनिक नाटकों में 'गान्धारी' एक प्रसिद्ध नाटक है । चतुरसेन शास्त्री इस नाटक में नारी समाज का ध्यान पतिव्रत धर्म की ओर खींचते हैं । पतिव्रता गान्धारी सखियों से

---

1. लहरों के राजहंस, मोहन राकेश, पृ.-90 ।
2. लहरों के राजहंस, मोहन राकेश, पृ.-58 ।

अपनी आंखों पर पट्टी बांधने का आग्रह करती हुई कहती है -

> "जब वे विश्व को चर्मचक्षुओं से देखने में अक्षम है तो मैं भी उसका आनन्द लाभ लेने की अधिकारिणी नहीं । स्त्री पति की अर्धांगिनी है, वह पति के सुख-दुख जीवन-तप सभी बातों में आधे की भागीदार है । सखी, यह पट्टी मेरी आंखों पर बांध दो ।"[1]

यह कथन यह स्पष्ट करता है कि आज के पौराणिक नाटक भी युग-समस्या के समाधान का प्रयास करते हुए समाज का नैतिक तथा धार्मिक स्तर ऊंचा करना चाहते हैं ।

इस युग के गीति नाट्यों की संख्या शताधिक पहुंच चुकी है । गीति नाट्यों 'दिनकर' का 'उर्वशी' नाटक सर्वश्रेष्ठ माना जाता है ।

हिन्दी नाटक के क्षेत्र में अभी तक जो कार्य हुआ है उसका निरीक्षण करने से एक तथ्य सामने आ जाता है, कि पिछले वर्षों में हिन्दी नाटक ने अपनी निरर्थकता और कलाहीनता के घेरे को तोड़कर उल्लेखनीय सर्जनात्मक स्तर प्राप्त करने की दिशा में कदम बढ़ाया है । समस्त प्रसादोत्तर हिन्दी नाटकों की मूल प्रवृत्ति समस्या नाटकों की है । समस्या नाटक यथार्थवादी नाट्य-धारा की एक विशिष्ट शैली है । सम्प्रति नवीन बौद्धिक, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक चिन्ताधारा के संघात से जीवन की परिस्थितियां बदली हैं जिन्होंने नाटककार की दृष्टि को अतीत से हटाकर वर्तमान के प्रति निबद्ध कर दिया है । समस्या नाटक किसी परिवर्तित परिस्थिति की उपलब्धि है ।

प्रसादोत्तरकालीन प्रहसन नाटक और संवाद

1935 ई. के बाद देश में अनेक उपथ-पुथल होती रही हैं । अंग्रजी शासन की बर्बरता और तानाशाही वृत्ति के खिलाफ कवियों ने विरोध का स्वर आरंभ किया । नाटकों में पात्रों के माध्यम से तत्कालीन ब्रिटिश शासन की अनियमितताओं पर कटाक्ष प्रारंभ हुआ । आधुनिक युग हास्य-व्यंग्य का स्वर्ण युग माना जाता है । आधुनिक युग के हास्यप्रिय नाटककारों ने सिनेमा के अन्धभक्त, फैशनपरस्त, शिक्षित बेकार, स्वार्थी नेताओं तथा नारियों

---

1. चतुरसेन शास्त्री : गांधारी, पृ.-17 (संवत् 2007 वि.) ।

का, आलम्बन लेकर नाटको की रचना की । सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए कठोर और मृदु व्यंग्यों का सहारा लिया गया ।

हरिशंकर शर्मा आधुनिक युग के प्रमुख व्यंग्यकार हैं और परिहास सम्मेलनों के जन्मदाता हैं । उन्होंने 'चिड़ियाघर' नामक प्रहसन की रचना की । इस नाटक में 1. चहचहाता चिड़ियाघर, 2. पशुपक्षियों का पार्लमिन्ट, 3 भारतीय मुछमुन्ड मंडल, 4. स्वर्ग की सीधी सड़क आदि प्रहसन सग्रहीत हैं ।

'चहचहाता चिड़ियाघर' में विभिन्न पक्षियों का प्रतीक प्रस्तुत किया है । पक्षियों के माध्यम से कवियों एवं उपदेशकों पर तीखा व्यंग्य प्रस्तुत किया है । चिड़ियाघर के सभापति गरूड़देव जो कवि और कारण्डव की प्रशंसा करते हुए कहते हैं -

> "भाई बस, इस आधुनिक युग में आप ही एकमात्र कवि हैं । बिराजिये, इस समय शीघ्रता है । आपकी 'पद्य पाठन्त' के लिए तो पूरे पांच घन्टे दिये जायं, तब कहीं श्रोतृ समुदाय की संतृप्ति हो । ओ हो ! आपकी कविता क्या है, 'फायर ब्रिगेड' का इंजन या तूफान, ट्रेन का भोंपू है । धर्म जिस पर जगत स्थिर है, उसके आप जैसे परम प्रवीण प्रचारक धन्य हैं ।"[1]

इस कथन से स्पष्ट है कि ऐसे कवि प्रायः हर सम्मेलनों में मिल जाते हैं ।

'स्वर्ग की सीधी सड़क' नाटक में संवाद हास्य का अविरत उदाहरण प्रस्तुत करने में सक्षम है । इस नाटक में समाज का सजीव चित्रण किया गया है । हिन्दी प्रचारकों द्वारा अंगरेजी पढ़ने पर व्यंग्य किया गया है । इसमें वार्तालाप के माध्यम से विचित्रानन्द द्वारा तत्कालीन विकृतियों पर व्यंग्य किया गया है ।

"मैं - नेता किसे कहते हैं ?
बाबा - जो सदैव अपने ही व्यक्तित्व का ध्यान रखता है और अपनी ही बात चलाता है । लोकमत का तनिक भी

---

1. हरिशंकर शर्मा : चिड़ियाघर, पृ.-13 ।

आदर नहीं करता ।

मैं - स्वराज्य कब मिलेगा ?

बाबा - जब भारत में एक भी हिन्दुस्तानी न रहेगा, सर्वत्र अंगरेज ही अंगरेज छा जायेंगे ।

मैं - आध्यात्मिक ज्ञान की सर्वोत्तम पोथी कौन सी है ?

बाबा - आल्हा ऊदल के सांग, आधुनिक रामायण और भौंगा भजनीक का भजन-तमंचा ।"[1]

इस नाटक में वचन वैदग्ध्य के माध्यम से हास्य की सृष्टि की गई है । धर्म, कला, दर्शन इत्यादि पर व्यंग्य किया गया है ।

आधुनिक नाटककारों में उपेन्द्रनाथ अश्क प्रमुख हैं । हास्य-व्यंग्य के क्षेत्र में उनका 'पर्दा उठाओ-पर्दा गिराओ' सात एकांकी नाटकों का संग्रह है । इस नाटक में अव्यावसायिक नाटक करनेवालों की कठिनाइयों का चित्रण किया गया है । सदस्यों द्वारा फ्री पास प्राप्त करने की संकुचित मनोवृत्ति पर व्यंग्य किया गया है । यथा -

मानसिंह - चोबदार.....चोबदार.....।

किशुन - (राजा मानसिंह की तरह अकड़कर प्रवेश करता है और इसी अदा में भूल जाता है कि उसे 'जी महाराज' कहना है ।) जो आदेश (निकट आकर) जो आदेश....।

मानसिंह - (किशुन की इस हरकत पर भ्रूभंग करके) बता मालती कहां है ?

किशुन - (इस घबराहट में कि उससे कुछ गलती हो गई है, संवाद भूल जाता है) जो आदेश.....।

प्राम्पटर - (पुस्तक हाथ में लिये संकेत करता है) मालती को महारानी ने भूगृह में बन्द करने का आदेश दिया है ।

किशुन - (देखता है कि प्राम्पटर कुछ कह रहा है, पर घबराहट में कुछ समझती नहीं) जी महाराज ।
(विंग में दयाराम, भगवन्त और अन्य अभिनेता परेशानी में इकट्ठे हो रहे हैं)

---

1. हरिशंकर शर्मा : चिड़ियाघर, पृ.-199 ।

मानसिंह - (रंगमंच पर) गदहे, हम पूंछते हैं, मालती कहां है ? जी महाराज, जी महाराज रटे जा रहा है । उल्लू कहीं का । बता मालती कहां है ?

किशुन - (क्रोध में अकड़ जाता है) हे देखो, जबानि सम्हारि कै बात करो । बड़े महाराज बने फिरत हैं । देइ का एक रूपिया और शान इतनी गांठत हैं । जाओ नहीं ब न, हम कहित है, गारी देहों तो मालूम होय पै भी न बताउब और उठाकर नीचे फेंक देब ।

(दर्शकों के ठहाके गूंजने लगते हैं)

दयाराम - (घबराहट में) पर्दा गिराओ ! पर्दा गिराओ !!"[1]

इस नाटक के कथन में रामकिशुन हास्य का आलम्बन है । उसके मूर्खतापूर्ण कार्य से उपहासित की सृष्टि होती है ।

उपेन्द्रनाथ अश्क का 'अधिकार का रक्षक' नाटक में मि.सेठ जो एक दैनिक समाचार पत्र के मालिक का व्यंग्यपूर्ण चित्रण है । एक व्यंग्यपूर्ण वार्तालाप का उदाहरण निम्न है -

"मि.सेठ - (अन्यमनस्कता से) मैं आपका सेवक हूं । ये हमारे संपादक हैं, आप कल दफ्तर में जाकर इनको अपना बयान दें । के जितना उचित समझेंगे, छाप देंगे ।

दोनों - (उठते हुए) बहुत बेहतर, कल हम सम्पादक जी को सेवा में उपस्थित होंगे । (नमस्कार)

मि.सेठ और- संपादक नमस्कार ।

(दोनों का प्रस्थान)

मि.सेठ - (संपादक से) यदि कल से आयें तो इनका बयान हरगिज न छापना । प्रिंसिपल हमारे कृपालु हैं और कमेटी के सदस्य हमारे मित्र ।"[2]

---

1. उपेन्द्रनाथ अश्क : पर्दा उठाओ-पर्दा गिराओ, पृ.-42-43 ।

2. उपेन्द्रनाथ अश्क . अधिकार का रक्षक, पृ.-65 ।

ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' आधुनिक युग के हास्य नाटककारों में प्रमुख हैं । उनका हास्यरस प्रधान एकांकी संग्रह 'हजामत' है जो सन् 1940 में प्रकाशित हुआ था । इस नाटक में मुन्शी हुरमत राय का चरित्र-चित्रण है । सब्जी बेचनेवाले जब मुन्शी की इच्छा के प्रतिकूल मूल्य लेते हैं तो उन्हें भी आलोचना करने की धमकी देता है । सब्जी देने के बाद जब सब्जी वाली पैसा मांगती है उस समय का वार्तालाप हास्य को सफल सृष्टि करता है -

"बमक - (नाराज होकर) तो क्या मैं चोर हूं ? जानती नहीं मैं कौन हूं ? मैं तेरी आलोचना कर दूंगी समझी ।

उजियारी - आलू, चना तो मेरे पास हैं सरकार, आपके कहने की जरूरत नहीं है । हां छः पैसे की तरकारी आपने ली है ।

बमक - (बिगड़कर) अरे आलोचना ! आलोचना !! आलोचना!!! कुछ पढ़ी-लिखी भी है या नहीं है ? चार पैसे का मैंने तरकारी ली, कहती है छः पैसा ! अगर छः पैसे की लेनी थी तो चार पैसे घर से लेकर चलता ही क्यों ? क्या मैं बेवकूफ हूं ।"[1]

डॉ. रामकुमार वर्मा के अधिकतर एकांकी ऐतिहासिक और सामाजिक कथावस्तु लेकर लिखे गए हैं । 'रिमझिम' इनका सोलह एकांकियों का संग्रह है जिसमें हास्य-व्यंग्य की प्रधानता है ।

इस संग्रह में 'पृथ्वी का स्वर्ग' नाटक में विनोद का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है । सेठ दुलीचन्द इतना लालची है कि उसके चरित्र से ही विनोद की झड़ी लग जाती है । वह भिखारिन को दिए गये दुशाले को भी ले लेता है -

"अचल - चाचा जी, माफ कीजिये ।

दुलीचन्द - तेरी माफी गई भाड़ में । बुला उस भिखारिन को । हाय ! (रोता है ।)

अचल - मुझे क्या पता कि वह भिखारिन कहां गई और मैं नहीं जानता था कि वह दुशाला आपको इतना प्यारा है ।

---

1. ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' : 'हजामत', पृ.-42 ।

आपने ही तो कहा था कि पुराने कपड़े हैं और तुम्हारे लिये....।

दुलीचन्द - तेरे बाप के लिये, गधे...नालायक....बड़ा सीधा बनता है । समझा न ? अरे देना था तो कोई दूसरा कपड़ा देता ? वही दिया, हरा दुशाला ! हाय दुनियाभर मुझे लूटने में जुटी है ।

अचल - भिखारिन का बच्चा मर रहा था चाचा जी ।

दुलीचन्द - (चीखकर) अरे कल मरने को हो तो आज मर जाय ! और साथ-साथ तू भी मर जा ! (रोते हुए) हाय ! मेरा हरा दुशाला ।"[1]

इस संग्रह में रेशमी टाई, रंगीन स्वप्न, फैल्ट हैट, रूप की बीमारी, नमस्कार की बात आदि प्रसिद्ध प्रहसन नाटक हैं ।

उपर्युक्त इन नाटकों के अतिरिक्त हरिकृष्ण प्रेमी का 'विषपान', जगदीशचन्द्र माथुर का 'ओ मेरे सपने',उदयशंकर भट्ट का 'नया समाज' भी प्रसिद्ध नाटक है ।

भगवतीचरण वर्मा का 'दो कलाकार' स्मित का उदाहरण प्रस्तुत करता है । मार्तण्ड और चूड़ामणि अपने एक-एक कार्य से किराया चुकता सिद्ध करते हैं । बुलाकीदास तथा कलाकारों का वार्तालाप हास्यात्मक है ।

"बुलाकीदास - अजी वाह ! इतने जरा-जरा से काम के रूपये ? वह तो आपने अपनेपन में कर दिया था ।

मार्तण्ड - (तसवीर बनाता आ) हमने काम तो किया आप बिना काम किये रूपये मांगते हैं ।

चूड़ामणि - (लिखता हुआ) और आप भी अपनेपन में किराया जाने दीजिए ।

बुलाकीदास - आप लोग अजीब तरह के आदमी हैं । अच्छा यह चार महीने का किराया हुआ । अब दो महीने का किराया दीजिए और मकान खाली कीजिए ।

---

1. डॉ. रामकुमार वर्मा, रिमझिम, पृ.-50 ।

चूड़ामणि - (घूमकर) संसार का एक महाकवि आपके इस चिड़ियानुमा मकान में रहा - पांचवे महीन का किराया यह अदा हुआ ।

मार्तण्ड - (घूमकर) संसार का एक श्रेष्ठ चित्रकार आपके इस जानवरों के रहने के काबिल मकान में रहा, छठे महीने का किराया यह अदा हुआ ।"[1]

इस कथन से स्पष्ट होता है कि वर्मा जी ने दो कलाकारों के माध्यम से प्रकाशकों और रईसों पर स्मित हास्य प्रकट किया है । हास्य में शिष्टता और मधुरता है । उच्छृंखलता का अभाव है ।

विष्णु प्रभाकर का 'रसोईघर में प्रजातंत्र' एकांकी में हास्य की संयोजना की गई है । 50 सदस्यीय परिवार में 'भोजन की किस्म' पर लड़ाई होती थी । रामलाल अपने घर की इस व्यवस्था को अपने मित्र श्यामनाथ से बताते हैं । उसी समय रसोइया बैंगन की पकौड़िया लाता है । रामलाल और रसोइया के वार्तालाप में क्रोधजन्य हास्य की सृष्टि होती है-

"रसोइया - जी आज बैंगन की पकौड़ियां बनाइन है ।

श्यामनाथ - (आग बबूला) बैंगन की पकौड़ियां, क्या बकता है । गुस्ताख बदतमीज । क्या तुझे नहीं मालूम है कि मैं बैंगन नहीं खाता ।

रसोइया - हम तो जानत रहिन, सरकार मुदा बकसवा में जो परचा निकलन वे नहीं जानत ।"[2]

देवराज 'दिनेश' वर्तमान नाटककारों में विशिष्ट स्थान रखते हैं । उनके अनेक हास्य-व्यंग्यपूर्ण एकांकी पत्र-पत्रिकाओं में बराबर प्रकाशित होते रहे हैं । 'बटुएं', 'पास-पड़ोस', 'बिना बुलाए पंच', 'बुरे फंसे मेहमान' आदि प्रहसन नाटक लिखे हैं । इनके पास-पड़ोस नाटक में अशिक्षित ग्रामीण नारियों का चित्रण हुआ है । ग्रामीण नारियां किस प्रकार आपस में झगड़ा करती हैं उसी का हास्यात्मक वर्णन इस एकांकी में हुआ है ।

---

1. भगवतीचरण वर्मा : दो कलाकार, पृ.-72-73 ।
2. विष्णु प्रभाकर : रसोईघर में प्रजातंत्र, पृ.-260 ।

पडोसियों को उन औरतों से काफी परेशानी होती है । नारियों की लड़ाई' के परिणामस्वरूप हास्य की सृष्टि होती है -

"एक औरत- मेरे मरे तो क्या तेरे न मरें ।
दूसरी - मरे तेरे । मेरे क्या तेरे घर खाना खाने जाते हैं, रांड़ ! जो इन्हें फूटी आखों भी नहीं देख सकती ।
पहली - आंखें फूटे तेरी, तेरे घरवालों की, सतखसमी जब देखो तब भौंकती रहती है । देखती कैसे हैं आंखें फाड़कर जैसे खा ही जायेगी ।
दूसरी - झुलस दूंगी तेरा मुंह, जो ज्यादा बातें की तो आ लेने दो तनिक शाम को मेरे कालूराम को ।
पहली - मरा, तेरा कालूराम, मार-मार जूते सिर न गंजा कर दूं तो कहना, उसको भी औरतों की लड़ाई में बोलने का बड़ा शौक है, जनाना कहीं का ।"[1]

धर्मदेव चक्रवर्ती का 'नाक का बाल' एक प्रहसन है । इसमें एक सेठ को आलम्बन बनाकर हास्य की सृष्टि की गई है । सेठ जी सिर दर्द के दिनों में उपवास करते हैं । उपवास में उनके खाने की वस्तुएं हास्यात्मक हैं ।

"स्वामी - (सेठानी से) माता जी, आजकल क्या कुछ खाते हैं सेठ जी ?
सेठ - कुछ भी तो नहीं खाया जाता.....अच्छा इन्हीं से पूछ लो ।
सेठानी - रोज सबेरे दो कचौड़ी, एक प्लेट हलवा बादाम, एकाध मालपुआ और मलाई का डेढ़ पाव दूध ।
स्वामी - हे भगवान ! फिर तो सचमुच सेठ जी आजकल उपहास ही करते होंगे ।"[2]

चक्रवर्ती के इस कथन में हास्य के साथ व्यंग्य का भी प्रयोग किया है ।

---

1. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, पृ.-10 ।
2. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, पृ.-10 ।

मोहन राकेश ने 'कप' एकांकी में लाहौर के कर्फ्यु के माध्यम से हास्य की अवतारणा की है । जयनाथ नलिन भी हास्य नाटककार की दृष्टि से वर्तमान समय में बहुचर्चित एकांकी लेखक हैं । उन्होंने 'संवेदना सदन' एकांकी में हास्य-व्यंग्य एवं वाक् वैदग्ध्य का उत्कृष्ट निर्देशन किया है ।

शैलेश मटियानी का 'गांव का पोस्टमैन' एकांकी इतिहास का सफल पयोग है । इस नाटक में ग्रामीण डाकिया का चित्रण है । पौस्टमैन सुजान सिंह के घर जाकर उसकी पत्नी को पत्र देता है । पत्नी रामप्यारी उसे पढ़ देने का निवेदन करती है । पोस्टमैन के पत्र पढ़ने पर रामप्यारी गाली देने लगती है । पोस्टमैन और रामप्यारी की वार्ता हास्यपरक है -

पोस्टमैन - (अनिच्छापूर्वक पढते हुए) लिखा है "चिट्ठी लिखी शोग की, ग्राम फूलपुर से लिखी ठाकुर सुमिरन सिंह ने सुलतानपुर वाले ठाकुर सुजान सिंह और अपनी बहन सिरीमती बड़ी मजबूरी से और भाग की कमनशीबी से लिखा, कि हमारे पिता जी ठाकुर परम पूज राम खिलाबन सिंह का स्वर्गवास हो गया ....।

रामप्यारी - (एकदम घूंघट हटाते हुए) अरे कल मुंहे, सुरगवास हो जावे तेरे बाप का !...अरे मेरे बप्पा ने तेरा क्या बिगाड़ा रे नाश पिटे ! (माथा ठोंकते हुए)...अरे पिछले बरस मैके गई थी तो अच्छे भले थे रे, मेरे बप्पा...हाय री दैया, ये क्या बजर गिरा दिया रे इस सत्यानाशी पोस्टमैन ने मेरे सिर पर ।"[1]

मटियानी जी ने ग्रामीण सभ्यता का चित्रण किया है । ग्रामीण जीवन में पोस्टमैन किस तरह अपना कार्य सचालन करता है । शैलश के हास्य में मृदुता है । परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण करने मे उनकी लेखनी समर्थ है ।

स्वदेश कुमार का 'शादी की बात' कटु व्यंग्यपूर्ण एकांकी नाटक है । इसमें शादी के अवसर पर अपनी भावी पत्नी को देखने वाले लोगों पर व्यंग्य किया है । इनके हास्य में सहजता है । वर्तमान हास्यकारों में स्वदेश कुमार के हास्य मे मधुरता है । उनका शब्दगत कम अथगत अधिक है । हास्य-व्यंग्य भावानुकूल है ।

---

1. प्रतिनिधि हास्य एकांकी, पृ.-337 ।

आधुनिक नाटकों में वर्तमान परिस्थितियों का चित्रण अधिक मिलता है । नाटकों में सामाजिक विकृतियों को उभारा गया है । 1947 ई. के पश्चात के नाटकों में दैनिक विकृतियों का आश्रय लेकर पाश्चात्य कामेडी के अनुसार हाव्य-व्यंग्य का प्रयोग किया गया है । इस काल में हास्य का एक सार्वभौमिक रूप सामने प्रस्तुत किया गया । इसीलिए मैं इस काल को हास्य-व्यंग्य का स्वर्ण युग मानता हूं ।

नया नाटक और संवाद

स्वतन्त्रता के पश्चात् नये लेखकों न पुरानी परंपरा का निर्वाह न कर नयी दृष्टि, नयी वस्तु एवं नये शिल्प का प्रयोग करते हुए कतिपय नूतन परंपराओं का प्रवर्तन किया है जो इस प्रकार है - सामाजिक सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित, व्यक्तिवादी चेतना से अनुप्राणित और राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित इत्यादि ।

सामाजिक सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित नाटकों में जगदीश चन्द्र माथुर ने कोणार्क (1951), पहला राजा (1969), दशरथनन्दन (1974) आदि में आदर्शोन्मुखी दृष्टि से सामाजिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा के लिये प्रयास किया है । विष्ण प्रभाकर ने डाक्टर (1958), युगे-युगे क्रांति (1969), टूटते परिवेश' आदि नाटकों में पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की कतिपय समस्याओं को चित्रित किया है । नरेश मेहता ने सुबह के घण्टे (1956), में आधुनिक विशेषत. दलीय प्रजातत्र प्रणाली की विषमताओं का उद्घाटन किया है ।

व्यक्तिवादी चेतना से अनुप्राणित नाटकों में मोहन राकेश ने आषाढ़ का एक दिन (1958), लहरों का राजहंस (1963) और आधे-अधूरे (1969) में व्यक्ति एवं समाज के द्वन्द्व से उत्पन्न कतिपय स्थितियों का चित्रण विभिन्न कथानकों के माध्यम से किया है । सुरेन्द्र वर्मा ने द्रोपदी (1972), 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' (1975), रमेश वक्षी ने 'देवयानी का कहना है', मुद्राराक्षस ने 'तिलचट्टा' (1973) आदि नाटकों में नये दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है ।

आठवें दशक में राजनीतिक नाटकों में भी नये दृष्टिकोण का अनुमोदन किया गया है । इसमें दयाशंकर सिन्हा के 'इतिहास चक्र' एवं 'कथा एक कंस की', विपिन अग्रवाल का 'ऊंची नीची टांग का जांघिया', सुशील कुमार सिंह का 'सिंहासन खाली है', और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

इसके अतिरिक्त आधुनिक जीवन एवं समाज की विभिन्न परिस्थितियों एवं समस्याओं के चित्रण की दृष्टि से 'तीन युग' (विमला रैना), 'अपनी धरती' (रेवतीशरण शर्मा), 'धरती और आकाश' (शम्भूनाथ सिंह), 'हमलोग' (अमृतराय) आदि रचनाएं भी उल्लेखनीय हैं, लेकिन विगत वर्षों से डॉ. श्रीमती कुसुम कुमार कृत 'दिल्ली ऊंच सुनती है', 'संस्कार को नमस्कार', 'रावणलीला' आदि उल्लेखनीय है ।

सातवां दशक आते-आते स्वतंत्रता का प्रथम दशक समाप्त होने जा रहा था । कहानी व कविता प्रगतिवाद और प्रयोगवाद से हटकर नई कविता व नयी कहानी का नाम धारण कर रही थी । लेकिन अपने युग और समाज की नवीनतम स्थितियों, परिस्थितियों, संवेदनाओं और अनुभूतियों को व्यंजित करने की दृष्टि से हिन्दी का नया नाटक उसकी अन्य सभी विधाओं की अपेक्षा अधिक नवीन एवं अधुनातन है ।

जगदीश चन्द्र माथुर इससे पूर्व ही 'कोणार्क' (1951) में 'नया नाटक' युग ला चुके थे । नया नाटक पश्चिम का अस्तित्ववादी दर्शन साथ लाया । नया नाटक भी प्रगतिवाद के विरोध में खड़ा हुआ । यह नाटक प्रारंभ से ही दो वर्गों में विभाजित था - एक उच्च मध्यवर्गीय रचनाकार मार्क्सवादी से प्रभावित था पर निजी जीवन में स्वय बुर्जुआ था । दूसरा गरीब वर्ग था जो मजदूरी पर जीता था । मार्क्सवादी नाट्यकार पार्लियामेन्ट और सम्पन्न अखबार - समाचार पत्रों के एयर कंडीशन वाले भवनों में बैठकर मार्क्सवाद पर बहस करते रहे । इसके विरूद्ध मार्क्सवादी नाट्यकार भारत भूषण अग्रवाल अन्त में कम्युनिस्ट नहीं रहे । 'तार सप्तक' के प्रथम संस्करण में वह लिखते हैं - "मार्क्सवाद को आज के समाज क लिए रामबाण मानता हूं, कम्युनिस्ट हूं ।" दूसरे संस्करण में लिखते हैं - "कम्युनिस्ट नहीं हूं । अब तो लगता है कि जब कहता था तब भी नहीं था ।"

'नया नाटक' के अनुष्ठान में जिन नवयुवक लेखक वर्ग ने विशेष उत्साह दिखाया, उन्हीं के उत्साह भरे प्रयत्नों का फल - जन नाटक और जनवादी नाट्यधारा । इन नाटकों में नाट्यकार अपने कथ्य का बोध कराने के लिए सांकेतिक भाषा, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक समसामयिक घटना का सहारा लेता है । इस परंपरा में यशपाल, सर्वेश्वर दयाल, भीष्म साहनी, हबीव तनवीर के कतिपय नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं । हबीव का 'आगरा बाजार', सर्वेश्वर दयाल का 'बकरी', भीष्म साहनी का 'कबिरा खड़ा बाजार में' विशेष नाटक हैं ।

'कबिरा खड़ा बाजार में' (प्रथम प्रदर्शन, अप्रैल 1981) नाटक में भीष्म साहनी ने कबीर के सत्रह पदों को धुरी बनाकर आज की विविध राजनैतिक, सामाजिक, और धार्मिक स्थितियों का आरोप कबीरकालीन स्थिति पर किया गया है । इस नाटक में संवादों की भाषा और परिमार्जित हो जाएं तो नाटक अधिक प्रभावशाली बन सकता है । इस नाटक में एक ओर तो धर्म में अविश्वास तथा दूसरी ओर ब्रह्मवादी कबीर का चमत्कार भी नाटककार ने

दोनों में संगति बिठाने का प्रयास किया है ।

एक दृश्य में कबीर को नाटककार ने ब्रेख्त का प्रसिद्ध नाटक 'गैलिलियों' का नायक गैलिलियों माना है । कबीर स्कूल में छात्रों को पढ़ाते समय जोर से यही कहता है -

"पृथ्वी स्थिर है सूर्य घुमता है ।"

फिर धीरे से कहता है -

"यह सब झूठ है । वास्तव मे पृथ्वी धुरी पर घुमती है,
सूर्य स्थिर है ।"

भीष्म जी का यह नाटक और भी प्रभावशाली बन गया होता यदि इसकी संवाद भाषा अनगढ़ जोड़ों वाली न होती । लेकिन इस कृति की मुख्य प्राणदायिनी शक्ति कबीर के संगीतमय पदों में निहित है ।

छठवाँ अध्याय

हिन्दी के एकांकी नाटक : संवाद

हिन्दी एकांकी का जन्म

नाटक की अपेक्षा हिन्दी का एकांकी साहित्य पाश्चात्य परंपरा के सानिध्य में विकसित हुआ है, इसलिए हिन्दी एकांकी का जन्म बीसवीं शताब्दी में हुआ ,। बात यह है कि आधुनिक जीवन की जटिलता तथा सामाजिक एवं व्यक्तिगत समस्याओं के निरंतर बढ़ते हुए द्वन्द्व, अशान्ति एवं अवकाश-कृशता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ऐसे माध्यमों की आवश्यकता पड़ी, जिनसे अल्प समय में ही साहित्य के उद्देश्य की पूर्ति हो सके, कहानी, रेखा-चित्र, निबन्ध तथा एकांकी इत्यादि व इसी प्रतिक्रिया के फल हैं ।

यद्यपि संस्कृत का एकांकी साहित्य अत्यन्त समृद्ध रहा है और उसमें भाव व्यायोग, अंक तथा वीधी आदि रूपकों एवं गोष्ठी, नाट्य रासक, उल्ला, श्रीगठित, विलासिका तथा आदि उपासकों से एकांकी के विविध रूप-विन्यास का भी पता चलता है फिर भी हिन्दी एकांकी की मूल भावना पाश्चात्य एकांकी साहित्य से ही प्रभावित रही है ।

पाश्चात्य देशों में एलिजाबेथ के शासन काल में दुखान्त नाटकों के गम्भीर वातावरण को हल्का बनाने के लिए नाटकों के मध्य में यदा-कदा 'इंटरव्यूड की योजना की जाती थी । कभी-कभी नाटक के अन्त में अल्प आकार वाले आफटरपीसेज भी रखे जाते थे, किन्तु आधुनिक एकांकी का सूत्रपात बीसवीं शताब्दी में एक दूसरे ही स्रोत से हुआ । योरोपीय प्रेक्षागृहों में अभिनय के पूर्व दशकों के मनोरंजन के लिए पट-उत्थापक (कर्टेनरेजर) की व्यवस्था की जाती थी । इससे व्यवस्थापक को अर्थलाभ तो होता ही था, कुछ देर में पहुंचने वाले दर्शकों के लिए भी मुख्य नाटक सुलभ हो जाता था । धीरे-धीरे उन्हीं पट-उत्थापकों के द्वारा ही एकांकी नाटक का जन्म हुआ, क्योंकि इनमें कला का इतना अधिक आधिक्य हो गया कि अपने प्रभाव की दृष्टि से बड़-बड़े नाटकों से टक्कर लेने लगे थे । इस प्रकार एकांकी को नाटक से अलग अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व प्राप्त हो गया ।

हिन्दी मे यदि एक अंक को ही एकांकी शिल्प की उपलब्धि मानी जाय तो भारतेन्दु काल में लिखे गए कई नाटक जैसे 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'नीलदेवी' आदि को एकांकी मानना पड़ेगा । इसी प्रकार पं. बालकृष्ण भटट् रचित 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', रूद्रदत्त शर्मा रचित 'स्वर्ग में सब्जेक्ट मेरी', 'पाखंड मूर्ति', 'अपूर्व सन्यासी' आदि एकांकी ही माने जाएंगे । किन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि एकांकी का वर्तमान रूप जिस जिस शिल्प को ग्रहण कर विकसित हुआ है, उसकी रूप रेखा का श्रीगणेश आगे चलकर हुआ ।

भारतेन्दु के बाद प्रसाद जी का 'एक घूँट' नाटक संवत् 1926 वि. में प्रथम बार प्रकाशित हुआ तो समालोचकों ने एकांकी की संज्ञा की से अभिहित किया । इस एकांकी नाटक को कुछ समालोचक प्रथम एकांकी घोषित करने लगे । डॉ. नगेन्द्र ने कहा - "एकांकी की टेकनीक का 'एक घूँट' में पूरा निर्वाह है, उतना ही जितना कमलकान्त के 'उस पार' में ।" उक्त मत के समर्थक डॉ. सत्येन्द्र का कथन है कि इसमें संस्कृत से कुछ भी नहीं लिया गया, यह निर्विवाद है ।"[1] किन्तु यह वास्तव में संस्कृत के अंकों का ही रूपान्तर प्रतीत होता है । इसका कार्य-व्यापार अत्यन्त शिथिल है, संवाद प्रसाद की काव्यात्मक भाषा, एवं संस्कृत नाटकों जैसी गम्भीरता से युक्त है । संस्कृत नाटकों की परंपरा के अनुसार उसमें विदूषक भी हे साथ ही रसान्विति के समस्त उपकरण विद्यमान हैं । अतः इसे आधुनिक एकांकी की कोटि में नहीं रखा जा सकता ।

भारतेन्दु युग में एक और शैली का प्रारंभ हुआ जो जन-नाटकों से अधिक प्रभावित थी । इस शैली के प्रर्वतक लाला श्री निवासदास थे । उन्होंने 'प्रह्लाद चरित' नामक नाटक उस शैली पर लिखा, जो रामलीला तथा स्वांग मण्डलियों में 'प्रह्लाद लीला' नाम से शताब्दियों से चली आ रही थी । इस नाटक में 'मनसुखा'[2] अपनी विनोदपूर्ण वाणी से जनता का मनोरंजन करता रहता है । उदाहरणार्थ 'प्रह्लाद चरित्र' का पाठशाला-दृश्य देखिए :

पंडामर्क - (विद्यार्थियों से) देखो, हम जैसे कहें, बोलते जाओ ।
सब विद्यार्थी - अच्छा गुरू जी, आप कहोगे वैसे बोलेंगे ।

---

1. डॉ. सत्येन्द्र - हिन्दी एकांकी, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा, पृ.-29 ।
2. जन-नाटकों का विदूषक मनसुखा कहलाता है ।

षंड - बोलो ओनामासी धं ।
सब विद्यार्थी - बोलो ओनामासी धं ।
षंड - अबे ! बोलो क्यों बोलते हो ।
सब विद्यार्थी - अबे ! बोलो क्यों बोलते हो ।
षंड - ओनामासी धं (दो-तीन बेंत मारकर) हां पांडे की टूटी टंग, देख बच्चा पांडे की टूटी कि तेरी टूटती है (और दो-तीन बेंत जड़ देते हैं)
विद्यार्थी - अरे जी मरे गुरू जी मरे हाय हाय .....
षंड - अबे गुरू जी मरे कि तू मरा ....

इस नाटक में पीठ पर आकाश से राम के आगमन का, श्मशान सेचिता का, समुद्र में डूबने आदि का वर्णन उसी रूप में उपलब्ध होता है, जो रूप तत्कालीन जन-नाटकों और रास-लीला के नाटकों में मिलता है । अतएव 'प्रह्लाद-चरित' नामक एकांकी को तीसरा कोटि में रखना चाहिए ।

'बादल की मृत्यु : हिन्दी का प्रथम एकांकी

निश्चित है कि आधुनिक एकांकी का जन्म डॉ. रामकुमार वर्मा के एकांकियों से हुआ और वर्तमान एकांकियों के शिल्प-विधान को देखते हुए उन्हें ही हिन्दी एकांकी के जन्मदाता होने का गौरव प्राप्त है । उन्होंने मनोविज्ञान के साथ-साथ पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व तथा कथा की प्रभान्विति पर दृष्टि रखकर हिन्दी में नये ढंग के एकांकियों का सूत्रपात किया । उनका प्रथम एकांकी 'बादल की मृत्य' सन् 1930 में लिखा गया और असंदिग्ध रूप से यह हिन्दी का प्रथम एकांकी है । इसका प्रकाशन सन् 1930 ई. में ही 'विश्वामित्र' में हुआ था । शिल्प की दृष्टि से यह एक फेटेसी है, जिसमें काव्य का अंश अधिक है, किन्तु तीव्र अनुभूति के साथ अन्तर्सम्बन्ध अन्तर्सघर्ष भी वर्तमान है साथ ही सम्भाषणों में संवेदनात्मक अंश अधिक होने से यह और भी अधिक प्रभावशाली हो गया है ।

सम्भवतः 'बादल की मृत्यु' की प्रेरणा ब्राउनिंग की ग्रो ओल्ड [illegible] भी' तथा स्वयं नाटककार की शुजा पर लिखी हुई कविता से मिली । काव्यात्मक प्रभाव में रहकर ही नाटककार इस ओर आकर्षित हुआ और इस प्रकाश हिन्दी के इस प्रथम एकांकी की सृष्टि की

गई । सन् 1938 में 'हंस' का 'एकांकी' विशेषांक प्रकाशित हुआ जिससे हिन्दी के लेखकों को एकांकी की कला के सम्बन्ध में अनेक नयी बातें ज्ञात हुईं ।

एकांकी नाटक और संवाद की व्याख्या

एकांकी नाटकों में भी छः तत्त्व माने गए हैं । सम्वाद या कथोपकथन का स्थान एकांकी के महत्वपूर्ण तत्त्वों में से है । इसके अभाव में एकांकी का भवन खड़ा ही नहीं हो सकता । एकांकी का घटना-विन्यास और चरित्र का विश्लेषण संवादों के आधार पर ही निर्भर है, इसलिए सम्वाद जितने ही अधिक नाटकीयता, तीव्र आवेग एवं मनोवैज्ञानिक संस्पर्श से युक्त होंगे उतने ही अधिक वे एकांकी को सफल बनाने में समर्थ माने जाएंगे । संवाद से ही कथावस्तु की प्रगति, चरित्र-विकास और अन्तर्द्वन्द्व का निर्माण होता है, इसलिए संवाद संक्षिप्त, तीव्र आवश्यक तथा नपे तुले होने चाहिए । इसके महत्व के कारण ही विद्वान इसे एकांकी का सर्वस्व, एकांकी की आत्मा, एकांकी का प्राण आदि कहते हैं । डॉ. रामकुमार वर्मा ने संवाद की जो भी विशेषताएं गिनायी हैं, उनमें से तीन का संबंध उसके प्रयोजन से है । उनके अनुसार - एकांकी का सम्वाद चरित्र की चारित्रिकता को प्रकट करता है, एकांकी के कथावस्तु को विकसित करता है और पात्रों के भावों को प्रकट करता है ।

संवाद नाटक में अपेक्षित वातावरण एवं प्रभाव की सृष्टि में भी सहायक होता है । प्राचीन रंगमंचीय नाटकों तथा आधुनिक रेडियो-नाटकों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे, जिनमें सम्वाद के द्वारा वातावरण का निर्माण किया गया है । सवाद से नाटक की गति नियंत्रित करने में सहायता मिलती है । सम्वाद का महत्व अपने प्रयोजनों की सिद्धि एवं दर्शकों के मन में अपेक्षित प्रभाव की सृष्टि में है । सुन्दर से सुन्दर संलाप का अपने में कोई मूल्य नहीं है, नाटक के अंग के रूप में ही उसका महत्व है । आर्चर के शब्दों में - "आधुनिक नाटक भाषा के चमकीले पोशाक में ढीले-ढाले रूप से सजायी गयी कहानी नहीं है । इसमें कार्य-व्यापार, पात्र एवं संवाद का घनिष्ठ पारस्परिक संबंध होना चाहिए । वरना उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाएगी ।

---

1. हमारी नाट्य-साधना . लेखक, राजेन्द्र सिंह गौड़, पृ.-155 ।
2. एकांकी कला : सम्पादक, डॉ. रामकुमार वर्मा, पृ.-20 ।
3. डॉ. सत्येन्द्र : हिन्दी एकांकी, साहित्य रत्न भण्डार, पृ.-56 ।

एकांकी के विभिन्न रूप

आज का हिन्दी एकांकी अधिक समृद्ध है यह पश्चिम और पूर्व के बदलते हुए जीवन दर्शन और विश्वजनीन नये ज्ञान-विज्ञान से अधिक प्रभावित हुआ है । यद्यपि शेक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी नाट्य-प्रणाली ने प्रसाद-युग को प्रभावित किया था तथापि शा और इब्सन की यथार्थवादी नाट्य प्रवृत्ति का प्रभावपूर्ण नाटक की अपेक्षा एकांकियों पर ही अधिक देखा जाता है । पश्चिम के प्रतीक बुद्धिवादी तथा रंगमंचीय आन्दोलनों का भी इसके ऊपर यथेष्ट प्रभाव पड़ा है ।

हिन्दी एकांकी का क्षेत्र आज बहुमुखी हो गया है । विषय-वस्तु की दृष्टि से ही उसमें अनेक प्रश्नों, समस्याओं एवं प्रवृत्तियों का समाहार देखा जा सकता है । रंगमंच के स्थान पर रेडियो जैसे नये माध्यम ने भी उसकी शैली तथा रूप-विन्यास पर यथेष्ट प्रभाव डाला है । वर्तमान समय में केवल एकांकी का विभाजन व उसकी विषय-वस्तु के अनुसार इस प्रकार किया जा सकता है -

(क) धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकांकी - नवीनता की ओर अधिक आकृष्ट होने के कारण धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकांकी की ओर एकांकीकारों की अभिरूचि अधिक नहीं रही । फिर भी डॉ. रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, सियारामशरण प्रसाद, डॉ. नरेन्द्र मानाव आदि ने सांस्कृतिक एवं धार्मिक विषयों को एकांकी की कथाभूमि पर प्रस्तुत किया है ।

(ख) ऐतिहासिक एकांकी - ऐतिहासिक आधार ग्रहणकर अनेक एकांकी लिख गए हैं । कुछ में ऐतिहासिकता की सम्यक् रक्षा हुई है । कुछ में कल्पना का यथेष्ट प्राचुर्य है । इस प्रकार इन एकांकियों के माध्यम से प्राचीन गौरव के साथ-साथ साहस, रोमांस तथा आदर्श की अनुसृष्टि हुई है । डॉ. रामकुमार वर्मा के ऐतिहासिक एकांकी सर्वाधिक महत्व प्राप्त कर चुके हैं । उन्होंने एकांकियों के माध्यम से देश की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना को एक साथ स्पर्श किया है । अन्य एकांकीकारों में सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा उदयशंकर भट्ट का नाम लिया जा सकता है ।

(ग) सामाजिक एकांकी - इस प्रकार के एकांकियों की संख्या सबसे अधिक है ।

नवीन मनोविज्ञान एवं चरित्र-विश्लेषण को प्रस्तुत करने के लिए सामाजिक एकांकी अधिक उपयुक्त समझे जाते हैं । जहां उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' तथा विष्णु प्रभाकर आदि ने समाज एवं व्यक्ति की अनेक कमजोरियों पर दृष्टिपात किया है, वहां डॉ. रामकुमार वर्मा तथा उदयशंकर भट्ट आदि ने मध्यवर्गीय समाज की आर्थिक, पारिवारिक तथा वैयक्तिक समस्याओं को लक्ष्य बनाया है । सेठ गोविन्ददास के सामाजिक नाटकों में विषय-वैविध्य अधिक दिखलाई पड़ता है ।

(घ) **वैज्ञानिक एकांकी** - हिन्दी में वैज्ञानिक बुद्धिवाद तथा वैज्ञानिक आविष्कारों को लक्ष्य मानकर बहुत से एकांकी लिखे गए हैं । इन एकांकियों में पुराने जीवन मूल्यों के प्रति क्रांति की भावनाएं मिलती हैं । डॉ. रामकुमार वर्मा के 'उत्सर्ग' या 'चन्द्रलोक का प्रथम यात्री इसी कोटि की रचनाएं हैं । इनमें विज्ञान की नवीन उपलब्धियों के प्रकाश में आगामी प्रगति की सम्भावनाएं व्यक्त की गई हैं । प्रो. अर्जुन चौबे काश्यप का 'परमाणु बम', विनोद रस्तोगी कृत 'मंगल, मानव और मशीन', रेवतीशरण शर्मा का 'कल', इस प्रकार के अन्य एकांकी हैं ।

(ङ) **प्रचारात्मक एकांकी** - देश की वर्तमान प्रगति से संबद्ध अनेक योजनाएं उस समय सारे देश में चल रही है । साथ ही ग्रामों का भी कायाकल्प हो रहा है । फलतः सामुदायिक विकास, अल्प बचत, परिवार नियोजन तथा सहकारिता आन्दोलनों जैसी अनेकों योजनाएं सारे देश में कार्य कर रही है । अतः इन विषयों के प्रचारात्मक दृष्टिकोण को भी सामने रखकर आजकल अनेकों एकांकी लिखे जा रहे हैं । श्री चिरंजीत का 'जच्चा बच्चा जिंदाबाद', विष्णु प्रभाकर का 'आंचल और आंसू' तथा हरिबल्लभ का 'सहयोग' आदि एकांकी इसी प्रकार के प्रचारात्म विषयों से सम्बद्ध हैं ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व ऐसी अनेक रचनाएं मिलती हैं, जिन्हें नाटक की संज्ञा दी जाती है । लेकिन इन्हें रंगमंचीय नाटक न कहकर पद्यबद्ध काव्य नाटक कहा जाता है । वास्तव में हिन्दी साहित्य नाटकों का उदय भारतेन्दु के साथ ही हुआ और हिन्दी एकांकी का प्रारंभ भी उन्हीं से हुआ । यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहीं एकांकी नाटक नाम का उल्लेख नहीं किया है, तथापि वे इस तथ्य से परिचित थे कि एक अंक के भी

नाटक होते हैं ।

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', नीलदेवी, अंधेर नगरी आदि एकांकी नाटकों की रचना की है । वैदिकी हिंसा हिंसा हिंसा न भवति में नाटककार ने मांस-भक्षण, व्यभिचार, मद्यपान आदि पर आघात किया है । भारतेन्दु ने नाटक की विषय-वस्तु का संबंध प्रकृति के सौन्दर्य से जोड़कर प्रस्तावना को विषयानुरूप और सुन्दर बना दिया है । एक संवाद देखिए -

सूत्रधार - अहा हा ! आज की संध्या की कैसी शोभा है । सब दिशा ऐसी लाल हो रही है, मानो किसी ने बलिदान किया है और पशु के रक्त से पृथ्वी लाल हो गई है ।

नटी - कहिए आज भी कोई लीला कीजिएगा ?

सूत्रधार - बलिहारी ! अच्छी याद दिलाई । हां जो लोग मांस लीला करते हैं उनकी लीला करेंगे ।

इस एकांकी के संबंध में आलोचकों ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये हैं । जैसे - इसके अभिनय तथा संवाद में अश्लीलत्व दोष है । इसके संवाद तीक्ष्ण कटाक्षों से भरे, भौंडे और सारहीन हैं ।

2. काशीनाथ खत्री

भारतेन्दु-युग के प्रसिद्ध नाटककारों में काशीनाथ खत्री की गिनती होती है । उन्होंने ऐसे अनेक लघु नाटकों की रचना की, जिन्हें एकांकी कहा जाता है । उनका 'गाम पाठशाला' (1875), 'निकृष्ट नौकरी', 'तीन परम मनोहर ऐतिहासिक रूपक' - जिसमें 'सिन्ध देश की राजकुमारियां', 'गुन्नौर की रानी' और 'महाराज लव जी का स्वप्न' नाटक प्रसिद्ध है ।

'ग्राम पाठशाला' और 'निकृष्ट नौकरी' में तत्कालीन शिक्षकों और शिक्षित युवकों की

दुर्दशा का यथार्थ चित्र अंकित किया गया है । सिन्ध देश की राजकुमारियों के एक दृश्य में संवाद देखिए -

(दर्बार बगदाद में खलीफा अपने मुहासबों के साथ तशरीफ रखते हैं) और उसी के पास रंगमहल है ।

नयामत खां - (दरबार में हाजिर होकर आदाब बजा लाकर और हाथ जोड़कर) खुदाबंद । मुल्क सिन्ध के मफतूह रॉजा की दो दुखतर बाकरह कैद होकर हजूर में हाजिर हैं, उनके निसबत क्या इरशाद होता है ।

खलीफा - (लिखते हुए निगाह ऊंची करके और मन में प्रसन्न होते हुए) अच्छा न्यामत । बड़ी लड़की को शाम को महल में हाजिर करो ।

(नियामत झुककर आदाब बजा लाकर जाता है ।)

और न्यामत खां - राह में ख्यालकर मग्न होता जाता है कि अगर यह लड़की जांपनाह को पसंद आ गई तो जरूर मुझे कुछ माकूल इनाम आता होगा, और मनसब तरक्की किया जाएगा ।

(घर पहुंचता है और दासियों को आज्ञा देता है)

नियामत - (दासी से) नूरन, देवल को उमदा तौर से गुसुल कराकर और यह निहायत खुशबुदार इतर मलकर इन बेशकीमत जेवरात से बखूबी आरास्तह करो वह आज जहांपनाह के हुजूर में पेश की जाएगी ।

नूरन - आका बहुत खूब ।

(जाती है और देबल को सजाने में लगती है)

दासी - (मन में) यह अपनी आफत में निहायत गममीन हैं मेरे आराखतह किये से क्या होता है इसका दिल निहायत पजमुरदह हो रहा है ।

(सन्ध्याकाल होते नियामत खां ने देवल को सुगन्धी और दिव्य भूषणादि से सजा पालकी में बैठा सिपाहियों के पहरे में कर महलों के दरवाजे पर पहुंचकर बादशाह के हुजुर में हाजिर लाने की इत्तला दी)[1]

---

1. तीन परम मनोहर इतिहासिक रूपक : लेखक - काशीनाथ खत्री, पृ.-4-5 ।

खत्री जी की रचनाओं में पात्रों का नामकरण उनके गुण के अनुसार हुआ है । ऐतिहासिक कृतियों में मनुष्यमात्र अवश्य आये हैं, पर वे भी सरल चरित्र हैं ।

3. बालकृष्ण भट्ट

भट्ट जी हिन्दी गद्य की नींव रखने वाले लेखकों में हैं । इनके एकांकी नाटकों में शिक्षादान अर्थात् 'जैसा काम वैसा परिणाम', 'आचार बिडम्बन प्रहसन', 'हिन्दुस्तान और इंगलिस्तान के सयाने संतान', 'मेघनादवध' आदि रचित है ।

जैसा काम वैसा परिणाम को प्रहसन कहा गया है, पर यह एक गम्भीर नाटक है, और इसमें परस्त्री-गमन के दोषों पर प्रकाश डाला गया है । एक संवाद देखिए -

"रग्घू - (हुक्का गुड़गुड़ाता हुआ) बाबू माल एसा फ्रेश और चौकड़ है कि देखोगे तो लार टपक पड़ेगी ।

बसन्त - सच कहो ।"[1]

इससे स्पष्ट है कि इस नाटक के संवाद स्वाभाविक है । संवाद की भाषा बोल-चाल की है, अंग्रेजी के शब्दों का भी व्यवहार हुआ है, वाक्यों का भी ।

भट्ट जी के सभी नाटकों में यह विशेषता दिखाई पड़ती है कि उन्होंने लघु नाटकों को प्रस्तावना आदि और पद्य से युक्त कर दिया है, और संलापों में शक्तिशाली गद्य का व्यवहार किया है ।

4. प्रतापनारायण मिश्र

भारतेन्दु युग के सुप्रसिद्ध कवि और निबन्धकार प्रतापनारायण मिश्र ने नाटकों की भी रचना की थी । मिश्र जी की एकांकी नाट्य-कृति 'कलिकौतुक रूपक' है । इसमें कलियुग के लोगों और कार्यों पर प्रकाश डाला गया है । स्थान-स्थान पर मार्मिक व्यंग्य है । यह यथार्थवादी नाटक है । इस नाटक के संलाप स्वाभाविक और रोचक है । संलापों

---

1. जैसा काम वैसा परिणाम, लेखक बालकृष्ण भट्ट ।

की भाषा लोकजीवन के निकट है । संलाप का एक छोटा सा उदाहरण प्रस्तुत है -

चम्पा - (आक्षप से) वाह रे परदेबाली ।
स्यामा - नहीं तो क्या तेरी तरह मंदिर-मंदिर का चन्नामिर्त लेती फिरूँ हूँ ?

'कलि कौतुक रूपक' अपने समय की प्रतिनिधि रचनाओं में है ।'

5. हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ

इनका 'अपनी टेक निबाही' एक छोटा-सा एकांकी प्रहसन है । इसमें कोई सामाजिक समस्या नहीं दीखती - मनोरंजन ही प्रधान है । इस नाटक के संवाद संक्षिप्त, गतिशील और स्वाभाविक है । अपने संलाप-कौशल के लिए यह एकांकी हमारा ध्यान अपनी ओर विशेष रूप से आकृष्ट करता है । तीसरे दृश्य का एक अंश उदाहरणार्थ प्रस्तुत है, जिसमें बाँके एक अनजान घर में भोजन करने पहुंचा है । बाँके और बहु (गृहिणी) के संवाद देखिए -

स्थान - चौका

(बांके भोजन करता है और बहू जिवाती है)

बहु - सरमैयो मत अच्छी तरह जीमियो ।
बाँके - नाहीं मैं भला परदेश मे रह चुका हूं ।
बहु - हां सोई कही यह अपना घर है ।
बाँके - मैं जानता हू ।
बहु - भैया । अम्मा अच्छी तरह थी ।
बाँके - थोड़ा पानी तो ला दे ।
(बहु उठकर पानी लान गई)
बाँके - हं हा । अब देखो तमाशा बताता हूं ।
बहु - ले (पानी लाकर दिया) छोटे भैया अच्छे हैं ।
बाँके - एक और पूरी परस दे ।
बहु - (पुरी देकर कुछ देर पीछे) हमारी बहिन कभी हमारी याद करती थी ।

बाँके	-	थोड़ी सी तरकारी तो ला ।
बहु	-	(तरकारी देकर कुछ देर पीछे) अम्मा से कहियो मुझे बुलावें, मुझे उसे देखने की बड़ी लालसा है ।
बाँके	-	दही देव ।
बहु	-	(दही देकर पूरी देने लगी)
बाँके	-	(सिर हिलाकर) नहीं ।
बहु	-	भला एक तो और ले ले (थाली में पूरी डाल दी)
बाँके	-	अरे-अरे यह क्या किया नाहक को खराब होगी अब मैं खा चुका हूं । (थोड़ी देर में हाथ धोकर उठ खड़ा हुआ ।)
बाँके	-	तो अब मैं जाऊँ ।
बहु	-	कहाँ ? भैया कहाँ ?
बाँके	-	घर अपने और कहाँ ?
बहु	-	क्यों भला अभी तो आये हो ।
बाँके	-	अभी तभी से मुझे क्या है, न तो मै तेरा भाई न तू मेरी बहिन मुझे तो रोटी खानी थी सो खा ली और यह चला । (चला गया)

इस एकांकी की यह विशेषता कही जाएगी कि इसमें कहीं भी नाटकीय दृष्टि से कोई अनावश्यक तत्त्व नहीं आने पाया है ।

अब तक हिन्दी के जिस एकांकी साहित्य का परिचय दिया, उसके एक छोर पर भारतेन्दु का पाखण्ड विडम्बन (सन् 1873) है और दूसरे छोर पर प्रसाद का 'प्रायश्चित' (1914), यों इसके बाद भी इस परंपरा के चिह्न मिलते हैं । यह हमारा विवेच्य काल 1870 से 1915 तक के 45 वर्षों का था । एकांकी या एकांकी नाटक नाम का व्यवहार इस अवधि में नहीं किया गया है । फिर नाटकों का ध्यान लघु नाटकों की ओर था, और उन्होंने अनेक लघु नाटकों की रचना की थी ।

इस युग के एकांकी नाटकों में आये संलाप पर भी संस्कृत और बंगला की छाया

दिखायी पड़ती है । मन्दगति वाले बड़े-बड़े संलाप, ही इनमें अधिक लिखे गए । कहीं ये वर्णन बोझिल रहे, कहीं काव्यत्व से, कहीं अलंकारों स, और कहीं युगचित्रों और उपदेशात्मक विवादों में । स्थान-स्थान पर स्वगत का भी व्यवहार किया गया है । आकाशभाषित का भी कहीं-कहीं पद्यात्मक संलापों की ही प्रधानता है । इनसे मुक्त संलाप कहीं-कहीं अवश्य मिले हैं ।

सामूहिक रूप से विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस काल के नाटकों पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यापक प्रभाव पड़ा है । इस युग में प्रधानता रही परंपरा और प्रभाव की ही, पर नाट्य रचना विधान के विभिन्न तत्त्वों में स्फुट रूप से नये-नये प्रयोग भी होते रहे ।

हिन्दी एकांकीकार (आलोच्यकाल) सन् 1916-1930 : संवाद

आलोच्यकाल सब प्रकार से नयी चेतना के विकास का युग था । इस युग में अंग्रेजी शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हुआ, और उसके माध्यम से हिन्दी के साहित्यकार अन्यान्य यूरोपीय साहित्यों के निकट सम्पर्क में आये, इससे उनके मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ । नयी चेतना मिली, नई दिशाओं में अग्रसर होने की प्रेरणा मिली । इस युग के प्रमुख नाटककारों के नाटकों के सम्वाद इस प्रकार है -

1. बदरीनाथ भट्ट

भट्ट जी बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न लेखक थे । इन्होंने अनेक हास्य प्रधान लघु नाटकों की रचना की थी, इमनें उल्लेखनीय है - 'पुराने हाकिम साहब का नया नौकर', 'हिंदी की खींचातानी', 'घोंघा बसन्त विद्यार्थी' आदि । इनमें 'पुराने साहब का नया नौकर' प्रसिद्ध है । इसमें नौकर खोजने की परेशानी और फिर चालाक नौकर से होनेवाली कठिनाइयों का रोचक चित्रण है ।

इस नाटक में कथानक-निर्माण का प्रयत्न दिखायी पड़ता है .फिर नाटक रोचक सम्वादों के माध्यम से प्रस्तुत चित्रमात्र है । हाकिम अपने नये नौकर को मोमबत्ती जलाकर

लाने को कहते हैं, तो वह उसे दोनों छोर पर जलाकर लाता है । हाकिम छिलकनेवाली तश्तरी की ओर संकेत कर कहते हैं - फेंक आ, तो नौकर तश्तरी ही बाहर फेंक आता है । इसी तरह के प्रसंग अन्य नाटकों में भी हैं । नाटकों का सब आकर्षण सम्वादों और भाषा में है । सम्वाद छोटे-छोटे और प्रगतिशील हैं । उनमें रोचकता भरी हुई है । वक्रोक्ति का व्यवहार लेखक ने बड़ी कुशलता से किया है । यह विशेषता उस समय के बहुत कम नाटकों में मिलती है । एक उदाहरण देखा जा सकता है -

"हाकिम - तू अच्छी तरह नौकरी बजा सकेगा ?
नौकर - क्या घण्टा बजाने की नौकरी है ? हजूर, मेरा क्या जाता है ? आप कहेंगे तो दिन-रात घण्टे बजाया करूँगा ।
हाकिम - घन्टा-बन्टा कुछ नहीं, तू सब काम संभाल लेगा ?
नौकर - जी हां क्यों नहीं । मैं क्या आदमी नहीं हूँ ? आदमी का काम आदमी न संभालेगा, तो क्या जानवर संभालेंगे ?"

2. मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा 'विशारद'

विश्वकर्मा जी का एक सुन्दर एकांकी उस समय प्रकाशित हुआ था - 'शेरसिंह' यह अंग्रेजों के विरूद्ध छत्रसिंह और शेरसिंह के विद्रोह के प्रसंग पर आधारित है । दोनों ने अंग्रेजी शासन के प्रति विद्रोह किया, उनकी जीत हुई, पर उनके पक्ष का लालसिंह अंग्रेजों की तरफ मिल गया जिसके फलस्वरूप छत्रसिंह और शेरसिंह की पराजय हो गयी । इसी के आधार पर कथानक का निर्माण किया गया है । नाटक सात दृश्यों में है । इसका प्रारंभ आकस्मिक और आकर्षक रूप में हुआ है -

(स्थान - वन में गुरू गोविन्दसिंह की समाधि । समय प्रातःकाल । शेरसिंह और सिक्खगण समाधि के समक्ष अर्द्धचन्द्राकार होकर खड़े हैं ।)

शेरसिंह - तो फिर शपथ करो ।
सरदारगण - हां, हम लोग शपथ करते हैं ।
शेरसिंह - गुरू गोविन्दसिंह के जीवन का उद्देश्य महत् और महिमामय था ।

सरदारगण - गुरू गोविन्दसिंह के जीवन का उद्देश्य महत् और महिमामय था ।

शेरसिंह - आपत्तिग्रस्त होकर भी ।

सरदार - आपत्तिग्रस्त होकर भी ।

शेरसिंह - अंग्रेजों से लड़कर

सरदारगण - अंग्रेजों से लड़कर

शेरसिंह - जननी जन्मभूमि के लिये जीवन की आहुति दे देंगे ।

सरदारगण - जननी जन्मभूमि के लिये जीवन की आहुति दे देंगे ।

शेरसिंह - तो फिर गुरूदेव की समाधि में अपनी पवित्र आत्मा को मूर्तिमान जानकर, मस्तक नवाकर अपनी शुद्ध सात्विक दृढ़ प्रतिज्ञा का ज्वलन्त परिचय दो ।

(समाधि पर सब मस्तक झुका देते हैं)

3. सुदर्शन

प्रसिद्ध कहानीकार सुदर्शन जी ने कुछ एकांकी नाटकों की भी रचना की है । इनमें उल्लेखनीय है - 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' (प्रहसन) और 'छाया' ।

'जब आँखें खुलती हैं' - सुदर्शन जी ने इसमें स्वाधीनता-संग्राम की पृष्ठभूमि पर वैश्या-उद्धार की समस्या चित्रित की है । लेकिन सबसे सफल कृति 'छाया' है । चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन से सम्बद्ध एक प्रसंग पर आधारित है । 'छाया' नाटक में कार्य-व्यापारों की सुसम्बद्ध श्रृंखला है और उनका संगठन इस प्रकार किया गया है । लेखक का उद्देश्य छाया की वेदना और चन्द्रगुप्त की विवशता को उभारने का रहा है । भावों के घात-प्रतिघात का चित्रण बड़ा प्रभावशाली रहा है । छाया ने चन्द्रगुप्त का प्रेम चाहा था, वह उसे मिला । यह उसके उल्लास का चित्र है । यह संवाद देखिए, जिसमें मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है -

छाया - बस महाराज, बस । मुझे और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, मैं आपका प्रेम चाहती हूं ।

चन्द्रगुप्त - वह सदैव तुम्हारा है ।

छाया - ये आंखें इसी प्रकार प्रेम में डुबी रहेंगी ?

चन्द्रगुप्त - बराबर ।

छाया - तो संसार में मुझ-सा भाग्यशाली कोई दूसरा नहीं हो सकता । उसकी आशा जब चकनाचूर हो जाती है, तब का यह चित्र है ।

छाया - महाराज आवेंगे ?

कुमारी - हां ।- लो, वह आ रहे हैं ।

छाया - तो कह दो, मैं उनसे मिलना नहीं चाहती ।

कुमारी - आप भूल कर रही हैं । महाराज-

छाया - मिलने की कोई आवश्यकता नहीं । (वेग से प्रस्थान) लकिन बाद में वह चन्द्रगुप्त से उत्तर मांगना चाहती है ।

छाया - बस, तुम मुझे नहीं रोक सकती । मैं चाणक्य को कुछ नहीं समझती । मैं महाराज से भेंट करूंगी । (महाराज से) आप आ गए ? बताइये, क्या यह सत्य है ?

चन्द्रगुप्त - देवि ! मुझ पर दया करो, मेरी दशा पर तरस खाओ । मुझ-सा अभागा मनुष्य आज सारे भारतवर्ष में न होगा ।

छाया - महाराज, मैं उत्तर चाहती हूं । क्या यह सत्य है ?

चन्द्रगुप्त - इस समय में प्रेम की बात करने नहीं आया ।....सब कुछ होने पर भी वह अपने प्रिय का अनिष्ट नहीं चाहती ।

छाया - नहीं माता, नहीं यह नहीं हो सकता, यह नहीं होगा । मैं कहीं हूं, किसी दिशा में हूं परन्तु मेरा हृदय इनके लिए कोई शाप नहीं दे सकता । मेरे होंठ इनके लिए सदैव परमात्मा से मंगल-कामना करते रहेंगे । मैं भारतीय नारी हूं । मैं प्रेम कर चुकी हूं

अैर, यह है उसका मार्मिक अन्त, विष-पान के बाद का चित्र ।

छाया - महाराज जय हो । प्रणाम करती हूं ।

चन्द्रगुप्त - प्यारी छाया यह, तुमने क्या कर डाला । क्या तुम्हें मेरा

ख्याल न था ? ओह । मैंने राज-पाठ, सिंहासन, सब कुछ त्याग देने का निश्यच कर लिया था । परन्तु अब ---

छाया - आपने अपना कर्तव्य पूरा किया । मैंने अपना कर्तव्य समझा ।

चन्द्रगुप्त - वाचाल, दौड़ो, राजवैद्य को जल्दी लाओ । यह बचेगी, मैं इसे नहीं मरने दूंगा ।

छाया - (तड़पते हुए) नहीं, अब वैद्य कुछ नहीं कर सकेगा । मैं - जली - फुँकी - महाराज -

चन्द्रगुप्त - (झुककर) छाया ! छाया !!

इस संवाद में प्रेम की वेदी पर छाया का त्याग बहुत मर्मस्पर्शी है । इस नाटक में संलाप सभी जगह संक्षिप्त, गतिशील, भावाभिव्यंजक और नाटकीय है । सन् 1925 में प्रकाशित यह नाटक अपने युग की बहुत बड़ी उपलब्धि है, और आधुनिक एकांकी नाटक का सूत्रपात करता है । आश्चर्य है कि इस नाटक के रहते हुए भी विद्वान प्रसाद जी के 'एक घूंट' को हिन्दी का प्रथम आधुनिक एकांकी कहते हैं ।

4. जयशंकर प्रसाद

प्रसाद जी ने सन् 1929 में 'एक घूंट6 नामक एक दृश्य के नाटक की रचना की थी । हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ इसी नाटक से माना जाता है । यह एक विचार-प्रधान कृति है । इसमें पात्रों के माध्यम से प्रसाद जी ने विवाह और स्वच्छन्द प्रेम के सम्बन्ध में विचार किया है । आधुनिक नाटक व्यक्तियों के चरित्र चित्रण का आग्रही है, यह इस नाटक में संवादों द्वारा किया गया है । इस एकांकी की भाषा-शैली अलंकृत और काव्यात्मक है । संलाप भी बड़े-बड़े हैं । इन सबसे नाटक में शिथिलता आयी है । स्वगत का व्यवहार भी बहुलता से किया गया है । -अश्राव्य ही नहीं, नियत श्राव्य का भी व्यवहार हुआ है । आधुनिक नाटक इसे अस्वाभाविक मानता है । 'एक घूंट' हिन्दी-एकांकी नाटक की नयी परम्परा की पहली कड़ी नहीं है, वह पिछली परम्परा की अन्तिम कड़ी है । इस अवधि के एक छोर पर यदि मोलियर, द्विजेनद्रलाल राय आदि के अनुवाद हैं, तो दूसरे छोर पर. जयशंकर

प्रसाद के 'एक घूंट' और सुदर्शन के 'छाया' नाटक हैं - पहले में यदि काव्यात्मक शैली के एकांकी नाटकों की परिणति है, तो दूसरे में आधुनिक हिन्दी एकांकी का नवोन्मेष ।

सन् 1930-1965 तक के एकांकीकार : संवाद

विवेच्य अवधि के प्रथम चरण में हिन्दी एकांकी ने नया रूप ग्रहण किया, और इसका विकास भी शीघ्रता से होने लगा । इसका कारण था अंग्रेजी साहित्य से हिन्दी साहित्यकारों का घनिष्ठ सम्बन्ध होना । इस समय के अधिक हिन्दी लेखकों ने पाश्चात्य नाटकों का अध्ययन किया । 'रेशमी टाई' की भूमिका से स्पष्टः ज्ञात होता है कि डॉ. रामकुमार वर्मा ने मैक्सिम गोर्की, चेखाव, टाल्स्टाय, आस्कर वाइल्ड, सिंज, यूजीनओ नील हैराल्ड राबिंस्टीन, रोनाल्ड जीन्स, मैटरलिंक आदि नाटककारों की रचनाओं अध्ययन किया है । अर्थात् पाश्चात्य नाटककारों की कृतियों ने इस युग में हिन्दी लेखकों को एकांकी लेखन की प्रेरणा दी । आधुनिक हिन्दी एकांकी का प्रारंभ 1930 में 'विश्वामित्र' में प्रकाशित रामकुमार वर्मा के 'बादल की मृत्यु' से हुई । और यहीं से आधुनिक एकांकी की रचना नियमित रूप से प्रारम्भ हुई । इस समय के कुछ विशेष नाटककारों के नाटकों का संवाद उल्लेखनीय है -

डॉ. रामकुमार वर्मा

पद्मभूषण डॉ. रामकुमार वर्मा हिन्दी में आधुनिक एकांकी की प्रतिष्ठा करानेवाले अग्रणी लेखकों में हैं । उन्होंने एकांकी के सैद्धान्तिक विवेचन एवं व्यावहारिक सृजन द्वारा हिन्दी एकांकी के शिल्पगत विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है । वर्मा जी ने मौलिक प्रतिभा के साथ हिन्दी एकांकी की नई टेकनीक लेकर इस क्षेत्र में प्रवेश किया । एकांकी के क्षेत्र में डॉ. वर्मा का कार्य युगान्तर प्रभाव स्थापित करने में समर्थ हुआ है । वे हिन्दी एकांकी जगत में पथ-प्रदर्शक के गौरव को प्राप्त कर चुके हैं । स्मरण रखना चाहिए कि जो कार्य प्रसाद जी ने पूर्ण नाटकों के लिए किया वही कार्य एकांकी के क्षेत्र में डॉ. वर्मा का है । वर्तमान समय में वे 'प्रसाद' से भी अधिक प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं । क्योंकि आज का युग पूर्ण नाटक का नहीं, वरन् एकांकी का है ।

डॉ. वर्मा ने सौ से भी अधिक एकांकी नाटकों की सृष्टि की है । उनके प्रसिद्ध

एकांकी संग्रह निम्नलिखित हैं -

'पृथ्वीराज की आँखें' (1936), 'रेशमी टाई' (1941), 'चारुमित्रा' (1942), 'विभूति' (1945), 'सप्त किरण' (1947), 'रूपरंग' (1948), 'रजतरश्मि' (1950), 'दीपदान' (1953), 'ऋतुराज' (1951), 'रिमझिम' (1955), 'इन्द्रधनुष' (1956), और 'पांचजन्य' (1957) तथा मयूरपंख आदि । इनके एकांकी नाटकों के विषय भी विविध प्रकार के हैं यथा - पौराणिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा साहित्यिक । हास्य-व्यंग्य को लेकर भी कुछ अछूते प्रयोग किए गए हैं ।

एकांकी नाटक के क्षेत्र में 'बादल की मृत्यु' वर्मा जी की सर्वप्रथम कृति है । इसका प्रकाशन सन् 1930 के 'विश्वामित्र' में हुआ था । 'पृथ्वी की आंखें' संग्रह में यह संकलित है । इस नाटक में कोई कथानक नहीं है, किसी तरह की नाटकीयता नहीं है । संलापों पर काव्य का रंग चढ़ा हुआ है । 'चम्पक' में एक उदार, सदय एवं भावप्रवण व्यक्ति के सम्पर्क में आनेवाले एक कठोर हृदय वृद्ध के हृदय-परिवर्तन की कहानी है । इस नाटक में कथानक पूर्वघटित घटनाओं के रहस्य पर आधारित हैं - वार्तालाप के 'प्रसंग में पात्र बीती हुई कहानी कहते हैं, और जैसे ही रहस्योद्घाटन होता है, नाटक समाप्त हो जाते हैं । 'पृथ्वीराज की आंखें' संग्रह के इन एकांकी नाटकों में कुछ बातें सामान्य रूप से दिखायी पड़ती हैं । सभी नाटक एक ही दृश्यवाले हैं । इनमें स्थान और समय का परिवर्तन नहीं होता । संकलन-त्रय का निर्वाह कुशलतापूर्वक किया गया है । रामकुमार वर्मा प्रारंभ से ही एकांकी नाटक में संकलन-त्रय के आग्रही रहे हैं । संलाप छोटे-बड़े सब तरह के हैं, प्रभावशाली हैं, पर इनमें अभी विशेष चुस्ती नहीं दिखाई पड़ती । इन पर काव्यत्व का रंग गहरा है । अश्राव्य का व्यवहार इस संग्रह में अनेक स्थलों पर मिलता है । उदाहरणार्थ - 'ऐक्ट्रेस' और 'चम्पक' एकांकी नाटक में एक संवाद देखिए -

प्रभा - (संभलकर) कुछ नहीं । (स्वगत) मैं क्या कह गयी ? (बात बदलने के विचार से) आपका निवास-स्थान कहां है ? ऐक्स्ट्रेस

स्वर महाशय जी, मैं आ सकती हूं ?

किशोर - (स्वगत) किसी रमणी का कोमल कंठ-स्वर । (पकट)
आइये । - चम्पक

इन सब संवादों की भाषा अलग-अलग है....वातावरण और पात्र के अनुरूप । रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों का यह प्रथम संग्रह आधुनिक एकांकी के विकास की दिशा में एक निश्चित स्पष्ट चरण-चिह्न था ।

'रेशमी टाई' नामक दूसरे संग्रह में सन् 1937 और 1940 के बीच लिखे गये पांच एकांकी संकलित हैं । ये इस प्रकार हैं - 'परीक्षा', 'रूप की बीमारी', '18 जुलाई की शाम', 'एक तोले अफीम की कीमत' और 'रेशमी टाई' आदि । इस एकांकी संग्रह के नाटकों की कथानकों में कुतूहल के तत्त्व पर विशेष ध्यान रखा गया है । संलापों की भाषा में प्रौढ़ता आई है । काव्यात्मकता कम हुई है । पात्रों के अनुरूप स्वाभाविक भाषा पर अधिक बल दिया गया है । अस्वाभाविक स्वगत का व्यवहार छूट गया है ।

'चारूमित्रा' डॉ. रामकुमार वर्मा के अत्यधिक लोकप्रिय नाटकों में है । इस ऐतिहासिक एकांकी का सम्बन्ध सम्राट अशोक के जीवन से है । 'उत्सर्ग' भी अपने ढंग का एक सफल एकांकी है । इसमें एक अभिनव वैज्ञानिक आविष्कार की पृष्ठभूमि पर एक मानवीय कथा कही गई है । 'रजनी की रात' सामाजिक परिवेश में लिखित आकर्षक एकांकी है । इसमें लेखक ने स्त्री-पुरूष सम्बन्धी यह समस्या ली है कि क्या समाज में नारी का स्वतंत्र अस्तित्व सम्भव है ? इस नाटक में लेखक ने रजनी के मनोभावों को बड़े मनोवैज्ञानिक एवं कलात्मक रूप में अंकित किया है । उसके मन में संघर्ष का चित्रण इस उद्धृत अंश में देखा जा सकता है -

रजनी - (गहरी सांस लेकर) जीवन का पहला अनुभव । अकेली, सबसे अलग । मैंने कहा....साधना के लिए एकान्त की आवश्यकता है....आनन्द बाबू ने कहा..... समाज एक बिगड़ा हुआ जानवर है अगर मैं इस जानवर को पुचकार कर वश में न कर सकूंगा तो ऐसी गोली मार दूंगा कि वह तकलीफ से कराहने लगे । कितनी शक्ति...कितनी आत्मदृढ़ता ।....मैं समाज में चली जाऊं....? जाऊं....नहीं-नहीं, मैं यहीं रहूंगी....यहीं रहूंगी । (सोचती हुई पिताजी के तैल चित्र के पास जाकर) पिताजी,

मैं यहीं रहूंगी । मैं दुनिया को दिखलाना चाहती हूं कि सुख कहां और किस में है । लेकिन आपकी आंखों में आंसू....पिताजी ! (भावावेग से हट जाती है और अंगीठी के पास जाती है । बैठकर सोचते हुए) आ..नं..द..ओह ! कैसाजी हो रहा है ! (सोचती है । पुस्तक पढ़ने की कोशिश करती है, व्यर्थ । पुकार कर) केसर !

यह रजनी का स्वगत कथन है । इससे यह भी स्पष्ट है कि 'अब डॉ. वर्मा के पात्र अगर कहीं स्वगत कथन करते हैं, तो अकेले में ही - ऐसा नहीं कि एक स्वगत कहे और दूसरा प्रकट - जैसा कि पहले के नाटकों में हुआ था ।

'अन्धकार'पौराणिक कथा पर आधारित एकांकी है । इसका घटना स्थल स्वर्ग है । रामनाथ सुमन ने इस नाटक को दार्शनिक कहा है और इसे हिन्दी का ही नहीं बल्कि भारतीय साहित्य का एक सर्वश्रेष्ठ एकांकी नाटक माना है । डॉ. वर्मा जी के नाटकों के संलापों की भाषा वातावरण और प्रसंग के अनुसार बदलती रही है । ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटकों में - प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति से सम्बन्धित नाटकों - तत्सम प्रधान शुद्ध हिन्दी का व्यवहार हुआ है । उनके नाटकों में सीधी-सादी भाषा बोलने वाले पात्र कम मिलते हैं - अलंकृत भाषा का ही व्यवहार अधिक पात्र करते हैं । ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में यह विशेष रूप से मिलती है । 'कादम्ब या विष ?' से एक छोटा-सा उदाहरण देखा जा सकता है -

"सुनन्दा - जो आज्ञा । अभी जाऊं ?

अनन्त - नहीं, आर्य-पुत्र शयन मंदिर में आना ही चाहते हैं । मैं उनके स्वागत के मनोभावों में होना चाहती हूं । मेरी वाणी सन्देशवाहक राजहंस के शब्दों सी हो । मेरा विरहोच्छवास सारिका के मधुर-स्वर-सा हो । मेरा प्रणय निवेदन कोकिल के कूजन-सा हो और मेरी दृष्टि चन्द्रिका-पान में मद-विह्वल चकोर की दृष्टि हो ।

ऐसी भाषा से संलापों में सौन्दर्य और माधुर्य आया है, इसमें सन्देह नहीं, हर कहीं-कहीं इससे नाटक की गति में बाधा पड़ती है - वैसे स्थलों पर विशेष रूप से जहां

संलाप बड़े-बड़े हैं, और जहां पात्र कुछ क्षण रूक कर गद्य में कविता करने लगते हैं । ऐतिहासिक नाटकों में ऐसे अंश अधिक आये हैं ।

भुवनेश्वर प्रसाद

इनका पहला एकांकी संग्रह 'कारवां' सन् 1935 में प्रकाशित हुआ । कारवां में संकलित नाटक इस प्रकार है - 'श्यामा : एक वैचारिक विडम्बना', एक साम्यहीन साम्यवादी, शैतान, प्रतिभा का विवाह, रोमांस, रोमांच और लाटरी । भुवनेश्वर के नाटकों में जो प्रभाव है उसका रहस्य कथानक-निर्माण और चरित्र-चित्रण में उतना नहीं, जितना संलापों और व्यंग्य-वक्रोक्तियों में है । इनमें प्रसिद्ध नाटककार शा का प्रभाव परिलक्षित होता है । भुवनेश्वर जी नाटक में भावुकता के विरोधी हैं, और इसीलिए इनके संलापों में न भावुकता दिखाई पड़ती है, न काव्यात्मकता, न अलंकृत शैली । इनमें वाक्-विदग्धता है, व्यंग्य है, तीखापन है । उदाहरण के लिए शैतान का एक अंश उद्धृत है -

हरदेव सिंह - खैर, अब तुम्हारा इरादा क्या है ? मामा जी की मृत्यु के बाद.......

राजेन - (जैसे उससे किसी ने परमात्मा का स्वरूप पूछ लिया हो) मेरा इरादा !..... मैं क्या कह दूं ?

स्त्री - (जैसे मृत्यु का आवाहन सुना रही हो) हम लोग जानना चाहते हैं कि तुम्हारा क्या धर्म है ?

राजेन - (उत्साहित सा) मैं एक बड़ी स्टेट का उत्तराधिकारी हूं, यही मेरा धर्म है ।

स्त्री - मैं यह पूछती हूं कि तुम हिन्दू हो ?

राजेन - भाभी जी ! (वह जैसे सन्नाटे में आ गयी है)

हरदेव सिंह - हम तुम्हारा धार्मिक विश्वास पूछते हैं, तुम हिन्दुओं के ईश्वर को मानते हो ?

राजेन - मैं एक ऐसे ईश्वर को मानता हूं, जो समस्त मानव धर्म और जाति का विधायक और पोषक है ।

स्त्री - (उत्साहित होकर) ब्रह्म !

राजेन - रूपया ! रूपया !

इसके अतिरिक्त उन्होंने 'स्ट्राइक', 'ऊसर' और 'आजादी की नींद' नाटकों की रचना की ।

भुवनेश्वर प्रसाद के एकांकी नाटकों का हिन्दी एकांकी के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है ।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

आधुनिक हिन्दी एकांकीकारों में भुवनेश्वर प्रसाद की तरह ही उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नाम उल्लेखनीय है । इनके एकांकी संग्रहों के नाम इस प्रकार हैं - देवताओं की छाया में, चरवाहे, पक्का गाना, पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ, अंधी गली और साहब को जुकाम है ।

'लक्ष्मी का स्वागत' अश्क की प्रारंभिक कृतियों में होते हुए भी इनके उत्कृष्ट एकांकी नाटकों में है, जो 'देवताओं की छाया में' सकलित है । इसमें एक शिक्षित विधुर नवयुवक और उसके धन लोलुप हृदयहीन माता-पिता का चित्रण किया है । कथानक की नींव पुत्र और माता-पिता के स्वार्थों के संघर्ष पर है । यही संघर्ष नाटक को अन्त तक टिकाए रहता है, और अन्त के चरम बिन्दु पर यहीं संघर्ष एक तीव्र करुण व्यंग्य में परिणत हो जाता है -

पिता - (सीढ़ियों से ही) रोशन की मां बधाई हो, मैंने शगुन ले लिया ।

(कमरे का दरवाजा खुलता है, मृत बालक का शव लिये रौशन आता है) ।

सुरेन्द्र - मां जी, जाकर दाने लाओ और दिये का प्रबन्ध करो ।

लेखक ने वातावरण के उपयुक्त ही संवाद रखे हैं - रौशन कहता है - "यह वर्षा, यह आंधी, यह मेरे मन में हौल पैदा कर रहे हैं । कुछ अनिष्ट होने को है ।"

सेठ गोविन्ददास

हिन्दी के आधुनिक एकांकीकारों में सेठ गोविन्ददास का नाम बहुत महत्वपूर्ण है । इनका एकांकी लेखन सन् 1936 से प्रारंभ होता है । 'सप्तरश्मि', 'एकादशी', 'पंचभूत', 'चतुष्पथ' आदि इनके एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं । सेठ जी ने अपने ऐतिहासिक एकांकी तो इतिहास के पृष्ठों से चुने हुए प्रसंगों पर लिखे हैं, पर सामाजिक नाटकों में इस युग की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला है । ये समस्यायें मुख्यतः उच्च वर्ग की हैं । सेठ जी ने अपने अनेक एकांकी नाटकों मे उपक्रम और उपसंहार की अवतारणा की है । यह हिन्दी एकांकी को मौलिक देन है ।

आधुनिक हिन्दी-एकांकी के क्षेत्र में अन्य एकांकीकारों का नाम भी अग्रणी है । जगदीशचन्द्र माथुर ने नाट्य-शिल्प की दृष्टि से विशेष कौशल का परिचय दिया है । इन्होंने घटनाओं के विस्तार में न जाकर जीवन की किसी एक मार्मिक घटना को लिया है, और इस पर अपने नाटक को आधारित किया है । आधुनिक ढंग के एकांकी नाटकों का लेखन सन् 1936 से प्रारंभ किया । सर्वप्रथम इन्होंने 'मेरी बांसुरी' की रचना की । सन् 1937 और 1943 के बीच लिखे गए पाँच एकांकी 'भोर का तारा', 'रीढ़ की हड्डी', 'कलिंग-विजय', 'मकड़ी का जाला' और 'खंडहर' । ये सभी 'भोर का तारा' पुस्तक में संकलित हैं । श्री माथुर संवादों की भाषा-शैली के प्रति भी बहुत जागरूक हैं । इनके संवादों की भाषा वातावरण एवं पात्रों के अनुरूप है । इनके संवाद ऐसे हैं, जिन्हें अभिनेता सरलता से बोल सकें । इनके संवाद में छोटे-छोटे वाक्य हैं, जिनमें पर्याप्त गति है, प्रवाह है । भावावेश के क्षणों के संवादों में एक विचित्र काव्यात्मकता, तरलता और लयपूर्णता है ।

राष्ट्रीय नैतिक चेतना को वाणी देने वाले प्रसिद्ध नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी हैं । इनके एकांकी नाटकों की रचना इस प्रकार है - 'सेवा-मन्दिर', 'मातृ-मन्दिर', राष्ट्र मन्दिर', 'मान मन्दिर', 'बादलों के पार', 'प्रेम अन्धा है', 'मातृभूमि का मान' आदि । गोविन्द वल्लभ पंत ने भी एकांकी नाटक लिखे - 'विषकन्या', 'अपराध मेरा ही', 'बड़े दिन का शिकार', 'जहरीला दांत' आदि । भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ. सत्येन्द्र, सिद्धनाथ कुमार आदि एकांकीकारों के नाम भी उल्लेखनीय है । इन्होंने नाटक की सार्थकता उसके प्रदर्शन में ही है, अतः ऐसे ही एकांकियों की रचना की है । इस युग में

एक विशेष बात यह मिलती है कि रेडियो ने हिंदी एकांकी को बहुत प्रभावित किया है । और रेडियो ने हिन्दी एकांकी के विकास में पर्याप्त योग दिया है ।

रेडियो नाटक तथा एकांकी नाटक दोनों तात्त्विक दृष्टि से एक दूसरे के समकक्ष हैं । रेडियो नाटक का आधार ध्वनि है, बस इसी के माध्यम से चरित्रों का उन्मीलन तथा प्रभाव की अन्विति सम्पन्न होती है । यह रेडियो का ही प्रभाव है कि आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट दृश्य काव्य श्रव्य बन गया है । नाटकों भांति रेडियो नाटकों को रंगमंच या साज सज्जा की आवश्यकता नहीं होती, अतः रंगमंच में जो असुविधाएं हैं उनका परिहार रेडियो नाटकों में भली भांति हो जाता है । रेडियो नाटक के व्यापक उपकरण तीन हैं - भाषा, ध्वनि प्रभाव तथा संगीत । भाषा का प्रयोग परस्पर संवाद में भी होता है और किसी व्यक्ति द्वारा वर्णनात्मक अंशों के लिए भी । वास्तव में जो बातें संवादों द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकतीं उनको वर्णन से पूरा कर लिया जाता है । ध्वनि प्रभाव से अनेक प्रकार के दृश्य, वस्तु तथा रंग चित्रण आदि प्रदर्शित किये जाते हैं । संगीत का प्रयोग भी इसी प्रकार के दृश्यांकन एवं मनोप्रभावों को सम्प्रेषणीय बनाने के लिए होता है । संगीत के प्रभाव से नाटक की पृष्ठभूमि तैयार की जाती है । इसलिए इसकी नितान्त आवश्यकता है ।

रेडयो नाटकों मे नाटक की भांति ही कौतूहल और संघर्ष की प्रधानता रहती है । रेडियो के लिए लिखने वाले नाटककारों में डॉ. रामकुमार वर्मा, विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर माचवे, कृष्णचन्द, रेवतीसरन शर्मा, हरिश्चन्द्र खन्ना, सिद्धनाथ कुमार, स्वदेश कुमार, कृष्णकिशोर श्रीवास्तव, विशम्भर 'मानव' चिरजीत, राजाराम शास्त्री प्रभूति उल्लेखनीय हैं । इनके रेडियो के प्रमुख नाटकों का संवाद आगे क्रमशः प्रस्तुत है -

कृष्णचन्द

आल इण्डिया के प्रारंभिक नाटककारों में उल्लेखनीय नाम है। - कृष्णचन्द । कृष्णचन्द के प्रसिद्ध नाटक हैं - 'बेकारी', 'हजामत', 'दरवाजा', 'नीलकण्ठ', 'काहिरा की एक शाम', 'सराय के बाहर', 'बदसूरत राजकुमारी', 'मंगलीक', 'एक रूपया एक फूल' आदि ।

कृष्णचन्द ने अपने नाटकों में रेडियो के श्रव्य माध्यम का ध्यान रखा है । शब्दों और ध्वनियों के द्वारा यथोचित वातावरण का निर्माण किया है । 'नीलकंठ' में वातावरण का यह चित्र देखा जा सकता है । यथा -

जिज्ञासु - महाराज, महाराज आप लुप्त हुये जा रहे हैं - इसी मृत्यु के रोग में अदृश्य हुये जा रहे हैं ।
शिवाजी - देखो जिज्ञासु, देखो ।
जिज्ञासु - गंगा की फूटती हुई धारा फैलती जा रही है - डमरू की ध्वनि तीव्र होती जा रही है - मस्तक की आंख के लाल-लाल डोरों में से ज्वाला फूट रही है ।
शिवाजी - देखो जिज्ञासु, देखो ।
जिज्ञासु - गंगा की धारा ने समस्त संसार को अपनी लपेट में ले लिया - मस्तक की आंख की ज्वाला ब्रह्माण्ड के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गयी है ! तेज - चहुं ओर तेज ही तेज !"[1]

कृष्णचन्द के संवादों में भी शक्ति है । प्रसंग के अनुसार उनमें विविधता आयी है ।

विष्णु प्रभाकर

विष्णु प्रभाकर ने आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी दृष्टिकोण से शताधिक रेडियो रूपक प्रस्तुत किए हैं, जिन्हें डॉ. रामचरण महेन्द्र ने छः वर्गों में विभक्त किया है - 1. सामाजिक, 2. मनोवैज्ञानिक, 3. राजनीतिक, 4. हास्य-व्यंग्य प्रधान, 5. ऐतिहासिक पौराणिक, 6. राष्ट्रीयता प्रचारक । इन्होंने रेडियो नाटक के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हुए स्वयं लिखा है - "सच तो यह है कि अभी तक मैंने रेडियो के लिए ही लिखा है । उनमें से कई एकांकी रंगमंच पर आये हैं और उन्होंने मेरे विश्वास को दृढ़ किया है

---

1. सराय के बाहर : लेखक कृष्णचन्द्र, पृ.-89 ।

कि रंगमंच और रेडियो कला की दृष्टि से बिल्कुल दो चीजें हैं ।"[1] इनके प्रमुख एकांकियों में 'बन्धन-मुक्त', 'इन्सान', 'बीमार', 'क्रान्ति', 'प्रो. लाल', 'मूर्ख', 'कांग्रेसमैन बनो', 'अशोक', 'नया-समाज' आदि उल्लखनीय हैं । इन्होंने अपने रेडियो एकांकियों में युग, समाज और राष्ट्र की गंभीरतम समस्याओं को कलात्मक रूप प्रदान करके न केवल कला की अपितु राष्ट्र की भी बड़ी भारी सेवा की है ।

विष्णु प्रभाकर ने स्वगत नाट्य भी लिखे हैं जिसमें प्रारंभ से अन्त तक एक ही पात्र बोलता रहे, उसमें नाटकीयता बनी रहे, इसके लिये बड़ी सतर्कता और कुशलता अपेक्षित है । इन्होंने चार मोनोलॉग लिखे हैं - 'सड़क', 'धुंआ', 'नये-पुराने' और 'नहीं-नहीं-नहीं' । इन सभी नाटकों के पात्रों के मन में किसी न किसी प्रकार का द्वन्द्व है । उदाहरणस्वरूप - 'धुंआ' प्रबोध ने अपने मित्र की पत्नी मंजरी से प्रेम किया है, पर नीरजा से विवाह, - इसके मन में भी संघर्ष है । इन नाटकों में ऐसे स्थल भी आये हैं, जहां विरोधी भावों का संघर्ष बड़ा तीव्र हो गया है । धुआं का एक स्थल उदाहरणस्वरूप उद्धृत किया जा सकता है -

प्रबोध - वह दूसरे की पत्नी थी । वह छिपाकर मेरे पत्र पढ़ा करती थी । वह मुझसे प्रेम नहीं करती थी ।.....(क्षणिक शान्ति) वह मुझसे प्रेम नहीं करती थी । तो....तो वह खिंचाव क्यों था ? (आवेग बढ़ता है) क्यों वह मेरे बिना तड़पती थी ? क्यों उसके पत्रों में उसके हृदय की कराहट छिपी रहती थी ? क्यों.....क्यों आखिर ? (संगीत उभरता है, धीमा पड़ता है) क्यों का जवाव जानना चाहते हो.....सुनो वह मेरी ओर इसलिए खिंच रही थी क्योंकि उसे अपने पति से वह कुछ नहीं मिला था जो वह चाहती थी, उसकी इच्छाएं पूरी न हो पायी थीं और वह उन्हें पूरा करना चाहती थी । वह मुझसे प्रेम नहीं करती थी (उतना ही आवेश) नहीं करती थी ।

करती थी (संगीत तेज होकर बन्द होता है, क्षणिक शान्ति । फिर धीरे-धीरे बोलता है) यह मुझे क्या हो गया ? मैं इतना भी नहीं समझता कि वह मुझे प्रेम करती थी या नहीं करती

---

1. मैं नाटक कैसे लिखता हूं ? : लेखक, विष्णु प्रभाकर साहित्य सन्देश, दिसम्बर 1955, पृ.-260 ।

थी । ठीक है, उसके पति थे, पर पति केवल स्वामिनी का स्वामी ही नहीं होता, सखा भी है । वह पहले सखा है । पहले और पीछे क्या ? वह सदा, सब कहीं सखा है, केवल सखा । जो पति इस बात को भूल जाता है वह आदमी नहीं शैतान है और शैतान के साथ शैतानियत करने में कोई पाप नहीं है ।.......

हिन्दी के रेडियो-नाट्य साहित्य को विष्णु प्रभाकर की देन बहुत बड़ी है । अपने सफल प्रयोगों के लिए इनकी कृतियों का मूल्य है ।

रेवतीसरन शर्मा

रेडियो के लिए लिखने वाले सशक्त नाटककारों में रेवतीसरन शर्मा भी हैं । इनके रेडियो नाटक प्रमुख हैं - आंसू, नग्मे की मौत, किस्मस की शाम, सो जाने दो, एक लमहा पहले, अभागिन, मुझे जीने दो, चढ़ाव-उतार, रोशनी, अंधेरा-उजाला, पत्थर और आंसू, दुश्मन, इकतारा, डाक्टर बी बी, इन्सान, अमावश का अन्धकार, फूल और चिनगारी आदि हैं । इनके नाटकों का धरातल मुख्यतः भावात्मक है । शर्मा जी का 'इकतारा' शिक्षिता-अशिक्षिता नारी से विवाह से संबंधित कथानक पर आधारित है । इसमें भी स्मृति-दृश्य आए हैं । इसमें दृश्य-परिवर्तन का एक कलात्मक प्रयोग दिखाई पड़ता है -

प्रबोध - (थके लहजे में) शायद मैं पागल हूं, बाबू जी ! आप ऐसा समझें तो बेहतर होगा ।
(एक फ्लेश कट यानी समाप्त, दूसरा फ्लेश बैक शुरू)
विमला - मेरे लिए यही बेहतर होगा ?
प्रबोध - हां विमला !

शर्मा जी के नाटकों में संलाप नाटकीय और शक्तिशाली हैं । श्रव्य माध्यम पर ध्यान रखने के कारण लगभग सभी नाटक सफल बन पड़े हैं ।

हरिश्चन्द्र खन्ना

हरिश्चन्द्र खन्ना आकाशवाणी से बहुत वर्षों तक सम्बद्ध रहे । इनकी विशेषता है

खुली आंखों से देखते हैं, इसलिए उसके संबंध मे अपने विचार व्यक्त किये हैं, उसकी समस्याओं को चित्रित किया है । लेखक के पास भाषा है, वाक्पटुता भी, और वह रोचक संलाप लिखता जाता है, रोचक बातें कहता जाता है । यही कारण है कि अपने अंशों में ये रूपक आकर्षक लगते है, संक्षिप्त संलाप कहीं-कहीं अवश्य आये हैं, पर अधिक संलाप बड़े-बड़े ही है । एक उदाहरण 'गली के मोड़ पर' मे देखा जा सकता है -

सु.का. - तुम्हें यह विज्ञापन पढ़ने की क्या जरूरत ? भली चंगी सिपाहियानी नौकरी है । तुम्हें तो कोई व्यवसाय का चक्कर नहीं है । यह कठिनाई तो हम जैसे कलाकारों के लिए है - जो अपनी कला का व्यवसाय नहीं बनाना चाहते ।

मी.रा. - कवि सुकोमल जी ! आप इतनी सी भी मेरे दिल की बात नहीं जानते । आप कवि होकर नाम के ही सुकोमल हैं । क्या आप नहीं जानते कि जीवन में नौकरी पाना, बिना परिश्रम के एक अच्छी खासी तनख्वाह हर माह डकार लेना ही जीवन में काफी नहीं है । जीवन में वेतन और सस्थिरता के बाद आदमी क्या चाहता है ?

प्रभाकर माचवे की रचनाओं में विषयों की विविधता है । उसमें हमारे जीवन का पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय, कोई न कोई पहलू अवश्य ही चित्रित हुआ है ।

सिद्धनाथ कुमार

सिद्धनाथ जी ने रेडियो-नाट्य शिल्प की सूक्ष्मताओं का विशेष रूप से अध्ययन किया है । रेडियो नाटक पर उन्होंने 'रेडियो-नाट्य-शिल्प' नामक पुस्तक की भी रचना की है । इन्होंने कई प्रकार के नाटक लिखे हैं जो इस प्रकार हैं - 'प्रकाश की विजय', 'दुनिया खड़ी है', 'अश्वमेघ', 'दोषी कौन', 'विषाद की छाया', 'आदमी की कीमत', 'रंग और रूप', 'विजेता', 'टूटा हुआ आदमी', 'अभिशप्त' आदि । इन्होंने अपने नाटकों का विषय

कि इन्होंने श्रव्य-शिल्प का सूक्ष्मता के साथ अध्ययन किया है - सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूपों में । रेडियो-नाटक के रूप में इन्होंने मुख्यतः मनोवैज्ञानिक नाटक लिखे हैं, जिनमें प्रमुख हैं - 'मुर्दे जागते हैं', 'अपमान', 'मुक्ति क पथ पर', 'मांस और मानस', 'खंडहर', 'राख और कलियां', 'कायर' आदि । इन्होंने अपने नाटकों में मनुष्य के उपचेतन विश्लेषण का प्रयत्न किया है । खन्ना जी संवाद-लेखन में बड़े कुशल हैं । वातावरण और प्रसंग के अनुसार छोटे-बड़े सब प्रकार के संलाप इनके नाटकों में आए हैं । अति संक्षिप्त संलापों द्वारा किस प्रकार घटना-विकास और भाव-व्यंजना का काम हो सकता है । यथा -

शारदा - अच्छे तो हो ?
अनिल - अच्छा हूं ।
शारदा - खाक अच्छे हो ?
अनिल - क्यों ?
शारदा - जब अच्छे होते तो भला ऐसे लगते हा क्या ?
अनिल - कैसा लगता हूं ?
शारदा - छिपाओ मत, बताओ क्या बात है ?
अनिल - तुमसे कभी कुछ छिपाया है ?

और इसी प्रकार बातों का क्रम चलता है । जहां कहीं आवेग के स्थल आए हैं वहां उसके अनुरूप भाषा भी बदली है । इनकी कृतियों में ध्वनि-प्रभाव और संगीत का भी व्यवहार कलात्मक रूप में किया गया है ।

प्रभाकर माचवे

प्रभाकर माचवे जी ने रेडियो के लिए बहुत कुछ लिखा है । इन्होंने गद्य नाटक के साथ-साथ काव्य एकांकी भी लिखे हैं । इनके कुछ मुख्य एकांकी इस प्रकार हैं - 'वधू चाहिए' (तीन भाग), 'अभियोग' (दो भाग), 'गली के मोड़ पर' (तीन भाग), 'पंचकन्या' (पांच भाग), 'गांधी की राह पर' इत्यादि । इन्होंने रेडियो के लिए कई प्रसिद्ध कृतियों के रूपान्तर भी प्रस्तुत किए हैं, जिनमें 'यशोधरा', 'कामायनी' और 'वाणभट्ट की आत्मकथा' आदि के नाम लिए जा सकते हैं । माचवे जी युग-जीवन के प्रति बहुत ही जागरूक हैं, और दुनिया को

खुली आंखों से देखते हैं, इसलिए उसके संबंध में अपने विचार व्यक्त किये हैं, उसकी समस्याओं को चित्रित किया है । लेखक के पास भाषा है, वाक्पटुता भी, और वह रोचक संलाप लिखता जाता है, रोचक बातें कहता जाता है । यही कारण है कि अपने अंशों में ये रूपक आकर्षक लगते हैं, संक्षिप्त संलाप कहीं-कहीं अवश्य आये हैं, पर अधिक संलाप बड़े-बड़े ही हैं । एक उदाहरण 'गली के मोड़ पर' में देखा जा सकता है -

सु.का. - तुम्हें यह विज्ञापन पढ़ने की क्या जरूरत ? भली चंगी सिपाहियानी नौकरी है । तुम्हें तो कोई व्यवसाय का चक्कर नहीं है । यह कठिनाई तो हम जैसे कलाकारों के लिए है - जो अपनी कला का व्यवसाय नहीं बनाना चाहते ।

मी.रा. - कवि सुकोमल जी ! आप इतनी सी भी मेरे दिल की बात नहीं जानते । आप कवि होकर नाम के ही सुकोमल हैं । क्या आप नहीं जानते कि जीवन में नौकरी पाना, बिना परिश्रम के एक अच्छी खासी तनख्वाह हर माह डकार लेना ही जीवन में काफी नहीं है । जीवन में वेतन और सस्थिरता के बाद आदमी क्या चाहता है ?

प्रभाकर माचवे की रचनाओं में विषयों की विविधता है । उसमें हमारे जीवन का पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय, कोई न कोई पहलू अवश्य ही चित्रित हुआ है ।

सिद्धनाथ कुमार

सिद्धनाथ जी ने रेडियो-नाट्य शिल्प की सूक्ष्मताओं का विशेष रूप से अध्ययन किया है । रेडियो नाटक पर उन्होंने 'रेडियो-नाट्य-शिल्प' नामक पुस्तक की भी रचना की है । इन्होंने कई प्रकार के नाटक लिखे हैं जो इस प्रकार हैं - 'प्रकाश की विजय', 'दुनिया खड़ी है', 'अश्वमेघ', 'दोषी कौन', 'विषाद की छाया', 'आदमी की कीमत', 'रंग और रूप', 'विजेता', 'टूटा हुआ आदमी', 'अभिशप्त' आदि । इन्होंने अपने नाटकों का विषय

समसामयिक लिया है लेकिन कुछ नाटकों के विषय ऐतिहासिक हैं और कुछ के पात्र मनोवैज्ञानिक । सिद्धनाथ कुमार ने दृश्यान्तर के लिए अनेक प्रयोग किये हैं । सामान्यतः दृश्यान्तर के लिए संगीत या शान्ति का भी व्यवहार किया जाता है, पर इन्होंने इनसे भिन्न साधनों का भी व्यवहार किया है । 'रंग और रूप' का एक उदाहरण देखिए -

एंजिलो किशोर - (हंसते हुए) वह तो कह रहा था कि एक चित्र के चालीस ही काफी होंगे । (हंसी) ।
(युवक एंजिलो की हंसी वृद्ध एंजिलो की हंसी में परिवर्तित हो जाती है । स्मृति दृश्य समाप्त)

एंजिलो (वृद्ध) - (हंसी)

दूसरा एक उदाहरण और देखिए - 'अम्बपाली' के रूपान्तर से है -

अम्बपाली - वैशाली और मगध की शत्रुता नयी नहीं है मगध वैशाली की उन्नति नहीं देख सकता, वृज्जि संघ का गौरव उसके अन्तर का जला रहा है । जानती है, अजातशत्रु ने क्या कहा है ?

चयनिका - क्या कहां है भद्रे ?

अम्बपाली - अजातशत्रु ने कहा है, वैशाली (फेड आउट)

अजातशत्रु - (फेड इन) को 'पददलित' कर दूंगा । उसके गौरव को धूल में मिला दूंगा ।......

सिद्धनाथ कुमार जी ने नाटकों की प्रभावोत्पादकता बढ़ाने की दृष्टि से ध्वनि-प्रभावों के उचित उपयोग पर ध्यान दिया है ।

अन्य नाटककारों में कर्त्तारसिंह दुग्गल, चिरंजीत, भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर आदि नाटककार रेडियो नाट्य-क्षेत्र में अनेकानेक काम कर रहे हैं । कर्त्तारसिंह दुग्गल जी का 'अल्लामेघ दे', भारतभूषण अग्रवाल का 'महाभारत की सांझ', माथुर जी का जनम कैद आदि एकांकी रेडियो नाटक प्रसिद्ध है । प्रसिद्ध कवि 'अज्ञेय' जी ने भी रेडियो नाटकों की रचना की है । इनके नाटक निम्न हैं - 'कविप्रया', 'बसन्त' और 'जयदोल' ।

अमृतलाल नागर ने भी रेडियो के लिये विभिन्न प्रकार की रचनाएं की हैं । यदि उन्होंने 'उजाले से पहले' और 'भारतेन्दु कला' - जैसे रूपक लिखे हैं, तो 'उतार-चढ़ाव', चक्करदार सीढ़ियां, 'अंधेरा' आदि मनोवैज्ञानिक नाटक भी लिखे हैं । हिमांशु श्रीवास्तव ने गम्भीर और हल्के-फुल्के दोनों प्रकार के नाटक लिखे हैं - 'सभ्यता और संगीन', 'चिराग तले अंधेरा', 'दोस्ती महंगी पड़ी', 'खरीदे हुए सपने' आदि उल्लेखनीय हैं ।

हिन्दी में रेडियो नाट्य-लेखन के अभी लगभग पच्चीस वर्ष हुए हैं इस छोटी-सी अवधि में बहुत बड़ी संख्या में रेडियो नाटक लिखे गए हैं और लिखे जा रहे हैं । रेडियो के लिए लिखित नाट्य-रचनाओं की संख्या बहुत ही बड़ी होते हुए भी शिल्प की दृष्टि से उत्कृष्ट नाटकों की संख्या बहुत छोटी है । रेडियो नाट्य शिल्प का जितना और जैसा विकास हो सकता था, नहीं हो पाया । फिर भी कथानक-निर्माण, चरित्र-चित्रण, संवाद, ध्वनि प्रयोग आदि सभी दृष्टियों से कुशलता बरतने पर रेडियो-नाटक के भावी विकास पर आशा प्रकट की जा सकती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का एकांकी साहित्य आज पर्याप्त उन्नत दशा में है ।

उपसंहार

'साहितस्य भावः इति साहित्यम्' के अनुसार सम्पूर्ण विश्वजनीन संवेदनाओं का समाहरण साहित्य है । अन्तश्चेतना की अविभूति संस्कृति है और बाह्य परिवेश सभ्यता । मानव-संस्कारों का उच्छ्वास संस्कृति का आधारपीठ है और समग्र जीवन के व्यापार सभ्यता के विचार बिन्दु । साहित्यकार व्यष्टि और समष्टि का समन्वय करता है । वह स्वतः संस्फूर्ति प्रेरणा के आधार पर अहं का विस्फोट करता है, किन्तु युग सापेक्ष है - 'जहां न जाय रवि, वहां जाय कवि' तथा 'कवयः युग दृष्टाः और कविमनिषी परिभः स्वयंभूः' के आधार पर रचनाकार न केवल युग-निदेर्शक, पथ-प्रदर्शक एवं परिवर्तन का प्रहरी होता है, बल्कि वह स्वयं सृष्टि की गति, यति और नियति का नियामक भी होता है । संस्कृति साहित्यकार की   शक्ति है । शाश्वत एवं उदात्त संकल्पनाओं का समूहीकरण संस्कृत की   है और साहित्यकार इसी की मूल चिन्तन धारा में अवगाहन करता है । संस्कृतियों मे ध्वंसवशिष उसे प्रेरणा देते हैं और सभ्यतामूलक परिवेश उसे प्रोत्साहित करता है, किन्तु साहित्यकार संस्कृति की शृंखलाओं से जकड़ा हुआ प्राणी नहीं है । युग-युग के दुर्धर्ष पदों की पदचापें उसकी हृदय-तंत्री में झंकारती है और रचनाकार: साहित्य सृष्टा बन जाता है ।

साहित्य हमारे सांस्कृतिक जीवन की रक्षा का एक साधन है । उसी के द्वारा युग-प्रवृत्तियों की मांग और उनकी पूर्ति की सर्वांगीण रक्षा होती है । अतएव साहित्य और उसको सम्पन्न करने और रखने वाले तत्त्वों की अवहेलना करना संस्कृति और विकास की मर्यादा में विघ्न डालना है । साहित्य के अन्य अंगों की भांति 'नाटक' की भी अपनी विशेषताएं होती हैं । साहित्य के 'काव्य' रूप से 'नाटक' को पृथक करने में 'अभिनय' अंश प्रधान है । प्राचीन आचार्यो के अनुसार नाटक में तीन अवयव प्रधान माने गए हैं - वस्तु, पात्र और रस । आदर्श नाटक वही है जो इन सभी कलात्मक लक्षणों से युक्त है और ऐसे ही नाटकों से युक्त साहित्य वास्तव में 'नाटक-साहित्य' की संज्ञा से पुकारे जाने का अधिकारी है ।

मूल में हमारे हिन्दी के नाटक साहित्य की समस्त प्रेरणायें संस्कृत की अनुगामिनी है परन्तु वर्तमान हिन्दी नाटक साहित्य में पश्चिमी दृष्टिकोण को काम में लाने की प्रथा भी खूब चल निकली है । हम सदा से आदर्शवादी और आशावादी रहे हैं, अतएव इन प्रवृत्तियों की अभिव्यंजना हमारे नाटकों में स्वाभाविक है ।

भारतेन्दु जी के पूर्व हिन्दी नाटकों के सवादों में मुख्यतः भक्तियुग की लोक नाट्य परंपराएं - स्वांग, रासलीला, रामलीला - वर्तमान थां । लेकिन पूर्व भारतेन्दु काल के नाटककारों का ध्यान संस्कृत नाट्य-शैली की ओर भी जाने लगा था और तीसरी ओर उनमें इन दोनों नाट्य परम्पराओं को समन्वित करने की प्रवृत्ति भी उभर रही थी । अमानत की 'इन्दर-सभा', गणेशकवि का 'प्रद्युम्न विजय' और गिरिधरदास तथा महाराज विश्वनाथ सिंह के नाटकों के संवाद - इन्हीं तीन प्रवृत्तियों के विकसित रूप थे ।

भारतेन्दुकालीन नाटककारों ने अपने नाटकों मे उस संवाद शैली को अपनाया जो देशकालानुसार परिवर्तन और परिवर्द्धन की शक्ति और क्षमता रखती है । यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि 'तत्कालीन नाटकों की पद्धति में बाह्य दृष्टि से अनेक परिवर्तन हुए, किन्तु आत्मा अनेक अंशों में भारतीय बनी रही ।' इतनी अधिक जागरूकता होते हुए भी उस काल के नाटकों में नाट्यकला का उत्कर्ष नहीं हुआ । उस समय के नाटककारों का ध्यान कला की सजावट की ओर न था, क्योंकि उनका जीवन समाज और देश के संघर्षो से घिरा था । वे आंखें खोलकर देश की दुर्दशा देख रहे थे । इस काल में संवादों के माध्यम से नाटकों का लक्ष्य जीवन का नवनिर्माण परिलक्षित होता है ।

प्रसाद के नाटकों पर तत्कालीन युग का अमिट प्रभाव है । एक ओर उनके नाटकों के पात्रों के संवादों में उदात्त ध्येयवाद दृष्टिगोचर होता है तो दूसरी ओर प्रेमासक्ति भी । उनके नाटकों में प्रेम-मनोविज्ञान के कई मनोज्ञ चित्र अंकित हुए हैं । इसी कारण उनके नाटकों के संवादों में मनोविज्ञान संबंधी अनेक धारणाओं तथा सिद्धान्तों का चमत्कार पाते हैं । कुछ संवादों में नाटककार का अचेतन मन दृष्टिगत होता है । इस युग के अन्य नाटककार के नाटकों के संवादों में देशनिष्ठा, जीवननिष्ठा तथा सर्वकष सेवाभाव का मनोज्ञ चित्रण हुआ है । भट्ट जी के नाटकों पर उनके सम्पन्न एवं काव्यमय व्यक्तित्व की गहरी छाप है । वृन्दावनलाल वर्मा के नाटकों के संवादों में मनोविज्ञान का यथार्थ निरूपण हुआ है ।

प्रसादोत्तर हिन्दी नाटकों के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि ये नाटक रोमांस एवं भावावेश के विरूद्ध सशक्त यथार्थवादी आन्दोलन के वाहक हैं । यथार्थ के प्रति इनका आग्रह प्रमुख है । इस युग में लिखे गए नाटकों में भाव से विचार और विचार से सूक्ष्म

संवेदनाओं के स्तर पर खोज हुई है । इसे खोज में व्यक्ति का आन्तरिक व्यक्तित्व ही विश्लेषित हुआ है ।

नये नाटकों में नाटककार अपने कथ्य का बोध कराने के लिए पात्रों के माध्यम से सांकेतिक भाषा, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, संवादों का सहारा लेता हैं और संवादों में नये

पाश्चात्य नाट्य शिल्प के प्रभाव से जागरूक नाटककार एकांकी के लिए संघर्ष को अनिवार्य मानने लगे लकिन नाट्य-कृतियों में एकांकी की विशेषताओं का सन्निवेश करना सरल नहीं है । नाट्य प्रतिभा सम्पन्न सजग कलाकार ही ऐसा कर सकते हैं । आधुनिक हिन्दी एकांकी के क्षेत्र में ऐसी प्रतिभायें बहुत अधिक नहीं है । एकांकी नाटक के जन्मदाता डॉ. रामकुमार वर्मा प्रारंभ से अब तक निरन्तर इस क्षेत्र में कार्य करते रहे हैं । इस युग के नाटकों के प्रतिनिधि लेखकों ने संलाप-लेखन में भी कुशलता दिखलायी । इन्होंने सिद्धान्त रूप में इसे स्वीकार किया कि संलाप की सार्थकता नाटक के प्रयोजन सिद्ध करने में है, उसका सौन्दर्य बनने में नहीं । इसे व्यवहार में भी उतारने का प्रयत्न किया गया । संक्षिप्त और दीर्घ दोनों प्रकार के संलाप लिखे गए, पर कुशल लेखकों ने इस बात का ध्यान रखा कि दोनों का व्यवहार उपयुक्त स्थलों पर ही हो । सफल नाटकों के संलाप गतिशील है, उनके कार्य-व्यापार के विकास में सहायता मिलती है और चरित्र-चित्रण का कार्य भी सम्पन्न होता है । एक विशेष बात यह है कि रेडियो ने हिन्दी एकांकी को बहुत प्रभावित किया है ।

हिन्दी नाटक में संवाद का सर्वाधिक महत्व है । संवाद आजकल नाटकों का प्राण है क्योंकि आज का युग मनोविज्ञान प्रधान है और मनोविज्ञान का केन्द्र वही संवाद है । पात्रों की सजीव सृष्टि के लिए आवश्यक है कि संवाद ज्यादा लम्बे न हो । चरित्र का सही रूप उतारने के लिए रंगमंच पर संवादों की आवश्यकता पड़ती है । नाटककार कथोपकथन का विशेष रूप से ध्यान रखते हैं । नाटककार मानव जीवन का शाश्वत साथी है । उसकी नाट्यकला में पुरूष और पुरूषत्व और युग का चिरन्तन सत्य समाया रहता है । वह अपनी कला के माध्यम से जीवन के सत्य, सत्य का अन्वेषण, सत्य की परख और सत्य का ग्रहण खोजपूर्ण ढंग से करता है ।

यह सत्य है कि जीवन को गतिशील बनाए रखनेवाली व्यवस्थाएं जब विषम और कठिन होकर उसे गतिरूद्ध कर देती है तब उनमें परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है और यह अनिवार्यता विद्रोह के स्वर में बोलती है । परन्तु परिचम का अन्धानुकरण करते जाने वालों को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जीवन को सब ओर से स्पर्श करने वाली दृष्टि मूलत3 और लक्षतः सामंजस्यवादिनी ही होती है । अतः हमें विश्व-रंगमंच की नवीनतम उपलब्धियों को अपनाते हुए, अपनी भारतीय परम्परा को भी आज के संदर्भ में प्रासंगिक और सर्जनात्मक बनाना चाहिए । हमें अपनी जड़ें अपनी धरती में जमानी है और याद रखना है कि भारतीय रंगमंच एक काव्यात्मक कला रहा है, जिसका लक्ष्य जीवन का अनुकरण न होकर जीवन की व्याख्या करना था । वर्तमान जीवन में जो अस्थिरता और अवसाद व्याप्त है, उसकी अनुभूति नाटककार के जागृत-युग-बोध का प्रमाण है ।

परिशिष्ट : सहायक पुस्तक - सूची

हिन्दी - पूर्व भारतेन्दु काल के नाटक :

	नाटक	नाटककार	रचना प्रकाशन
1.	रामायण महानाटक	कविवर प्राणचन्द	1610 ई0
2.	हनुमन्नाटक	प्र0 बालभद्र मिश्र	1623 ई0
3.	समयसार नाटक	बनारसीदास	1936 ई0
4.	प्रबोध चन्द्रोदय	कृष्ण मिश्र	1643 ई0
5.	करूणाभरण	लछिराम	1657-59 ई0
6.	शकुन्तला उपाख्यान	कवि नेवाज	1680 ई0
7.	सभासार	रघुराम नागर	1600 ई0
8.	आनन्द रघुनन्दन	विश्वनाथ सिंह	1640 ई0
9.	रामकरुणाकर नाटक	उदय	1840 ई0पूर्व
10.	नहुष	बाबा गोपाल	1841 ई0
11.	परमप्रबोध बिधु नाटक	कुअर रघुराज सिंह	1844 ई से पूर्व

भारतेन्दु कालीन हिन्दी पाठ्य नाटकों की सूची
सामाजिक नाटक

1.	विद्यासुन्दर	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	1868 ई0
2.	वैदिक हिंसा हिंसा न भवति	'	1873 ई0
3.	प्रेमयोगिनी	'	1874 ई0
4.	जैसा काम वैसा परिणाम	पं0 बालकृष्ण भट्ट	1878 ई0
5.	रक्षा-बन्धन	पं0 देवकी नन्दन त्रिपाठी	1878 ई0
6.	एक-एक के तीन	'	1879 ई0
7.	स्त्री - शिक्षा	'	1879 ई0
8.	दुखिनीबाला	बाबूराधाकृष्ण दास	1880 ई0
9.	बाल विधवा संताप नाटक	काशीनाथ खत्री	1881 ई0
10.	गोसंकट नाटक	पं0 अम्बिका दत्त व्यास	1882 ई0
11.	निकृष्ट नौकरी	काशीनाथ खत्री	1883 ई0
12.	नई रोशनी का विष	पं0 बालकृष्ण भट्ट	1884 ई0

12. नई रोशनी का विष	पं0 बालकृष्ण भट्ट	1884 ई0
13. कलि कौतुक रूपक	पं0 प्रताप नारायण मिश्र	1886 ई0
14. बूढ़े मुँह मुहासे	पं0 राधा चरण गोस्वामी	1888 ई0
15. विवाह - विडम्बन	मुंशी तोताराम	1888 ई0
16. चौपट चपेट	पं0 किशोरी लाला गोस्वामी	1891 ई0
17. देश - दशा नाटक	गोपाल राम गहमरी	1892 ई0
18. विद्या विनोद	गोपाल राम गहमरी	1892 ई0
19. सरस्वती नाटक	पं0 दुर्गा प्रसाद मिश्र	18[illegible]7 ई0

पौराणिक नाटक

1.	नहुष नाटक	गिरिधर दास	1857 ई0
2.	धनंजय-विजय	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	1873 ई0
3.	सत्य हरिश्चन्द्र	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	1857 ई0
4.	सती प्रताप	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	1884 ई0
5.	महारास नाटक	लाला संग बहादुर मल्ल	1885 ई0
6.	दमयन्ती स्वयंपर	पं0 बालकृष्ण भट्ट	1889 ई0
7.	सीता - हरण नाटक	पं0 बंदीदीन दीक्षित	1885 ई0
8.	बृहन्नला	पं0 बालकृष्ण भट्ट	1909 ई0
9.	वेणु संहार	पं0 बालकृष्ण भट्ट	1909 ई0

प्रेमाख्यानक नाटक

	नाटक	नाटककार	रचना प्रकाशन
1.	इन्दर सभा	अमानत	1853 ई0
2.	विघा-सुंदर	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	1868 ई0
3.	सज्जाद सुंबुल	पं0 केशवराम भट्ट	1866 ई0
4.	रति कुसुमायुद्ध नाटक	लाला खंड बहादुर मल्ल	1885 ई0
5.	मंयकर मंजरी	पं0 किशोरी लाल गोस्वामी	1891 ई0
6.	विघा-विनोद	गोपाल राम गहमरी	1892 ई0
7.	प्रेम सुंदर	खिलावन लाल	1892 ई 0

ऐतिहासिक नाटक

1.	नीलदेवी	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	1880 ई0
2.	संयोगिता स्वयंवर	लाला श्री निवास दास	1885 ई0
3.	सती चन्द्रवली	पं0 राधा चरण गोस्वामी	1889 ई0
4.	अमर सिंह राठौर	पं0 राधा चरण गोस्वामी	1893 ई0
5.	योवन योगिनी	गोपाल दास गहमरी	1893 ई0
6.	पुरू - विक्रम नाटक	लाला शालिग्राम वैश्य	1905 ई0

राजनीतिक नाटक

1.	विषष्य विषमौषधम्	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	1876 ई0
2.	भारत दुर्दशा	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	1876 ई0
3.	अंधेर नगरी	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	1881 ई0
4.	भारत - आरत	लाला खंग बहादुर मल्ल	1885 ई0
5.	देव पुरूष	पं0 अम्बिका दन्त व्यास	1886 ई0
6.	भारत - सौभाग्य	पं0 बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमधन'	1888 - 89 ई0
7.	देश दशा नाटक	गोपाल राम गहमरी	1892 ई0

प्रसाद युगीन पठित नाटकों की सूची
आधार ग्रन्थ
जयशंकर प्रसाद के नाटक

1.	सज्जन	(सन् 1910 - 11)
2.	प्रायश्चित	(सन् 1912)
3.	कल्याणी परिणय	(सन् 1912)
4.	करूयाणी परिणय	(सन् 1913)
5.	राज्यश्री	(सन् 1921)
6.	विशाख	(सन् 1921)
7.	अजात शत्रु	(सन् 1922)
8.	जनमेजय का नागयज्ञ	(सन् 1923)

9. कामना (सन् 1923 - 24)
10. स्कन्द गुप्त (सन् 1928)
11. चन्द्र गुप्त (सन् 1928)
12. एक घूँट (सन् 1929)
13. ध्रुव स्वामिनी (सन् 1933)

गोविन्द वल्लभ पन्त के नाटक

14. कंजूस की खोपड़ी
15. वरमाला (सन् 1925)
16. राजमुकुट (सन् 1935)
17. अंगूर की बेटी (सन् 1937)
18. अन्तःपुर का छिड (सन् 1940)
19. मयाति (सन् 1942)

जगननाथ प्रसाद मिलिन्द के नाटक

20. प्रताप प्रतिज्ञा सन् 1929
21. समर्पण सन् 1950
22. गौतम नन्द सन् 1952
23. प्रियदर्शी सन् 1962
24. वीर चन्द्र शेखर सन् 1967
25. जय जनतंत्र सन् 1968

बद्रीनाथ भट्ट के नाटक

26. कुरूवन दहन सन् 1914
27. चन्द्रगुप्त सन् 1915
28. तुलसी दास सन् 1915
29. वेन चरित्र सन् 1921
30. दुर्गावती सन् 1926

लक्ष्मीनारायण मिश्र के प्रसाद युगीन नाटक

31. अशोक सन् 1926
32. सन्यासी सन् 1931
33. मुक्ति का रहस्य सन् 1932

उदयशकर भट्ट के नाटक

34. विक्रमादित्य सन् 1933
35. दाहर सन् 1934
36. अंजना सन् 1922

सेठ गोविन्द दास के नाटक

37. हर्ष सन् 1935
38. कर्तव्य (पूर्वार्द्ध) सन् 1935
39. कर्तव्य (उत्तरार्द्ध) सन् 1935

प्रहसन नाटक

प्रसादोत्तर कालीन नाटक

नाटक कार ऐ0	नाटक	प्रकाशन्	प्रकाशन काल
सेठ गोविन्द दास	गरीबी या अमीरी	1946	(सामाजिक)
वृन्दावन लाल वर्मा	बांस की फांस	1940	"
उदय शंकर भट्ट	शक विजय	1948	ऐतिहासिक
उदय शंकर माथुर	कोणार्क	1950	"
लक्ष्मीनारायण मिश्र	वत्सराज	1950	"
हरिकृष्ण प्रेमी	शपथ	1950	"
दशरथ ओझा	सम्राट समुद्र गुप्त	1952	"
लक्ष्मी नारायण मिश्र	पितस्ता की लहरे	1953	'
हरिकृष्ण प्रेमी	कीर्तिस्तम्भ	1855	"
"	भग्न प्राचीन	1955	"
"	शतरंज के खिलाड़ी	1955	"

वृन्दावन लाल वर्मा	झांसी की रानी	1956	"
डा0 राम कुमार वर्मा	विजय पर्व	1956	"
सेठ गोविन्द दास	अशोक	1856	"
लक्ष्मी नारायण मिश्र	दशाश्वमेघ	1956	"
मोहन राकेश	आषाढ़ का एक दिन	1958	"
रामकुमार वर्मा	कला और कृपाण	"	"
जगदीश चन्द्र माथुर	शारदीया	1959	"
हरिकृष्ण प्रेमी	संवत् प्रवर्तन	"	"
"	सांपो की सृष्टि	1959	"
वृन्दावन लाल वर्मा	पूर्व की ओर	1960	"
मोहन राकेश	लहरो की राजहंस	1961	"
हरिकृष्ण प्रेमी	आन का मान	1962	"
रामकुमार वर्मा	नाना फड़न वीस	"	"
जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द	प्रियदर्शी	"	"
"	जयजनतंत्र	1967	"
रामकुमार वर्मा	जौहर की ज्योति	"	"
"	महाराणा प्रताप	"	"
"	सत्य का स्वप्न	"	"
हरिकृष्ण प्रेमी	सीमा - सरक्षण	"	"
रामकुमार वर्मा	सांरग - स्वर	1970	"

नाटक	**नाटककार**	**ई0 सन्**	**विषय सामाजिक**
गरीबी या अमीरी	सेठ गोविन्द दास	1947	"
बांस की फांस	बृंदावन लाल वर्मा	"	"
कैद और उड़ान	उपेन्द्र नाथ अश्क	1950	"
खिलौने की खोज	वृन्दावन लाल वर्मा	"	"
समर्पण	जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द'	1951	"
निस्तार	वृंदावन लाल वर्मा	1953	"
मंगल सूत्र	"	"	"
अलग-अलग रास्ते	उपेन्द्र नाथ 'अश्क'	1954	"
रूपया तुम्हें खा गया	भगवती चरण वर्मा	1955	"

अंजो दीदी	उपेन्द्र नाथ अश्क	1956	"
अंधा कुआ	लक्ष्मी नारायण लाल	1956	'
डाक्टर	विष्णु प्रभाकर	1958	"
ममता	हरिकृष्ण प्रेमी	"	"
ममता	हरिकृष्ण प्रेमी	"	"
मादा कैक्टस	लक्ष्मी नारायण लाल	1958	"
रेत की दीवार	राजेन्द्र कुमार शर्मा	1960	"
भवँर	उपेन्द्र नाथ अश्क	1961	"
नाटक तोता मैना	लख्मी नारायण लाल	1962	"
युग बदल रहा है	सीताराम चतुर्वेदी	"	"
रात रानी	लक्ष्मी नारायण लाल	"	"
बिना दिवारों के घर	मन्जू भण्डारी	1965	"
नई राह	हरिकृष्ण प्रेमी	1968	"
आधे - अधूरे	मोहन राकेश	1969	"
युगे - युगे क्रान्ति	विष्णु प्रभाकर	"	"

---------XXXXX-------XXXXX-------------XXXXX-------

रावण	देवराज दिनेश	1948	पैराणिक
चक्रव्यूह	लक्ष्मीनारायण मिश्र	1953	"
अंधा युग	धर्मवीर भारती	1954	"
देव और मानव	चन्द्रगुप्त विघालंकार	1957	"
सूर्य मुख	लक्ष्मी नारायण लाल	1968	"
कंलकी	लक्ष्मीनारायण लाल	1969	पौराणिक

-------------XXXXXXXX-------------XXXXXXX---------

पगध्वनि	यतुरसेन शास्त्री	1952	राजनीतिक
कांतिकारी	उदयशंकर भट्ट	1953	"
नया समाज	उदय शंकर भट्ट	1955	"
अधी गली	उपेन्द्र नाथ अश्क	1958	"
नये हाथ	विनोद रस्तोगी	1958	"
मृत्युंजय	लक्ष्मीनारायण मिश्र	"	"

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास गणपति चन्द्र गुप्त
लोक भारती प्रकाशन 15ए महात्मा गांधी मार्ग इला0 1.

2. हिन्दी एंकाकी की शिल्प विधि का विकास, डॉ0 सिद्धनाथ कुमार.
ग्रन्थम, रामबाग कानपुर ।

3. हिन्दी नाटक, डॉ0 बच्चन सिंह, साहित्य भवन प्राइवेट
डॉ0 विजय लिमिटेड, इलाहाबाद ।

4. प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य डॉ0 विजय लिमिटेड, इलाहाबाद
मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल.

5. प्रसाद युगीन हिन्दी नाटक, डा0 भगवती प्रसाद शुक्ल,
मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल.

6. भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य, गोपीनाथ तिवारी
हिन्दी भवन जालन्धर और इलाहाबाद ।

7. समसामयिक हिन्दी नाटक में चरित्र सृष्टि, जयदेव तनेजा
सामयिक प्रकाशन 1961.

8. भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच,
डा0 वासुदेव नन्नदन प्रसाद, भारती भवन, पटना - ।

9. स्वच्छन्दता वादी नाटक और मनोविज्ञान, डा0 शिवराम माली,
पुस्तक संस्थान, 109/50 ए नेहरू नगर, कानपुर ।

10. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, डॉ0 दशरथ ओझा
राजपाल एन्ड सेन्ज कश्मीरी गेट, दिल्ली.

11. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास , सोमनाथ गुप्त
हिन्दी भवन, जालंधर और इलाहाबाद 1958.

12. पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य, डॉ0 सोमनाथ गुप्त,
हिन्दीभवन, जालंधर और इलाहाबाद ।

12. तीन एंकाकी वृन्दावन लाल वर्मा, मयूर प्रकाशन, झाँसी प्र0सं0,
13. ध्रुवस्वामिनी - जयशंकर प्रसाद भारती भण्डार, इलाहाबाद, तेइसवाँ संस्करण ।
14. नया समाज - उदयशंकर भट्ट, मसजीवी प्रकाशन, नई दिल्ली।
15. नहुष - गिरिधर दास (सम्पा0ब्रजरत्न दास) नागरी प्रचारिणी सभा काशी 2011 वि0
16. नाट्य कला मीमांसा - सेठ गोविन्ददा सूचना तथा प्रकाशन संचालनालय, म0प्र0 1961 वि0 ।
17. नाट्य समीक्षा - डा0 दशरथ ओझा नेशनल, पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1959 ई0
18. पर्दा उठाओ पदा गिराओ - उपेन्द्र नाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद 1951 ई0 ।
19. पहला राजा - जगदीश चन्द्र माथुर, राधाकृष्ण प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली, 1973 ई0 ।
20. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन - डा0 जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, सरस्वती मन्दिर वाराणसी 2011 वि0
21. प्रायश्चित प्रहसन - रूप नारायण पान्डेय, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ , 1928 ई0 ।
22. भारतेन्दु का नाट्य साहित्य - डा0 वीरेन्द्र कुमार शुक्ल, रामनारायण लाल, कटरा प्रयाग 1958 ई0
23. भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य - डा0 गोपीनाथ तिवारी, हिन्दी भवन. जालन्धर, इलाहाबाद 1959 ई0
24. भारतेन्दु कालीन व्यंग्य परम्परा - ब्रजेन्द्र नाथ पाण्डेय, बम्बई बुक डिपो कलकत्ता 2013 वि0 ।
25. मरदानी औरत - बदरी नाथ भट्ट इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग 1929 ई0 ।
26. महाअन्धेर नगरी - विजयानन्द त्रिपाठी, भारत जीवन प्रेस काशी, 1987 ई0 ।
27. मादा कैक्टस - लक्ष्मी नारायण लाल नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, 1959 ई0 ।
28. मिस अमेरिकन - बदरीनाथ भट्ट, इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, 1929 ई0
29. मूर्ख मण्डली - रूप नारायण पान्डेय, गंगा पुस्तक माला कार्यालय लखनऊ 1922 ई0
30. रस मीमांसा - रस चन्द्र शुक्ल, नागिरी प्रचारिकी सभा काशी, तृ0 रा0 2016 वि0
31. रस सिद्धान्त - डा0 नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली. 1964 ई0 ।

32. रक्षा बन्धन - हरिकृष्ण प्रेमी, हिन्दी भवन, जालन्धर प्रयाग.
बाइसवा संस्करण ।

33. रिमझिम - डा0 रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन, प्रा0 लि0
इलाहाबाद, च0स0 1946 ई0 ।

34. रेशमी टाई - डॉ0 रामकुमार वर्मा, भारती भंडार, इलाहाबाद
प्रं0 सं0 1998 वि0 ।

35. लबड़ औघौ - बदरी नारायण भट्ट, गंगा ग्रथगार, लखनऊ ।
1991 वि0 ।

36. विशाख - जयशंकर प्रसाद, हिन्दी ग्रन्थागार, भण्डार, बनारस
प्र0 सं0 1978 वि0 ।

37. विषयान - हरिकृष्ण प्रेमी, आत्माराय एन्ड सन्स दिल्ली, 1971 ई0 ।

38. शकुन्तला नाटक - राजा लक्ष्मण सिंह, रत्नाश्रम आगरा ।

39. स्कन्द्रगुप्त - जयशंकर प्र0 भारतीय भण्डार इला0 1995 वि0 ।

40. स्वर्ग की झलक - उपेन्द्र नाथ अश्क, मोतीलाल बनारसी दास लाहौर,
1939 ई0 ।

41. साहब बहादुर जी0पी0 श्रीवास्तव, हिन्दी पुस्तक ऐजन्सी कलकत्ता
प्र0 सं0 1938 ई0 ।

42. हजामत - ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' छात्र हितकारी पुस्तक माला
दारागंज, प्रयाग ।

43. हिन्दी एकांकी की शिल्प विधि का विकास - डॉ0 सिद्ध नाथ कुमार
ग्रन्थमहल रामबाग कानपुर, 1966 ई0 ।

44. हिन्दी नाटककार - जयनाथ'नलिन' - आत्माराम एन्ड सन्स दिल्ली
1961 ई0 ।

45. हिन्दी नाटक उदभव और विकास - डॉ0 दशरथ ओझा राजपाल
एन्ड. सन्स दिल्ली 2013 वि0 ।

46. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, - डॉ0 सोमनाथ गुप्त, हिन्दी
भवन इलाहाबाद प्र0 स0 1955 ई0 ।

47. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा
काशी 2055 वि0 ।

48. हिन्दी नाट्य साहित्य में हास्य व्यंग्य डा0 सभापति मिश्र
साहित्य रत्नालय, कानपुर, स0 1978 ई0 ।